शब्द-शक्ति

Sabda śakti

शब्द-शक्ति

(आचार्य मम्मट के काव्य-प्रकाश पर आधारित)

लेखक
डा० पुरुषोत्तम दास अग्रवाल
हिन्दी व्याख्याता
पी० जी०, डी० ए० वी कॉलेज
पहाड़गंज, नई दिल्ली

भूमिका
डा० आनन्दप्रकाश दीक्षित
प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग
पूना विश्वविद्यालय, पूना–७

रोशनलाल जैन एण्ड संस
बोरड़ी का रास्ता, जयपुर–३

प्रकाशक :
सुशील बोहरा
बोहरा प्रकाशन
बोरड़ी का रास्ता,
जयपुर-३

आवरणकार
श्री प्रेमचन्द गोस्वामी

प्रथम संस्करण १९७०

मूल्य १३.०० रुपये

मुद्रक :
मुन्शीलाल गुप्त
स्वदेश प्रिंटर्स,
तेलीपाड़ा, जयपुर-३

विषय सूची

भूमिका

शब्द-शक्ति का ज्ञान जैसा काव्यार्थ बोध के लिए आवश्यक है वैसा ही काव्यास्वाद के लिये भी है। शब्दार्थ-बोध के बिना वाणी के रहस्य का उद्घाटन नहीं होता, कथयिता के उद्देश्य की पकड़ और तदनुकूल पाठक की मनोगति संभव नहीं होती। किन्तु निरन्तर नवीन पथों पर सञ्चरित होती हुई कवि-भारती के स्वतन्त्र व्यापार को किसी जड़ शब्दज्ञान क्रिया से नहीं समझा जा सकता, किसी निश्चित अर्थ की उपासना से यह प्रयत्न अर्थवान नहीं होता। ऊपर से सरल और नितान्त ऋजु दिखाई देने वाले शब्द अथवा प्रत्यक्षतः विसंगत जान पड़ने वाले कथन जिस भणिति-भंगी के कारण अपने अर्थ में वैचित्र्य के उपस्थिति कारक बम जाते हैं, उसका समझना अगम्य भले ही न हो सहज साध्य अवश्य ही नहीं है। दैनन्दिन व्यवहार में भी कथन भङ्गिमा का यह वैचित्र्य निरन्तर बना रहता है, परन्तु वहाँ अतिपरिचयात् अवज्ञा की संभावना ही अधिक रहती है। काव्यादि की भूमि पर वही भङ्गिमा एक नये वातावरण का सृजन करने में केवल सफल ही नहीं होती, निगूढ़ता का बाना भी धारण कर लेती है, अर्थ के अनेक द्वार खुल पड़ते हैं, जिनमें जितना ही गहरे पैठा जाय उतना ही सघन आनन्द भी आता है। शब्द की संसर्ग एवं संगतिजन्य इन अर्थच्छवियों को पकड़पाना सभी पाठकों के वश की बात नहीं; उसके लिए अभ्यस्त, विशेषतः शिक्षित और हृदय-संवेदन-क्षम कुशल पाठक की आवश्यकता होती है। अर्थ-सञ्चार की इन दिशाओं का परिचय भावुक को सहजलब्ध होता है और भावक को इसके लिए अभ्यास और शिक्षा की शरण लेनी पड़ती है। शास्त्र इसी भावक को सहारा देता है, इसी के लिए शब्दार्थ का ज्ञान कराते हुए शास्त्र में शब्दशक्ति का विवेचन किया जाता है। रसोद्गार हो या अलंकरण सरलोक्ति हो या वक्रोक्ति सर्वत्र शब्दशक्ति ही मूलस्थित दिखाई देती है। अतः काव्यादि की सूझबूझ के लिए इसका ज्ञान अपरिहार्य है। यही जानकर ध्वनिकार ने इसका सहारा लिया है और शास्त्रकारों के लिए भी यह अनिवार्य विवेच्य विषय सिद्ध हुआ है।

काव्यशास्त्र के लेखकों में सृजनकर्त्ता के रूप में भले ही न हो, विवेच्य विषयों को सारग्राहिणी प्रतिभा के बल पर नितान्त संयोजित और सुसंश्लिष्ट पद्धति से उपस्थित करने वाले मार्मिक शास्त्रकर्त्ता के रूप में आचार्य मम्मट का महत्व सदैव अक्षुण्ण रहा है। सारगर्भ और बहुमुखी प्रतिभापूर्ण लेखक के कारण ही आचार्य मम्मट ने अपने इस ग्रंथ में सूत्रों का सहारा ही नहीं लिया है, अपितु सारे विवेचन को सूत्रबद्ध भी रखा है। जिस प्रकार उन्होंने अपने पूर्ववर्ती भरत, भामह, वामन, रुद्रट, दण्डी, आनन्दवर्द्धन आदि के चिन्तन से प्रेरणा ग्रहण की है उसी प्रकार ध्वनि एवं व्यंजना-विरोधी कुमारिल भट्ट, प्रभाकर भट्ट, धनञ्जय, धनिक, महिम भट्ट, मुकुल भट्ट, तथा भट्ट लोल्लट आदि के विचारों का खण्डन भी किया है। आचार्य मम्मट की प्रतिभा जहाँ सूत्र–लेखन में उन्हें भरत के समीप बैठाती है वहाँ कुन्तक, क्षेमेन्द्र एवं भोज आदि का मूल्यांकन करने में सक्षम भी प्रमाणित करती है। वस्तुतः शास्त्र-विवेचन में उनकी दक्षता ने, विशेषतः ध्वनि–सिद्धांत के उनके गम्भीर विवेचन ने ही उन्हें "ध्वनि प्रस्थापक परमाचार्य" का सम्मान दिलाया है। साथ ही, मम्मट की एक भारी विशेषता है उनकी विस्तृत अध्ययन-क्षमता, जिसकी सराहना होनी चाहिए। विस्तृत–अध्ययन के कारण ही उन्होंने दर्शनों की विभिन्न शाखाओं तथा व्याकरण का ज्ञान प्रदर्शित किया है। साथ ही उन्होंने अपने पूर्ववर्ती काव्य के सम्बन्ध में भी उनसे लिये गये विपुल उद्धरणों के माध्यम से उन पर अपना अधिकार भी प्रदर्शित किया है। मम्मट के इन्हीं सद्गुणों के कारण 'काव्य-प्रकाश' की संस्कृत, हिन्दी तथा अंग्रेजी में लगभग साठ टीकायें प्रस्तुत हो चुकी हैं। संस्कृत की टीकाओं की विपुल संख्या 'काव्य-प्रकाश' के गम्भीर विवेचन की साक्षी हैं, बालबोधिनी मात्र नहीं हैं। मम्मट की प्रतिभा का प्रकाश उनकी वृत्ति में और भी अधिक झलक आया है। काव्य के स्वरूप को प्रकाशित करने में उनके सूत्र और वृत्ति दोनों ही महत्वपूर्ण योग देते हैं। शब्दशक्ति का उनका विवेचन भी उतना ही संतुलित और सारग्राही है।

प्रसन्नता का विषय है कि डॉ॰ पुरुषोत्तमदास अग्रवाल ने मम्मट के इस विवेचन को पुनर्विचार और विशदीकरण का विषय बनाया है। डॉ॰ अग्रवाल ने सरल भाषा में विषय का प्रतिपादन करते हुए पक्ष–विपक्ष के विचारों को बोधपूर्वक पाठक के सामने रखा है, मात्र मम्मट का अनुवाद नहीं किया। उन्होंने विषय की गम्भीरता को देखते हुए उसे दुर्बोधता से बचाने के आशय से ही उस पर दर्शन के अत्यधिक अतिक्रमण से उसे बचाये रखा है।

पूर्वपीठिका में लेखक ने आचार्य मम्मट का समय, शास्त्रकर्त्ताओं में उनका कर्त्तव्य और काव्यप्रकाश की टीकाओं के अतिरिक्त मूल विषय शब्दशक्ति का भी सारतः परिचय दिया है। आगे के अध्यायों में डॉ० अग्रवाल ने शब्दशक्ति के विवेचन के अतिरिक्त काव्य के स्वरूप और भेदों पर भी विचार किया है। वस्तुतः उनका विवेचन सर्वथा सुसंबद्ध और संदर्भगत है। मूलतः संस्कृत पाठ और विभिन्न शास्त्र ग्रंथों पर आश्रित रहते हुए भी उन्होंने अपने विचारों के प्रकाशन में संकोच नहीं किया है, और यही उनके विवेक का परिचायक भी है। महिम भट्ट के ध्वनिखण्डन और उसके प्रतिवाद का विवेचन सर्वथा एक अलग अध्याय में बड़ी स्पष्टता के साथ किया गया है जिससे ध्वनिविरोधी पक्ष के तर्कों को समझने में और भी सहायता मिलती है और ध्वनिविवेचन की गम्भीरता भी प्रकट होती है। डॉ० अग्रवाल की दृष्टि मूलतः विषय पर रही है, अतएव उनके लिये संस्कृत की विचार-सरणि ही नहीं संस्कृत काव्यादि के शास्त्रकथित उदाहरणों का विवेचन ही महत्वपूर्ण रहा है। हिन्दी काव्य से उदाहरण देने की बात उनके मन में न उठी हो, ऐसा नहीं है किन्तु लक्षणोदाहरण देने वाले कुछ हिन्दी-ग्रन्थों की वर्त्तमानता देखते हुए उन्हें उसी रीति का अनुगमन करना उचित प्रतीत नहीं हुआ, विशेषतः तब और भी जबकि वे केवल लक्षणोदाहरण देने की परम्परा का पालन न करके सर्वथा गम्भीर विवेचन को अपना लक्ष्य बना चुके थे।

मुझे विश्वास है उनका यह विवेचन माध्यमिकों के लिए विशेषतः लाभकर सिद्ध होगा। डॉ० अग्रवाल के शास्त्र-विवेक के इस सहज परिणाम को समादर मिलेगा, ऐसी आशा है।

पूना विश्वविद्यालय
पूना—७ (महाराष्ट्र)
दिनाङ्क १३—२—७०

डॉ० आनन्दप्रकाश दीक्षित
प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, हिन्दी—विभाग
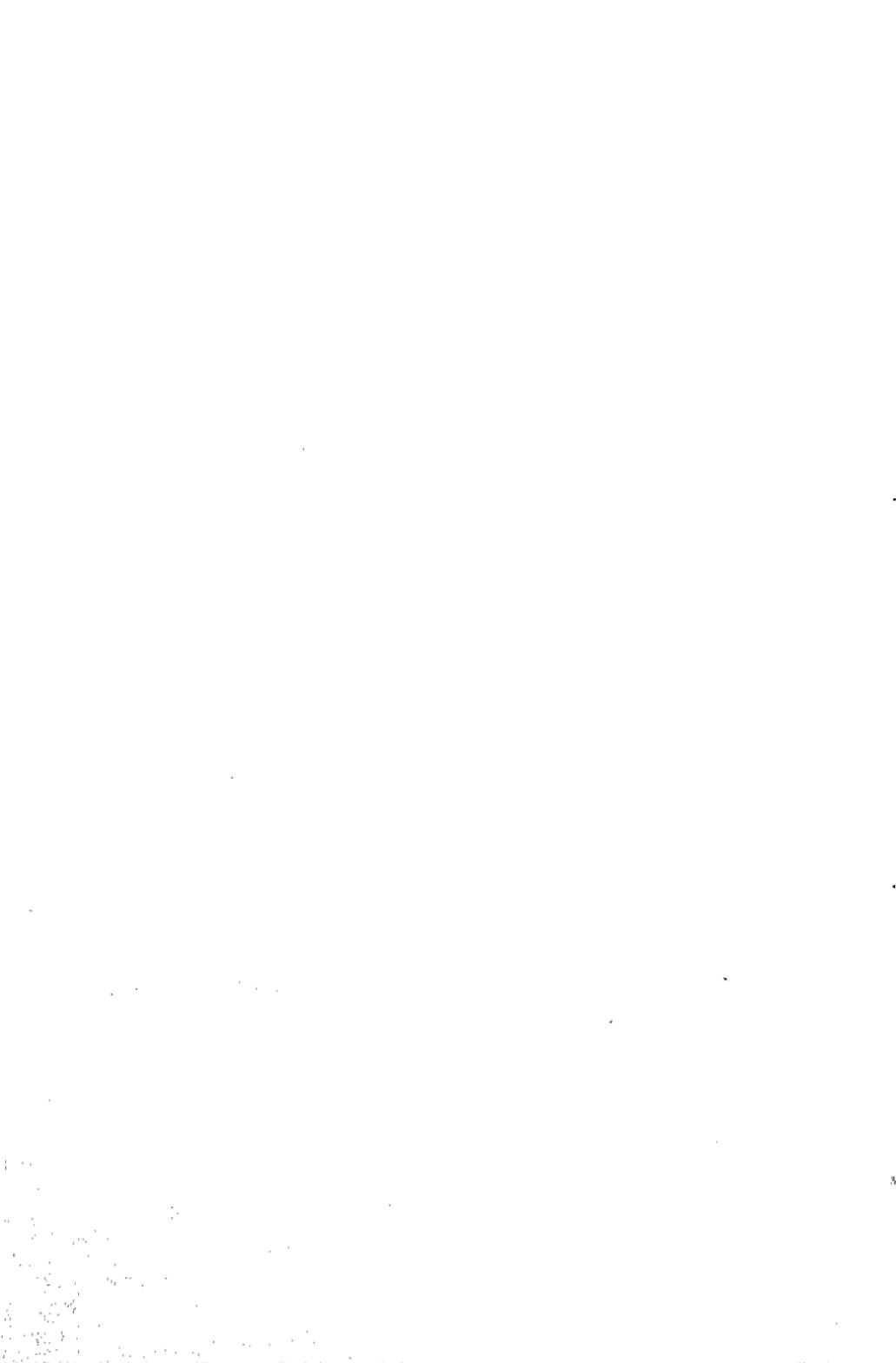
निवेदन

संस्कृत की एम० ए० परीक्षा में सम्मिलित होते समय आचार्य मम्मट के 'काव्य-प्रकाश' का अध्ययन करने का अवसर मिला था। आचार्य की दार्शनिकता और चिन्तन की गहनता का मेरे मस्तिष्क पर विशेष प्रभाव पड़ा, परन्तु ग्रन्थ की दुरूहता एवं समास शैली ने मुझे जहाँ-तहाँ रुक कर विचार करने को बाध्य कर दिया था। उस समय मैं इन गुत्थियों को सुलझाने में समर्थ नहीं हो सका था, परन्तु मन में जिज्ञासा बनी रही और मैं सतत रूप से काव्य-प्रकाश एवं तत्सम्बन्धी ग्रन्थों के अध्ययन में तत्पर रहा हूँ। अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए सरलतया प्राप्त सभी ग्रन्थों एवं टीकाओं का मैंने अध्ययन किया। इन टीकाओं में काव्य-प्रकाश के साथ ही अन्य ग्रन्थों की टीकाएँ भी देखने को प्राप्त हुईं। बाल-बोधिनी टीका (वामनाचार्य झलकीकर); राजस्थान प्राच्य-विद्या संस्थान से प्रकाशित मुनि जिन-विजय की टीका; सम्प्रदाय प्रकाशिनी टीका, संकेत टीका (माणिक्य चन्द्र), प्रदीप टीका (नागोजी), ध्वन्यालोक लोचन (अभिनवगुप्त), काव्यादर्श संकेत टीका (सोमेश्वर), अवलोक टीका (धनिक) तथा हिन्दी टीकाओं में हरिमंगल मिश्र, डा० सत्यव्रत सिंह, डा० हरिदत्त और आचार्य विश्वेश्वर की टीकाओं का नाम लिया जा सकता है।

काव्य-सम्बन्धी मौलिक चिन्तकों के प्रकृत-ग्रन्थों के दर्शन एवं मनन का भी अवसर मिला। इन ग्रन्थों में नाट्य-शास्त्र (भरत), काव्यालंकार (रुद्रट), ध्वन्यालोक (आनन्दवर्धन), काव्य-प्रकाश (मम्मट), दश-रूपक (धनञ्जय) अभिधावृत्तिमातृका (मुकुल भट्ट), साहित्य-दर्पण (विश्वनाथ), रस-गंगाधर (आचार्य जगन्नाथ) आदि विभिन्न ग्रन्थों की गणना हो सकती है। इन सभी ग्रन्थों से पंक्तियाँ उद्धृत करके प्रस्तुत विषय का समर्थन किया गया है। महामुनि पाणिनी के सूत्रों, पतञ्जलि के महाभाष्य और भट्टोजि दीक्षित के विचारों का भी लाभ उठाया गया है। उनके आधार पर विषय का स्पष्टीकरण और भी समुचित ढंग से करने का प्रयास किया गया है। भारतीय दर्शन का अध्ययन भी कहीं-कहीं उपयोगी सिद्ध हुआ है और प्रस्तुत काव्य से सम्बद्ध दर्शन के अंगों का विशेष रूप से मनन किया गया है। नैयायिक, नव्य-नैयायिक, मीमांसक, वेदान्ती, बौद्ध और व्याकरण-दर्शन के योग से विषय कुछ और सरल हो

गया है। इन दर्शन सम्बन्धी ग्रन्थों में तर्क बिन्दु, सिद्धांत-मुक्तावली, बृहती (प्रभाकर), न्यायरत्नमाला (पार्थ सारथि मिश्र), तर्क भाषा (ईश्वर कृष्ण), मीमांसा-परिभाषा (कृष्ण यज्वन्), न्याय सूत्र (गौतम), जैमिनीय सूत्र-भाष्य (शबर स्वामी), तंत्र-वार्तिक (कुमारिल भट्ट), न्याय दर्शन-भाष्य (वात्स्यायन) आदि ग्रन्थों की विशेष पंक्तियों की सहायता ली गई है। व्यञ्जना विरोधी मीमांसकों के खण्डन प्रसंग में इसी कारण कुछ विस्तार भी होगया है। महिम भट्ट की अनुमान प्रक्रिया के स्पष्टीकरण के लिए न्याय-दर्शन की सहायता ली गई है। विभिन्न ग्रन्थों की उद्‌धृत की गई पंक्तियाँ मौलिक ग्रन्थों के अध्ययन के साथ ही अन्य ग्रन्थों में दिए गए उद्धरणों से भी ली गई हैं। इस प्रकार इस ग्रन्थ के विचारों में अन्य विद्वानों के उद्‌धृत प्रसंगों एवं तत्सम्बन्धी परिश्रम का भी कहीं-कहीं उपयोग हो सका है।

इस ग्रन्थ के प्रणयन में 'काव्य-प्रकाश' को आधार ग्रन्थ माना है। इसी के विचारों के चतुर्दिक अपने चिन्तन का क्षेत्र सीमित रहा है। प्रस्तुत ग्रन्थ में 'काव्य-प्रकाश' के उन्हीं अंशों को ग्रहण किया गया हैं, जिनका सम्बन्ध 'शब्द-शक्ति' मात्र से रहा है। अतः सम्पूर्ण काव्य-प्रकाश के विचारों के अध्येताओं के लिए यह ग्रन्थ उपादेय सिद्ध नहीं हो सकेगा, परन्तु 'शब्द-शक्ति' के जिज्ञासुओं की तृप्ति में यदि यह ग्रन्थ सहायक हो सका तो मैं अपने को कृत-कृत्य मानूँगा।

इतना और कहना अप्रासंगिक न होगा कि इस ग्रन्थ की भूमिका में 'काव्य-प्रकाश' एवं आचार्य मम्मट सम्बन्धी कुछ विचार व्यक्त किए गए हैं। हो सकता है कि कुछ विद्वानों एवं आलोचकों को यह प्रस्तुत विषय के अनुरूप न प्रतीत हो, परन्तु इस सम्बन्ध में मेरा नम्र निवेदन है कि इसके द्वारा आचार्य मम्मट के प्रति मेरी आदर-जन्य भावना की तृप्ति हो सकी है। वस्तुतः इस ग्रन्थ का प्रणयन विद्वानों की संगति का ही फल है। अतः पाठक इसे अपना ही समझ कर अपनायें तथा अपनी ही भावनाओं एवं विचारों की उपयोगिता का निर्णय सुधीजन स्वयं करें।

अन्त में श्रद्धेय डा० आनन्दप्रकाशजी दीक्षित का मैं विशेष आभारी हूँ जिन्होंने अत्यन्त व्यस्त होते हुए भी इस ग्रन्थ की विस्तृत भूमिका लिखने का कष्ट किया है।

पुरुषोतम दास अग्रवाल

नई दिल्ली
१५-२-१९७०.

पूर्व—पीठिका

आचार्य मम्मट समय

समय—वाग्देवतावतार आचार्य मम्मट की 'राजानक' उपाधि इस बात को स्पष्ट करती है कि वे एक काश्मीरी आचार्य थे। 'सुधा सागर' के टीकाकार भीमसेन दीक्षित का आधार ग्रहण करते हुये पीटर्सन महोदय ने बताया है कि आचार्य मम्मट 'कय्यट' के छोटे भाई एवं 'उव्वट' के बड़े भाई तथा 'जय्यट' के पुत्र थे। 'कय्यट' महाभाष्य की प्रसिद्ध टीका 'प्रदीप' के टीकाकार थे, 'उव्वट' ने प्रातिसांख्यों पर टीका लिखी थी भोलाशंकर व्यास के अनुसार उव्वट मम्मट के बड़े भाई नहीं हो सकते क्योंकि उव्वट ने अपने पिता का नाम वज्रट लिखा है, जय्यट नहीं।"[1] मि० हॉंव और बेबर ने मम्मट को 'नैषधीय चरित्र' के कर्ता श्री हर्ष का मामा बताया है। यदि इस प्रचलित किम्बदन्ती की सत्यता में विश्वास कर लिया जाय तो मम्मट के समय निर्धारण में सरलता हो जायगी।

(i) महाकवि श्री हर्ष के आश्रयदाता जयचन्द्र थे। इतिहासकारों ने जयचन्द्र का समय बारहवीं शताब्दी निश्चित किया है। अतः श्री हर्ष का भी समय यही होगा और मम्मट से इनका सम्बन्ध होने के कारण मम्मट भी इसी शताब्दी के आचार्य रहे होंगे।

(ii) हेमचन्द्र ने 'काव्य प्रकाश' के बहुत से उद्धरण अपने ग्रन्थ में दिये हैं, आचार्य हेमचन्द्र का समय १०८० के आस पास माना गया है।

(iii) मम्मट ने 'भोज'[2] का वर्णन किया है और भोज का समय भी १०५५ के आस पास है। अतः इन ऐतिहासिक आधारों पर यह सिद्ध हो रहा है कि मम्मट और श्री हर्ष समकालीन नहीं हो सकते, क्योंकि दोनों के समय में इस हिसाब से काफी अन्तर प्रतीत होता है। मम्मट की स्थिति श्री हर्ष से पूर्व और लगलग १०२५–१०७५ के बीच में जान पड़ती है।

(iv) 'काव्य प्रकाश' के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य मम्मट रुद्रट, अभिनवगुप्त और महिमभट्ट आदि आचार्यों से परिचित थे

---

१. ध्वनि सम्प्रदाय और उसके बाद पृष्ठ ४८०

२. "…………भोजनृपतेस्तत्याग लीलापितम्"

अथवा उनके सिद्धान्तों का ज्ञान रखते थे, क्योंकि रुद्रट के अलंकारों का स्पष्ट प्रभाव उन पर पड़ा है। पंचम उल्लास में जिस अनुमानवादी मत का खण्डन करके आचार्य ने व्यञ्जना की स्थापना की है, वह मत सम्भवतः महिम भट्ट का ही है और इनका समय ग्यारहीं शती का उत्तरार्द्ध माना गया है। अतः मम्मट और महिमभट्ट की समसामयिकता मानी जा सकती है।

(v) 'काव्य प्रकाश' की टीकाओं की जो अबाध परम्परा चल पड़ी थी, उन टीकाओं में प्राचीनतम उपलब्ध टीका माणिक्य चन्द्र ने सन् ११५८ ई० में लिखी थी इस टीका से व्यक्त होता है कि मम्मट के ज्ञान का प्रभाव तत्कालीन विद्वानों के मस्तिष्क पर पड़ चुका था और उनके 'काव्य प्रकाश' की इतनी ख्याति हो चुकी थी कि विद्वान् लोग उस पर टीका लिखना गौरव समझने लगे थे। इस प्रथम टीका से प्रकट है कि मम्मट निस्सन्देह सन् ११६० (१२१६ सं) के पूर्व रहे होंगे और इस टीका लिखने के काल तक उनकी पूर्ण प्रसिद्धि हो चुकी थी।

(vi) 'अलंकार-सर्वस्व' के रचयिता ने भी इन्हीं दिनों एक अन्य टीका 'काव्य प्रकाश' पर लिखी थी। इस टीका के टीका कार रुय्यट का समय बाहरवीं शती बताई गई है अतः मम्मट का समय निश्चित रूप से इसके पूर्व ही होना चाहिए।

इस प्रकार यह व्यक्त हो गया कि दार्शनिकों एवं विद्वानों के बीच इस 'काव्य प्रकाश' ग्रन्थ की मान्यता ११ वीं शती तक हो गयी थी और गुर्जर देश वासी माणिक्य चन्द्र की संकेत टीका से (११५८ ई०) यह प्रकट होता है कि काश्मीर से लेकर दक्षिण भारत तक मम्मट के इस ग्रन्थ का पूर्ण प्रचार १२वीं शती तक हो चुका था। इस प्रकार इस ग्रन्थ की रचना के एक शती के भीतर ही इसका प्रसार एवं प्रचार अपनी पूर्णता तक पहुँच चुका था। इससे इस ग्रन्थ की महत्ता का पूर्णरूप से ज्ञान हो जाता है। और इसी आधार पर मम्मट के समय का निर्धारण भी सरलतया हो सकता है यदि बारहवीं शताब्दी तक इस पर टीकाएँ लिखी जाने लगी थी तो इसका तात्पर्य यही है कि इस समय तक आचार्य मम्मट की पूर्ण ख्याति हो चुकी थी ओर इस ख्याति में कुछ न कुछ वर्षों की अवधि अवश्य लगी होगी। अतः इसके पहले ही मम्मट का समय अर्थात् ग्यारहवीं शताब्दी के अन्त तक मानना ही समीचीन होगा।

व्यक्तित्व—आचार्य मम्मट के काव्य प्रकाश' के अध्ययन से ऐसा सिद्ध होता है कि वे एक महान् दार्शनिक थे। उनका व्यक्तित्व पूर्ण रूप से इस ग्रन्थ से व्यक्त हो जाता है। उन्होंने स्वयं अपने सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा

है परन्तु उनके सम्बन्ध में उनके टीकाकारों में बहुत सी किम्बदन्तियाँ प्रचलित हैं। इन किम्बदन्तियों कि प्रामाणेकता के सम्बन्ध में मतभेद है। परन्तु इतना तो बिना किसी संशय के कहा जा सकता है कि मम्मट काश्मीरी थे और काश्मीरी दर्शन के बीच रहकर उनके साहित्यिक व्यक्तित्व का विकास भी हुआ था। इस बात की पुष्टि उनके इस ग्रन्थ से हो जाती है। इन पर शैवदर्शन का पूर्णरूप से प्रभाव है इसके प्रत्यभिज्ञा–दर्शन के आधार पर ही उनके 'रस दर्शन' की स्थापना हुई है। इसे मम्मट और काश्मीरी 'प्रत्यभिज्ञा दर्शन' के सम्बन्ध का ज्ञान हो जाता है।

आचार्य मम्मट का सम्बन्ध भीमसेन दीक्षित ने (१६ वीं शती) काशी से भी स्थापित किया। इतना तो निश्चित है कि सभी काश्मीरी विद्वान् काशी आया करते थे, परन्तु इसी आधार पर उन्हें वहाँ का वासी तो किसी भी दशा में स्वीकार नही किया जा सकता है। हाँ, इतना अवश्य है कि वे काशी आते रहे होंगे तथा वहीं रहकर अध्ययन किया होगा।

ग्रन्थ—आचार्य मम्मट की दो रचनाएँ उपलब्ध हैं। इनमें प्रथम 'काव्य-प्रकाश' और 'द्वितीय-शब्द–व्यापार-विचार' है, इन दोनों में दूसरा ग्रन्थ 'काव्य-प्रकाश' के द्वितीय उल्लास का ही और अधिक स्पष्टीकरण है। इनका प्रथम ग्रन्थ 'काव्य प्रकाश' ध्वनि सम्प्रदाय का एक अत्यधिक प्रामाणिक एवं 'प्रस्थान ग्रन्थ' माना जाता है। इस ग्रन्थ में ध्वनि विरोधी सभी मतों का खण्डन करते हुये काव्य-सम्बन्धी अन्य सम्प्रदायों को ध्वनि अंग रूप में सिद्ध किया गया है और ध्वनि के अङ्गीत्व की स्थापना गई है। इम प्रकार इस ग्रन्थ में प्रचलित काव्य सम्बन्धी सभी धारणाओं का समन्वय स्थापित किया गया है।

काव्य प्रकाश में कुल १४२ कारिकायें और ६०३ उद्धरण हैं। इन कारिकाओं को दश उल्लासों में विभाजित किया गया है। प्रथम उल्लास में मंगलाचरण में शैव दर्शन अन्तर्हित है। काव्य प्रयोजन काव्य हेतु–काव्य लक्षण और काव्य प्रकार का प्रतिपादन किया गया है। काव्य के उत्तम मध्यम और अवर भेद करने वाले ये प्रथम आचार्य थे। इनके पूर्व 'काव्य' संज्ञा प्राप्त करने के लिये अलंकारों की उपस्थिति अनिवार्य थी अर्थात् अलंकार युक्त रचना को ही काव्य कहा जाता है। मम्मट ने ध्वनि और अलकारों का समन्वय स्थापित किया है, जबकि ध्वनिकार ने केवल ध्वनि का ही विश्लेषण किया है।

द्वितीय उल्लास में शब्द और अर्थ का विश्लेषण उपस्थित किया गया है, तीन प्रकार के अर्थ (वाच्य, लक्ष्य, व्यंग्य); तीन प्रकार के शब्द, वाचक, लक्षक,

व्यंजक) तीन की शब्द शक्तियों (अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना) का निरूपण किया गया है। मीमांसकों के अभिहितान्वय वाद (कुमारिल भट्ट) और अभिताभिधानवाद (प्रभाकर भट्ट) के निरूपण के साथ ही तात्पर्यार्थ और तात्पर्या शक्ति का भी संकेत किया गया है। पुनः अभिधा, लक्षणा आदि के भेदों पर प्रकाश डालते हुए लक्षणामूला व्यञ्जना का भी निरूपण किया गया है तथा शाब्दी व्यञ्जना में अर्थ के सहकारित्व का समर्थन किया गया है।

तृतीय उल्लास में अर्थ व्यञ्जना और उसके नौ भेदों की चर्चा की गई है।

चतुर्थ उल्लास में लक्षणामूला ध्वनि के भेद, काव्य के भेद, ध्वनि स्वरूप और भेदों का विवेचन मिलता है। इसमें रसादि ध्वनि का विस्तार से वर्णन किया गया है। इसके अन्तर्गत रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावोदय, भावसन्धि, भाव सबलता, और भाव शान्त्यादि का विवेचन किया गया है।

पंचम उल्लास में गुणीभूत व्यंग्य काव्य के भेदों का वर्णन और ध्वनि तथा व्यञ्जना निर्भ्रान्त शब्दों में प्रतिपादन किया गया है। इसी स्थान पर ध्वनि विरोधी सभी तर्कों का खण्डन अकाट्य तर्कों द्वारा किया गया है।

षष्ठ उल्लास में अधम काव्य के स्वरूप का स्पष्टीकरण किया गया है।

सप्तम में दोषों का निर्देश है। यहीं पर आचार्य वामन् द्वारा बताये गये दश गुणों का अन्तर्भाव मम्मट ने केवल अपने तीन गुणों में ही कर दिया है।

नवम् उल्लास में शब्दालंकारों तथा दशम् और अन्तिम उल्लास में अर्थालंकारों का विस्तार से विवेचन किया गया है। मूलरूप में अपने इन वर्ण्य एवं प्रतिपाद्य विषयों के साथ मम्मट ने अपने विरोधी विचारवालों का खण्डन भी किया है।

काव्य-प्रकाश का कर्तृत्व

काव्य प्रकाश के कर्तृत्व के सम्बन्ध में विद्वानों में बड़ा मतभेद है। आज तक निश्चयात्मक रूप में यह नहीं बताया गया है कि काव्य-प्रकाश एक ही कर्त्ता की कृति है अथवा अनेक कर्त्ताओं का इसमें योगदान है। भिन्न-भिन्न विद्वानों ने इस सम्बन्ध में विभिन्न मत दिया है। इन सभी पर विचार करने से यह फल निकलता है कि:—

(i) 'काव्य-प्रकाश' के वृत्तिकार और कारिकाकार भिन्न-भिन्न हैं अर्थात् कारिकाएँ भरत मुनि की और वृत्तियाँ मम्मट की हैं।

(ii) इसकी रचना दो विद्वानों-मम्मट और अल्लटसूरि ने मिलकर की है।

(iii) तीन व्यक्तियों की रचना है; इनमें अल्लक, मम्मट और रुय्यक का नाम बताया गया है।

इन सभी बातों पर क्रमशः विचार किया जायगा।

(क) **प्रथम मत**—कारिका और वृत्ति भाग के भिन्न कर्तृत्व की भावना सर्वप्रथम बंग देश में उत्पन्न हुई थी। साहित्यकौमुदीकार विद्याभूषण तथा काव्य प्रकाश की 'आदर्श' टीका के रचयिता महेश्वर ने कारिका और वृत्तिकार की भिन्नता का प्रतिपादन किया है। इन दोनों विद्वानों के अनुसार मूलकारिका लेखक भरत मुनि थे। विद्याभूषण ने तो स्पष्ट शब्दों में कारिका कर्तृत्व के रूप में भरत मुनि का ही नाम लिया है।[1] इसी प्रकार टीकाकार महेश्वर ने भी भरत मुनि का ही समर्थन किया है, अर्थात् इन्होंने भी सूत्रों का निर्माता भरत मुनि को और कारिक.-निर्माता मम्मट को माना है और कई तर्क दिये हैं। इसमें भी यही सिद्ध होता है कि कारिकाएँ मम्मट की न होकर भरत मुनि की ही होंगी, क्योंकि बहुत सी कारिकाओं में भरत के नाट्यशास्त्र की कारिकाओं से समानता है।

समाधान—इस युक्ति में भी सबलता का अभाव ही है तथा इसकी निस्सारता स्पष्ट रूप से प्रकट हो जाती है। इसमें केवल 'परामृशति' पद का प्रयोग देखकर ही कारिका एवं वृत्तिकार की भिन्नता का प्रतिपादन किया गया है। परन्तु भेदवादियों की इस युक्ति से उनकी अज्ञानता ही अधिक स्पष्ट हो रही है। क्योंकि कोई भी ग्रंथकार जब अपनी ही कारिकाओं की व्याख्या स्वयं करने लगता है, तो वह उतने समय के लिये अपने को एक भिन्न व्यक्ति मान लेता है। संस्कृत साहित्य में इस प्रकार भिन्न व्यक्ति मानकर अन्य अथवा प्रथम पुरुष के प्रयोग की प्रणाली परम्परागत रही है, तथा इस प्रणाली का

---

१. (i) मम्मटद्युक्तिमाश्रित्य मितां साहित्य-कौमुदीम्।
वृत्तिं भरतसूत्राणां श्री विद्याभूषणो व्यधात्॥
(साहित्य-कौमुदी)

(ii) सूत्राणां भरतमुनीशवर्णितानां वृत्तीनां मितवपुषाकृतौ ममास्याम्। (साहित्य कौमुदी)

विशेष समादर भी रहा है। विश्वनाथ[२] नागेश[3] आदि सभी विद्वानों ने इस शैली का आधार ग्रहण किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि संस्कृत साहित्य में विद्वानों के बीच यह प्रवृत्ति अधिक प्रचलित थी और कदाचित इसका अभिप्राय उत्तम पुरुष प्रयोग जन्य अहंकार-शून्यता का बताना ही इन विद्वानों का उद्देश्य था और इसीलिये प्रथम पुरुष का प्रयोग किया गया प्रतीत होता है। इसी परम्परा का अनुसरण आचार्य मम्मट ने भी किया है और इसी कारण अन्य पुरुष का प्रयोग यहाँ समीचीन कहा जायगा तथा इससे भिन्न कर्त्तृत्व की बात पुष्ट नहीं होती है।

(१) इस सम्बन्ध में एक दूसरा तर्क भी दिया जाता जा सकता है। काणे महोदय ने बताया है कि यदि वृत्तिकार और कारिकाकार दो भिन्न व्यक्ति होते तो ऐसी दशा में वृत्ति के आरम्भ में भी मङ्गलाचरण अवश्य होता, क्योंकि इस प्रकार की परम्परा भी साहित्य में रही है परन्तु यहाँ पर दो भिन्न-भिन्न मगंलाचरण नहीं हैं। अतः कहा जा सकता है कि कारिका और वृत्ति-भाग का भिन्न कर्त्तृत्व सम्भव नहीं दीख पड़ता है और दोनों को मम्मट कृत मानना ही उचित प्रतीत होता है।

(२) भरत मुनि के रस-सूत्र को उद्धृत करते हुए आचार्य मम्मट ने चतुर्थ प्रकाश में लिखा है कि 'तदुक्तं भरतेन' अर्थात भरत के द्वारा कहा गया है। यदि कारिका भाग भरत मुनि प्रणीत होता है, तो यह लिखने की कोई आवश्यकता नहीं रहती और उसी गति में उस सूत्र का भी उद्धरण दे दिया जाता।

(३) भदवादियों ने कारिका और वृत्तिभाग के भिन्न-कर्तृत्व को सिद्ध करने के लिये एक और तर्क दिया है। दशम उल्लास में रूपक अलंकार के प्रसंग पर कहा गया है कि "समस्त वस्तु विषयं श्रौता आरोपिता यदा" अर्थात् जब आरोप्यमाण अर्थ शब्दतः श्रौत होता है तो वह समस्त वस्तु विषय नामक भेद होता है। इस सूत्र की व्याख्या में मम्मट ने लिखा है कि "बहुवचन-मविवक्षितम्" अर्थात् यहाँ बहुवचन अविवक्षित भी हो सकता है। अब पूर्व पक्षी का यह कहना है कि यदि दोनों भागों का कर्त्ता एक ही होता तो ऐसी दशा में पहले "आरोपिताः" में बहुवचन का प्रयोग करके पुनः उसकी व्याख्या

---

२. "वाग्देवतायाः साम्मुख्यमाधत्ते" (साहित्य दर्पण)

३. "नागेशः कुरुते सुधीः" —नागेश

में स्वयं "बहुवचन मविवक्षितम्" लिखने का कोई महत्व नहीं रहता है। वे यदि चाहते तो स्वयं कारिका में ही यह परिवर्त्तन कर देते। अतः इससे स्पष्ट होता है कि कारिका मम्मट कृत न होकर भरत कृत ही है।

समाधान—उपयुक्त कथन से भेदवादियों ने भिन्नता का प्रतिपादन करना चाहा है। और कहा है कि एक कर्त्तृत्व होने पर इस प्रकार लिखने की आवश्यकता नहीं थी। इस सम्बन्ध में यही कहा जा सकता है कि इन पूर्व-पक्षियों ने प्रस्तुत प्रसंग का अवधारण समुचित रूप से नहीं किया है। इस प्रसंग में रूपक के 'समस्त वस्तु विषय' भेद की चर्चा की गई है कि रूपक में एक वस्तु के ऊपर दूसरी वस्तु का आरोप होता है और इन भेदों में बताया गया है कि यह आरोप अनेक वस्तुओं का भी हो सकता है। अर्थात् उनमें दो या दो से अधिक आरोप होने चाहिये और सबका शब्दतः कथन होना चाहिये। ग्रन्थकार का यह अभिप्राय है कि अधिक आरोपों के कथन से तो समस्त वस्तु विषय भेद होगा ही। साथ ही यदि दो आरोप ही उपात्त हों; तब भी यह भेद मान लिया जायगा। इसी कथन को उसने अलग-अलग कारिका और वृत्ति में लिखा है यदि दोनों स्थानों पर बहुवचन का ही प्रयोग होता तो उसका यह अर्थ लगाया जाता है यदि दो आरोपों का शब्दतः कथन हो तो वहाँ रूपक का 'समस्तवस्तुविषयक' यह भेद नहीं माना जा सकता था। इसी कमी को दूर करने के लिए इस प्रकार का प्रयोग किया गया है। यदि इसके विपरीत मूलकारिका में ही द्विवचन का प्रयोग किया जाता तो पुनः बहुवचन में बहुत से विषयों के आरोप एवं शब्दतः कथन की समस्या उठ जाती। अतः द्विवचन और बहुवचन दोनों द्वारा इस भेद को कहने के लिए ही इस प्रकार का कथन किया गया है। इसलिए इसी कथन के आधार पर भिन्न-कर्तृत्व का समर्थन नहीं किया जा सकता।

(ii) रूपक अलंकार के ही प्रसंग में एक कारिका में कहा गया है कि "साङ्गमेतन्निरङ्गस्तु शुद्धं, मालातु पूर्ववत्" अर्थात् मालोपमा के समान ही नानारूपक भी 'पूर्ववत्' होता है। यहाँ जिस मालोपमा का संकेत 'पूर्ववत्' द्वारा किया गया है, वह कारिका भाग में न होकर 'वृत्तिभाग' में ही है। यदि कारिकाएँ भरत निर्मित होतीं तो इस कारिका भाग में प्रयुक्त 'पूर्ववत्' का संकेत 'कारिका' में ही प्राप्त होता; परन्तु वह कारिका में न होकर वृत्ति में है और दोनों भागों का रचयिता मम्मट ही है। इसी से उन्होंने वृत्तिभाग का संकेत अपने इस 'कारिका' में कर दिया है। अतः कहा जा सकता है कि भेदवादियों का यह विचार कि कारिकाएँ भरत द्वारा और वृत्ति मम्मट द्वारा

लिखी गई है, मान्य नहीं हो सकता है। अपितु दोनों का कर्त्ता मम्मट को ही मानना चाहिये।

(ख) **द्वितीय मत** :—इस मत में भी काव्य प्रकाश के कारिका और वृत्तिकार को दो व्यक्तियों की रचना बतायी गयी है, परन्तु कुछ अन्तर के साथ। इसके अनुसार भरत मुनि कारिकाओं के निर्माता नहीं हैं अपितु इनके स्थान पर 'अल्लटसूरि' का नाम लिया गया है। यह भी एक काश्मीरी विद्वान थे तथा इनके सहयोग से ही काव्य प्रकाश की रचना पूर्ण हो सकी है, परन्तु यह सहयोग किस रूप में है तथा कितना अंश अल्लटसूरि का लिखा है, इस सम्बन्ध में मतभेद है।

काव्य प्रकाश की 'निदर्शना टीका' में 'आनन्द' ने स्पष्ट रूप से लिखा है कि दशम उल्लास के परिकर अलंकार तक की रचना मम्मट ने तथा बाद की रचना अल्लटसूरि ने की है[1]। काव्य प्रकाश के अन्त में दिये गये श्लोक की व्याख्या करते हुए टीकाकारों ने अपना भिन्न-भिन्न मत दिया है कि इस ग्रन्थ का आरम्भ किसी अन्य विद्वान् ने किया था और उसकी पूर्त्ति किसी दूसरे विद्वान् द्वारा की गई है। माणिक्यचन्द ने अपनी टीका में लिखा है कि 'यह ग्रन्थ अन्य के द्वारा प्रारम्भ किया गया और दूसरे के द्वारा पूरा किया। इस प्रकार दो खण्डों का होता हुआ भी यह अखण्ड है'।[2] दूसरे टीकाकार रुचक ने भी बताया है कि मूल ग्रन्थकार किसी कारण से ग्रन्थ को पूरा नहीं कर सका अतः दूसरे व्यक्ति के द्वारा इसे पूरा किया गया[3]। इन दोनों विद्वानों के कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि काव्य प्रकाश के दो निर्माता थे, परन्तु दूसरा कौन था, इस सम्बन्ध में सर्वथा मौन रहे हैं। इतना अवश्य है कि दो व्यक्तियों द्वारा रचित होने पर भी यह ग्रन्थ अखण्ड प्रतीत होता है। श्री एच०-आर० दिवाकर ने भी माणिक्य चन्द के संकेत टीका के विचारों का समर्थन किया है कि परिकरालंकार तक का भाग मम्मट की रचना है, परन्तु बाद का कारिका भाग और वृत्ति के रचयिता अल्लटसूरि ही हैं।

---

१. "कृतः श्रीमम्मटाचार्यवर्यैः परिकरावधिः।
ग्रन्थः सम्पूरितः शेषो विधायाल्लटसूरिणा। का० प्र०। निदर्शना टीका।

२. "अथ चायं ग्रन्थोऽन्येनारब्धो ऽपरेण च समापति इति द्विखण्डोऽपि संघटना बशादखंडायते" (माणिक्य चन्द-संकेत टीका)।

३. "एतेन महायतीनां प्रसरण हेतुरेषग्रन्थो ग्रन्थ कृतानेन कमथप्यसमाऽस्वादपरेण च पूरितावशेषत्वात् द्विखण्डोऽपि"। संकेत टीका-रुचक

इसी सम्बन्ध में एक अन्य मत और प्रचलित है कि परिकर अलंकार, के बाद की रचना ही केवल अल्लटसूरि द्वारा निर्मित नहीं है। अपितु सम्पूर्ण ग्रन्थ ही मम्मटाचार्य एवं अल्लट सूरि या 'अलक' की सम्मिलित रचना है। श्री भण्डारनायक द्वारा प्राप्त काव्य प्रकाश की एक पाण्डुलिपि के अन्त की पुष्पिका में लिखा है कि "इति राजानक मम्मटालकयोः।" इस आधार पर भी यह दोनों की रचना सिद्ध होती है। अर्जुनदेव ने भी इसी बात की पुष्टि की है।[1] दूसरे स्थान पर भी दो कर्त्ताओं की ओर संकेत है।[2] और "काव्य प्रकाशकारों" [3] के द्वारा दोवचन का प्रयोग भी किया गया है। संकेत टीका में एक अन्य स्थान पर पुनः तीन कर्त्ताओं की चर्चा है। राजानक मल्ल, मम्मट और रुचक ये तीन नाम दिये गये हैं। इस प्रकार 'काव्यप्रकाश' तीन व्यक्तियों की रचना है। इस तरह यह तीसरा मत भी हमारे समक्ष आ जाता है परन्तु इसमें कोई सार नहीं है। क्योंकि संकेत टीकाकर रुचक ने अपना भी नाम इन्हीं उपर्युक्त दो कर्त्ताओं के संग जोड़ दिया है। और यहाँ टीका कार का उद्देश्य मूल ग्रन्थ को बताना न होकर 'काव्य प्रकाश' संकेत टीका को ही बताना रहा है, और इस संकेत टीका को लिखने में तो रुचक ही प्रमुख रहा है। वैसे सामान्यतया दो वक्ताओं वाली बात ही अधिकांश टीकाकारों में प्रचलित है।

समाधानः—इस सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि अलक या अल्लट ने रुय्यक के "अलंकार-सर्वस्व" पर एक टीका लिखी थी और रुय्यक ने 'काव्य प्रकाश' पर एक दूसरी टीका लिखी है। रुय्यक की यह टीका "अलंकार सर्वस्व" लिखने के पहले ही लिखी जा चुकी थी। अतः यह सम्भव नहीं प्रतीत होता है कि जो रुचक का टीकाकार है, वही काव्य प्रकाश के मूल लेखकों में भी हो। इसीसे इसमत को भी नहीं माना जा सकता है और हो सकता है कि उपर्युक्त टीकाकारों में प्रचलित किसी भ्रम के द्वारा ही काव्य प्रकाश का युग्म कर्त्तृत्व मान लेने की प्रथा चल पड़ी हो।

---

१. "यथोदाहृतं दोषनिर्णये मम्मटालकाभ्यां प्रसादे वर्तस्व"। अमरुक शतक-टीका-अर्जुनदेव।

२. "........किन्तु ह्लादैकमयीविप्लब्ध प्रसादौ काव्यप्रकाशकारौ-प्रायेण दोषदृष्टी"। अर्जुनदेव।

३. "इतिश्रीमद्राजामकमल्ल मम्मट रुचक विरचिते निजग्रन्थकाव्य प्रकाश संकेत प्रथम उल्लासः" संकेत टीका प्रथम उल्लास की पुष्पिका।

(ग) तृतीय मत—तृतीय मत में मम्मट, अल्लट और रुय्यक इन तीन कर्त्ताओं का नाम लिया गया है। स्टीन और पीटरसन जैसे पाश्चात्य विद्वानों ने इस मत का समर्थन किया है परन्तु इस मान्यता का कोई भी प्रामाणिक आधार नहीं है।

आजकल अधिकांश विद्वानों की मान्यता मम्मट के कर्तृत्व का ही समर्थन करती है। इन लोगों के अनुसार काव्य प्रकाश की कारिकायें एवं सभी वृत्ति भाग का एक मात्र रचनाकार मम्मट ही है, अन्य कोई विद्वान नहीं। मेरा भी यही विचार है, क्योंकि काव्य प्रकाश ग्रन्थ की शैली का अध्ययन करने से उसमें भिन्नता नहीं प्रतीत होती है। और वह एक ही कवि की लेखनी की रचना मालूम पड़ती है। साथ ही सभी स्थानों पर सिद्धान्त की भी एकता है। यदि भिन्न कर्तृत्व होता, तो शैली या सिद्धान्त में कुछ न कुछ अन्तर अवश्य आ जाता; परन्तु यह अन्तर नहीं है। अतः निश्चयात्मक रूप से कारिका और वृत्ति दोनों भागों का रचयिता मम्मट ही है अन्य कोई नहीं। और विरोधियों की भी भिन्न कर्तृत्व वाली उक्तियों में सार्थकता नहीं मानी जा सकती।

दूसरी बात यह भी कही जा सकती है कि मम्मट ने कुल १४४ कारिकाएँ इस ग्रन्थ में लिखी हैं। यदि इनमें से २-३ सूत्रों का वही भरत निर्मित रूप आ भी गया तो इससे उसका (कर्तृत्व) नष्ट नहीं हो सकता है। बहुधा अपने से पूर्ववर्ती विद्वानों की कुछ पंक्तियाँ अबाधरूप में आ ही जाया करती हैं। यदि इन पंक्तियों के आधार पर कर्तृत्व ही दूसरे का हो जाय तब तो काव्य-प्रकाश की कई कारिकाएँ-जो भामह के 'काव्यालंकार' से मिलती हैं उनके आधार पर इस ग्रन्थ को भामह की भी रचना कही जा सकती है। परन्तु ऐसा हम नहीं मानते हैं अतः कारिकाकार और वृत्तिकार वास्तव में एक ही व्यक्ति अर्थात् मम्मट ही थे।

(ii) भेदवादियों ने कारिकाकार और वृत्तिकार को अलग-अलग दो व्यक्ति सिद्ध करने के लिये दूसरा यह तर्क दिया है कि 'काव्य प्रकाश' के प्रथम उल्लास के आरम्भ में ग्रन्थकार ने लिखा है कि" ग्रन्थारम्भे विघ्नविघाताय समुचितेष्टदेवता ग्रन्थकृत् परामृशति" अर्थात् ग्रन्थ के आरम्भ में विघ्न के विघात के लिये ग्रन्थकार समुचितेष्ट देवता का स्मरण करता है। इस वाक्य में 'परामृशति' का प्रयोग अन्य पुरुष के एक वचन में किया गया है। इसी पद के आधार पर पूर्व पक्षियों का कहना है कि मम्मट ही कारिका के

भी कर्ता होते तो ऐसी दशा में अपने लिये ही प्रथम पुरुस का प्रयोग कदापि न करते, अपितु इसके स्थान पर उत्तमपुरुष का ही प्रयोग करते।

(iii) काव्य प्रकाश के इस निरूपण के अवसर पर जिस सूत्र का उल्लेख किया गया है, उसके निर्माता निस्सन्देह भरत मुनि ही हैं, क्योंकि वृत्तिकार ने भी लिखा है कि "उक्त हि भरतेन—" विभावनुभावव्यभिचारि संयोगाद्रस निष्पत्तिः 'इति'। इसके अतिरिक्त चतुर्थ उल्लास में रसों स्थायी भावों और व्यभिचारी भावों को बताने वाले सूत्र संख्या ४४,४५,४६ भी भरत मुनि के ही सूत्र हैं, जो नाट्यशास्त्र के छठे अध्याय के १४,१७ और २१ संख्या वाले सूत्र हैं। अतः भेद वादियों का विचार यह है कि जब इतने सूत्र भरत के हैं ही तो अन्य सूत्रों को भी भरतकृत ही मानना चाहिए।

समाधानः—इस सम्बन्ध में इतना तो निश्चित है कि काव्य प्रकाश के उपयुर्क्त तीन सूत्र अबाध रूप में नाट्यशास्त्र में भी पाये जाते हैं। भेद-वादियों के अनुसार इन सूत्रों के निर्माण की कल्पना मम्मट की न होकर भरत के मस्तिष्क की ही समझनी चाहिए। परन्तु केवल इन तीन सूत्रों के आधार पर ही सम्पूर्ण 'काव्य-प्रकाश' को भरत की रचना मान लेना समीचीन प्रतीत नहीं होता। क्योंकि अन्य कोई भी सूत्र नाट्यशास्त्र में नही मिलता। अतः इन तीन ही सूत्रों के आधार पर कारिका का कर्तृत्व भरत मुनि को सौंप देना उचित नहीं कहा जा सकता। यह भी नही कहा जा सकता है कि भरत की कोई अन्य रचना भी रही होगी क्योंकि कहीं भी उसका उल्लेख अथवा उद्धरण प्राप्त नहीं होता है। अतः निश्चित रूप से यह कहा जा सकता है कि इन तीन सूत्रों को छोड़ कर अन्य कोई भी सूत्र भरतकृत नहीं है। और सभी सूत्रों के रचयिता मम्मट ही हैं। तथा उन्होंने ही स्वयं इन सूत्रों पर वृत्ति भी लिखी है।

काव्य-प्रकाश के टीकाकार

सम्पूर्ण संस्कृत-साहित्य में श्रीमद्‌भगवद्‌गीता के बाद सम्भवतः मम्मट का 'काव्य प्रकाश' ही एक ऐसा ग्रन्थ है, जिस पर विद्वानों की दृष्टि सबसे अधिक रही है। इसी ग्रन्थ के आधार पर मम्मट एक अमर काव्यकार के रूप में प्रसिद्ध हो गये हैं और इस ग्रन्थ के निर्माण काल के प्रारम्भ से आज तक इसके पठन-पाठन की अबाध परम्परा चलती ही चली आ रही है। इसके स्पष्टीकरण के लिए उनकी टीकाएं लिखी गई हैं और आज भी उनकी वह धारा अवरुद्ध नहीं है। आचार्य-कमलाकर ने (१६१२ ई०) तो यहाँ तक लिखा

है। कि काव्य प्रकाश की सहस्रों टीकाएँ है। [1] हो सकता है कि इस कथन में कुछ अत्युक्ति हो परन्तु इतना तो निर्विवाद कहा जा सकता है कि काव्य प्रकाश की टीका एवं टिप्पणियों की संख्या अत्यधिक रही है। एक टीकाकार के अनुसार तो काव्य प्रकाश की टीका घर घर में वर्त्तमान है, [2] फिर भी उसके अध्यन और चिन्तन की परम्परा अभी तक चली आ रही है। लगभग ५० प्रसिद्ध टीकाएँ लिखी जा चुकी हैं; जिनके नामों का निर्देश किया जा रहा है।

१ :—गुजरात के जैन पण्डित माणिक्य चन्द्र की 'काव्य' प्रकाश' संकेत टीका सं० १२१६ (११६० ई०) में लिखी गयी थी।

२. सरस्वती तीर्थकृत "बाल चित्तानुरंजनी टीका सं० १२९८

३. "जयन्त भट्टकृत" दीपिका टीका। सं० १३५०

४. सोमेश्वरकृत 'काव्यादर्श' टीका अथवा संकेत टीका

५. विश्व नाथ कृत "काव्य प्रकाश-दर्पण टीका

६. बंगाल के परमानन्द चक्रवर्ती भट्टाचार्य की 'विस्तारिका' टीका

७. काश्मीर के (१५ वीं शताब्दी) आनन्द कवि की सारसमुच्चय टीका

८. श्री वत्सलाञ्क्ष भट्टाचार्य निर्मित' सारबोधिनि' टीका (१५ वीं शती)

९. मिथिला के म० म० पण्डित गोविन्दठाकुर की 'काव्य-प्रदीप' टीका। इसकी व्याख्या में भी 'प्रभा और उद्योत' नामक दो अन्य टीकाएँ भी लिखी गई।

१०. बंग प्रान्त के (१७ वीं शती) महेश्वर भट्टाचार्य की आदर्श टीका।

११. कमलाकरभट्ट निर्मित 'विस्तृता टीका।

१२. नरसिह ठाकुर की 'नरसिंह-मनीषा' नामक टीका

१३. वैद्यनाथ की "उदाहरण चन्द्रिका टीका"

१४. भीम सेन दीक्षित की "सुधा सागर टीका"

---

१. ',काव्य प्रकाश टिप्पण्य : सहस्र सन्ति यद्यपि"

२. "काव्यप्रकाशस्य कृता गृहे गृहे टीका तथाप्येष तथैव दुर्गमः॥ आदर्श टीका महेश्वर भट्टाचार्य।

१५. प्रदीप टीका पर लिखी गई वैय्याकरण नागोजी भट्ट की "उद्योत टीका" काशी में लिखी गई थी ।

१६, महेश चन्द्र की 'तात्पर्य विवृत्ति टीका'

१७. गोविन्द की 'प्रदीपच्छाया टीका"

१८. नागेश भट्ट कृत 'लघ्वी टीका ।

१९. नागेश भट्ट कृत'वृहती' टीका

२० प्रभा-टीका वैद्यनाथ कृत

२१. वैद्यनाथकृत उदाहरण चन्द्रिका टीका

२२. राघव कृत 'अवचूरि' टीका

२३. श्रीधर काव्य प्रकाश टीका

२४. चंडीदासकृत टीका

२५. देवनाथकृत टीका

२६. भास्करकृत 'साहित्य दीपिका'

२७. सुबुद्धि की टीका

२८. पद्मनाभकृत

२९. अच्युत कृत टीका

३०. रत्न पाणि की टीका

३१. भट्टाचार्य की काव्य दर्पण टीका

३२. रविकृत 'मधुमती' टीका

३३. तत्व-बोधिनी टीका

३४. कौमुदी टीका

३५. आलोक टीका

३६. रुचककृत 'संकेत टीका

३७. यशोधर कृत टीका

३८. जयरामकृत 'प्रकाश तिलक' टीका

३९. विद्या सागर की टीका

४०. मुरारिमिश्र की टीका

४१. मणिसार कृत टीका

४२. भक्षधर कृत टीका

४३ सूरि कृत 'रहस्य प्रकाश'

४४. रामनाथ कृत रहस्य प्रकाश

४५. जगदीश कृत टीका

४६. गदाधर कृत टीका

४७ भास्कर की 'रहस्य निबन्ध' टीका

४८. रामकृष्ण की काव्य प्रकाश-भावार्थ

४९. वाचस्पति मिश्र की टीका

५०. वामनाचार्य झलकीकर 'बाल बोधिनि टीका'

५१. हरि मंगल मिश्र की नागेश्वरी टीका

इन संस्कृत की टीकाओं के अतिरिक्त म० म० डाक्टर गंगानाथ झा ने काव्य प्रकाश का अंग्रेजी अनुवाद भी किया है। इधर हिन्दी में भी टीकाओं के लिखने की परम्परा चल पड़ी है।

'काव्य प्रकाश' की हिन्दी टीकाओं में अभी संख्या अधिक नहीं हुई है। अभी तो हिन्दी के विद्वानों का कुछ ही ध्यान इधर आकर्षित हो सका है। इसी से अभी तक हिन्दी में केवल चार टीकाए ही देखने को मिल सकी हैं। हिन्दी की टीकाओं के इस क्रम में सर्वप्रथम हरिमंगल मिश्र की टीका प्रकाशित हुई थी। डा० सत्यव्रत सिंह द्वारा लिखित "विमर्श-शशिकला" नामक हिन्दी टीका सन् १९५५ ई० में चौखम्भा संस्कृत सीरीज से प्रकाशित हुई थी। हिन्दी की तीसरी और प्रसिद्ध टीका 'काव्य प्रकाश दीपिका है। इसके व्याख्याकार आचार्य विश्वेश्वर थे, जिनका देहावसान सन् १९६२ ई० में वृन्दावन में हुआ था यह टीका ज्ञान मंडल लिमिटेड, वाराणसी से सन् १९६० ई० में प्रकाशित हुई है। डा० हरिदत्त शास्त्री की काव्य प्रकाश की चौथी 'प्रभाख्य' नामक टीका भी प्रकाशित हो चुकी है। यह टीका सं० २०१७ वि० में साहित्य भण्डार सुभाष बाज़ार मेरठ से प्रकाशित हुई थी।

प्रस्तुत ग्रन्थ भी 'काव्य प्रकाश' के समझने में सहायक हो सकता है। यद्यपि यह ग्रन्थ टीका के रूप में प्रस्तुत नहीं किया जा रहा है, फिर भी काव्य-प्रकाश की एक व्याख्या और उसके स्वरूप का निर्धारण इस ग्रन्थ द्वारा हो सका है। काव्य प्रकाश के विचारों का पूर्ण विश्लेषण इस ग्रन्थ द्वारा प्रस्तुत किया जा रहा है। यदि सम्भव हो सका तो भविष्य में 'काव्य प्रकाश' की पूर्ण व्याख्या एवं विश्लेषण उपस्थित करने का प्रयास करूँगा, परन्तु इस कार्य में विद्वानों का मार्ग दर्शन एवं भगवद् कृपा की ही प्रमुखता होगी। देखें, भविष्य अभी किन रूपों में और किन किन चिन्तकों द्वारा काव्य प्रकाश' की व्याख्या प्रस्तुत करता है।

काव्य-प्रकाश की विशेषताएँ

आचार्य मम्मट संस्कृत साहित्य के उन काव्यशास्त्रियों में हैं, जिनका ग्रन्थ 'काव्य-प्रकाश' एक 'प्रस्थान-ग्रन्थ' के रूप में सम्मानित है। इस ग्रन्थ की सबसे बड़ी विशेषता यही रही है कि इसके पूर्व के सभी काव्यकारों–भरत, भामह (काव्यालंकार), दण्डी (काव्यादर्श), वामन (काव्यालंकार सूत्र वृत्ति), रुद्रट (काव्यालंकार), आनन्दवर्द्धन (ध्वन्यालोक), अभिनव गुप्त (ध्वन्यालोक लोचन), कुन्तक (वक्रोक्ति-जीवित) आदि की कृतियों का समन्वयात्मक रूप एवं विचार इसमें प्राप्त हो सकेगा। अभी तक किसी भी ग्रंथ में काव्य का सर्वाङ्गीण चित्रण एवं विवेचन नहीं किया गया था। किसी ने केवल अलंकारों का, किसी ने केवल वक्रोक्ति का और किसी ने केवल ध्वनि की महत्ता को ही प्रतिपादन किया था। प्रथम बार इस ग्रंथ में सब विचारों का सार-संग्रह दिया गया था और अन्य सभी विचारों को इसी ध्वनि की परिधि में लाकर उन्हें ध्वनि का अंग बना दिया गया। इस प्रकार ध्वनि की महाविषयता का प्रतिपादन करते हुए अलंकार, रस, वक्रोक्ति और रीति को ध्वनि के ही अन्तर्गत सिद्ध कर दिया गया। अतः यह कहा जा सकता है कि इस ग्रन्थ में पूर्व आचार्यों की भावनाओं एवं विचारों का समन्वय सार है तथा परिवर्ती आचार्यों की भावनाओं का एक मात्र यही प्रेरक स्रोत रहा है। अतः काव्यकारों के लिये यह एक ऐसा ग्रंथ है जिसमें अतीत एवं भविष्य की सभी काव्य सम्बन्धी मान्यताओं का संगम हो जाता है।

२. काव्य प्रकाश की दूसरी और सबसे बड़ी विशेषता है, उसकी सूत्र अथवा समास शैली। इस शैली के द्वारा मम्मट ने अपने दो उद्देश्यों की पूर्ति की है। (१) विषय की बहुलता का थोड़े में समावेश कर देना और (२) यथा-सम्भव सभी मतों का स्वरूप उपस्थित करते हुए विरोधियों की भावनाओं एवं विचारों का सूत्र शैली में ही निराकरण कर देना।

इस सूत्र शैली के आधार पर आचार्य मम्मट ने बहुलता से विषयों का समावेश स्पष्टीकरण किया है, उन्होंने थोड़े में बहुत कुछ कह दिया है। 'भरत मुनि' के नाट्यशास्त्र से आरंभ कर अपने समय तक के लगभग बारह सौ वर्षों तक के काव्य-चिन्तन विषयक विचारों का सार इस ग्रंथ में प्राप्त हुआ है। तथाभरत मुनि द्वारा कहे गये रस सूत्र और उसकी व्याख्या करने वाले आचार्यों के विचारों को संक्षेप में प्रस्तुत करने में ग्रथकार ने अपनी विद्वत्ता का परिचय दिया है।

३. विरोधियों के सभी मतों का खण्डन युक्तिपूर्वक किया गया है। इन विरोधियों में मीमांसक, नैयायिक, वेदान्ती, बौद्ध, वैयाकरणों के विचारों को पूर्वपक्ष के रूप में उपस्थित करते हुए उनका सबल तर्कों से अथवा उन्हीं के शास्त्रों से खण्डन किया गया है। इस प्रकार आचार्य मम्मट ने अपनी बहुज्ञता का परिचय अनायास ही दे दिया है। वे एक साथ ही विचारक, दार्शनिक और महान् काव्य-शास्त्री थे और इन सभी का समन्वयात्मक व्यक्तित्व उनके काव्य-प्रकाश ग्रंथ के किसी भी उल्लास में देखा जा सकता है।

४. मम्मट के इस ग्रंथ में सभी विचारों की पूर्णता दिखायी पड़ती है। उदाहरण के लिये उनका काव्य-लक्षण ही लिया जा सकता है। शब्द और अर्थ को 'काव्य' मानने की जो परम्परा 'भामह' आदि पूर्व आचार्यों ने चलायी थी उसी का और अधिक निखरा हुआ, सम्पूर्ण और सर्वाङ्ग सुन्दर लक्षण इस ग्रन्थ में प्राप्त होता है। मम्मट के तद्दोषौ शब्दार्थौ-सगुणावनलंकृति पुनः क्वापि" लक्षण में काव्य की सगुणता और सभी प्रकार की विलक्षणता अपनी विशेषताओं के साथ उपस्थित है। अभी तक किसी ने केवल शब्दार्थ की ही बात कही थी, किसी ने रस ध्वनि या गुण की चर्चा की थी, कोई काव्य का ग्रहण अलंकारों से ही मानता था। आचार्य मम्मट ने सभी आचार्यों की इस अधूरी प्रवृत्ति को देखा और अपने काव्य-लक्षण में सभी विचारों को समेट लिया। गत बारह सौ वर्ष से चली आती हुई विचारधारा एवं चिंतन का सारभूत रूप उनका यह काव्य-लक्षण है। इसी से इसमें शब्दार्थ, अदोषता, सगुणता के रूप में रस और अलंकार आदि सभी का समावेश हो सका है। भामह, दण्डी, वामन, कुन्तक आदि किसी में भी विषय की विविधता और विषय प्रतिपादन की दृष्टि से पूर्णता नहीं है। आचार्य मम्मट ने इस कमी को पहचाना और अपने काव्य-प्रकाश में सभी विषयों का समावेश कर पूर्ववर्ती आचार्यों की इस एकांगिता की प्रवृत्ति को दूर कर दिया। उदाहरण के लिये उद्भट ने अलंकारों का वर्णन किया, वामन ने केवल रीति की ही प्रधानता मानी, आनन्दवर्धन ध्वनि को ही प्रश्रय देते थे, कुन्तक के लिये वक्रोक्ति ही काव्य का प्राण था, इस प्रकार सभी चिन्तकों ने केवल एक ही विचार को ग्रहण किया और उसी को सब कुछ मान लिया, परन्तु मम्मट ने सबका उचित ग्रहण और मूल्यांकन किया है।

५. इस ग्रन्थ में मम्मट ने अपने पूर्ववर्ती ध्वन्याचार्य आनन्दवर्धन के मत का सारांश सारगर्भित रूप में दिया है। साथ ही उस सिद्धांत को और अच्छे तरीके से समझाया गया है। यदि मम्मट का 'काव्य-प्रकाश' ध्वनि के

समर्थन में हमारे समक्ष न आता तो सम्भवत: ध्वनि सम्प्रदाय की महत्ता के समक्ष प्रश्न का चिह्न अवश्य लग जाता, क्योंकि ध्वनि सम्प्रदाय के विरोधियों में महिमभट्ट और अभिनवगुप्त ने अपने सबल तर्कों द्वारा उसके अस्तित्व को संशय में डाल दिया था तथा मीमांसकों ने भी अपनी तात्पर्यावृत्ति द्वारा व्यञ्जना का निराकरण कर दिया था। अत: काव्यप्रकाशकार ने ध्वन्यालोक के विषय को और अधिक पुष्ट, प्राञ्जल एवं सबल रूप में उपस्थित किया तथा ध्वनि विरोधी सभी मतों का निराकरण करते हुए अन्त में ध्वनि की व्यापकता एवं सार्वभौमिकता को सिद्ध कर दिया और इस प्रकार उसके अङ्गीत्व के प्रतिपादन में अपनी बौद्धिक छाप लगाकर उसे एक अमर काव्य सम्प्रदाय के रूप में सदा-सर्वदा के लिये प्रतिष्ठित कर दिया, यदि यह कार्य मम्मट द्वारा न किया गया होता तो सम्भवत: ध्वनि की आज की यह महत्ता स्थिर न हो पाती, इसी से आचार्य मम्मट को "ध्वनि प्रस्थापक परमाचार्य" कहा जाता है। अलंकार शास्त्र में जिस ध्वनि का प्रथम बार प्रतिपादन आनन्द वर्धन द्वारा किया गया था तथा अभिनवगुप्त ने जिस "ध्वन्यालोक लोचन" में उस ध्वनि सम्बन्धी विचारों को प्रगति दी थी, वही ध्वनि सम्प्रदाय 'काव्य-प्रकाश" में आकर आचार्य मम्मट के हाथों से पूर्णता को प्राप्त हो गया और इसमें पूर्व विद्वानों के विचार और सुव्यवस्थित होकर हमारे समक्ष आ सके हैं। संक्षेप में मम्मट ने भरत भामट्ट, वामन, रुद्रट, दण्डी, आनन्द-वर्धन आदि के चिन्तन से प्रेरणा प्राप्त की, अपने बाद के अलंकारिकों को प्रभावित किया तथा ध्वनि की स्थापना करने में ध्वनि एवं व्यंजना विरोधी आचार्यों—कुमारिलभट्ट, प्रभाकर भट्ट, धनञ्जय, धनिक, महिम भट्ट, मुकुलभट्ट, भट्ट लोल्लट आदि का खण्डन तथा कुन्तक, क्षेमेन्द्र और भोजराज जैसे काव्य-शास्त्रियों के सिद्धान्तों का उचित मूल्यांकन करते हुए उन्हें अपने काव्य–प्रकाश में स्थान दिया। इस प्रकार मम्मट की प्रतिभा इस ग्रन्थ में बहुमुखी होकर हमारे समक्ष आयी है, इसी से मम्मट के इस ग्रन्थ के अध्ययन की परम्परा अबाध गति से आज तक चली आ रही है। इसकी सारगर्भिता सर्वमान्य है, महत्ता व्यापक है और उपादेयता के सम्बन्ध में तो दो मत हो ही नहीं सकते हैं। इसमें पूर्ववर्ती अलंकार-शास्त्रियों के गुणों का ग्रहण और दोषों का परि-मार्जन है। इसी से इस एक ग्रन्थ के अध्ययन से ही काव्यशास्त्र सम्बन्धी सभी आवश्यक तत्वों का पूर्णतया ज्ञान हो जाता है।

६. इस ग्रन्थ में विचारों को पूर्वापर रूप में रखने की जो भावना रही है, उससे आचार्य मम्मट की बौद्धिक प्रखरता एवं कलात्मकता का भी ज्ञान हो जाता है। उन्होंने न केवल गत बारह सौ वर्षों के साहित्य का मन्थन करके

उसके सारभूत अंश को ग्रहण किया है, अपितु उसको सुव्यवस्थित रूप से सजाया भी है, उसमें उन विचारों के पूर्वापरक्रम-व्यवस्था में भी एक सौंदर्य है। पूर्ण विचार उनके काव्य लक्षण "तद्दौणौ शब्दार्थों सगुणावनलंकृति पुनः क्वापि" के चतुर्दिक ही घूमते रहते हैं और इसी एक लक्षण के स्पष्टीकरण के लिये ग्रन्थ के दशों उल्लासों की रचना हुई है। इन उल्लासों के व्यवस्थित क्रम को देखकर यह कहना ही उचित होगा कि आचार्य मम्मट केवल सार ग्रहण करने में ही पटु न थे, अपितु उनके सजाने में भी उनकी कलात्मक प्रवृत्ति सचेष्ट रही है। यथा इस काव्य लक्षण को स्पष्ट करने के लिये ही आगे प्रयास किया गया है। प्रथम उल्लास में काव्य के सामान्य भेदों की चर्चा करके चौथे पाँचवें और छठे उल्लास में विस्तार से क्रमशः इन तीनों ध्वनि, गुणीभूत व्यंग्य और चित्र काव्य-प्रकार काव्यों के भेदों-प्रभेदों की चर्चा की गई है। द्वितीय उल्लास में लक्षण में आये हुए 'शब्दार्थों' का स्पष्टीकरण है, तृतीय में आर्थी-व्यञ्जना के भेदों पर प्रकाश डाला गया है। इस प्रकार षष्ठ उल्लास तक 'काव्य' और 'शब्दार्थो' को स्पष्ट किया गया है। दोष, गुण और अलंकारों की चर्चा क्रमशः सातवें, आठवें तथा नौवें-दशवें उल्लास में की गई है। गुणों के ही साथ आठवें उल्लास में रीति एवं वृत्तियों को भी समेट लेने का प्रयास किया गया है। नवम उल्लास में शब्दालंकार एवं उपमालंकार तथा दशम में अर्था-लंकार का वर्णन किया गया है। इस प्रकार सभी विषयों के समावेश से इस ग्रन्थ की उपादेयता बहुत अधिक बढ़ गई है।

७. अभी तक के किये गये काव्य सम्बन्धी विवेचनों में 'काव्य' और 'कला' की ही प्रधानता थी, रस या काव्य की रस सम्बन्धिनी अनुभूतियों की चर्चा नहीं हुई थी। "ध्वन्यालोक" में भी ध्वनि के रहस्य को ही समझाने का अधिक प्रयास किया गया था। कुन्तक राजशेखर, क्षेन्मेद्र, भोज आदि ने भी अपने कलात्मकता का ही भव्य प्रासाद प्रस्तुत किया था, जिसमें वाह्य-दर्शन-जन्य सौंदर्य तो था, परन्तु हृदय को वशीभूत कर लेने वाली सरसता का उसमें भी अभाव ही पाया गया, आचार्य मम्मट ने सर्वप्रथम काव्य और सहानुभूति तथा सहृदयों के अन्तस्तल में वर्तमान काव्यानन्द जन्य अलौकिकता की ओर ध्यान आकृष्ट किया और इस प्रकार काव्य विषयक चिन्तन उसके कला पक्ष से हटकर भाव पक्ष की ओर अग्रसर होने लगा, अर्थात् काव्य की स्थापना उस शब्दार्थ युगल में हुई, जिसकी योजना में कवि की 'लोकोत्तर वर्णन निपुणता' सहायक मान ली गई।

८. 'काव्यप्रकाश' की एक अन्य यह विशेषता रही है कि आचार्य

मम्मट ने काव्य के स्वरूप को बनाने में किसी एक 'वाद' की सीमा या परिधि को ग्रहण नहीं किया। उनके अनुसार सभी वादों में काव्य का स्वरूप रहता है। इस सम्बन्ध में सीमा का निर्धारण उन्हें पसन्द नहीं था। काव्य का स्वरूप सभी वादों में कुछ न कुछ अवश्य प्राप्त हो सकता है। इसी से उन्होंने सबका समन्वय किया है अर्थात् काव्य के स्वरूप के स्पष्टीकरण करने के लिये उन्होंने सभी समीक्षण शैलियों का समन्वय किया है और इस मार्ग में वे प्रथम आचार्य, एवं उनका ग्रन्थ प्रथम ग्रन्थ कहा जाता है।

९. मम्मट ने कहीं पर भी अपने अलंकार एवं विद्वत्ता का प्रकाशन अपने ही शब्दों में नहीं किया है। उनमें अहंकारोक्ति का अभाव है। सच तो यह है कि 'काव्य-प्रकाश' की विशेषता आचार्य मम्मट के गोपन की प्रवृत्ति में ही है। उन्होंने इस ग्रन्थ में अपने पाण्डित्य को जितना ही अधिक छिपाने की चेष्टा की है, तथा इसके लिये उन्होंने संकेत और सूत्र शैली को अपनाया है, उनका वह पाण्डित्य और भी अधिक निखरता हुआ प्रत्यक्ष होता चला गया तथा उसी पाण्डित्य के कारण उनका यह ग्रन्थ आज भी विद्वानों का कण्ठहार बना इसके पठन-पाठन की प्रवृत्ति को बताता है। अतः निस्सन्देह कहा जा सकता है कि आचार्य मम्मट का यह ग्रन्थ एक अलौकिक ग्रन्थ है और उनकी विषय प्रतिपादन करने की शैली एवं क्षमता में एक अलौकिकता है, जो अन्य स्थानों पर प्राप्त नहीं हो सकी है। आचार्य मम्मट का 'काव्य-प्रकाश' विचारों का एक ऐसा सन्धि-स्थल है, जहाँ उनके पूर्ववर्ती एवं परवर्ती सभी मनीषियों के विचार किसी न किसी रूप में अवश्य प्राप्त हो जाते हैं। इसी से इस ग्रन्थ की महत्ता आज भी क्षीण नहीं हुई है और जब तक संस्कृत पठन-पाठन की परम्परा रहेगी, तब तक इस ग्रन्थ का भी समादर होता रहेगा। संक्षेप में काव्य-प्रकाश की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं:—

१. सूत्र शैली और विषय-बाहुल्य।

२. भरतमुनि से आरम्भ कर भोजराज तक के सभी विद्वानों के विचारों का सार रूप इस ग्रन्थ में है।

३. सभी सम्प्रदायवादियों को इस ग्रन्थ में उचित स्थान दिया गया है।

४. "ध्वनि और गुणीभूत व्यंग्य काव्य दोनों प्रकार के व्यञ्जनाश्रित काव्य के भेदों तथा उदाहरणों के निरूपण के बाद उद्भट आदि साहित्यिकों को, महिम-भट्टादि नैयायिकों, मुकुल भट्टादि मीमांसकों, वैयाकरणों और वेदान्तियों आदि सभी व्यञ्जना विरोधी मतों का खण्डन कर बड़ी विद्वत्ता से व्यञ्जना वृत्ति की सत्ता स्थापित की गई है।"

५. दश उल्लासों में काव्य सम्बन्धी सभी विचारों का विद्वतापूर्ण वर्णन है ।

६. समन्वय की प्रवृत्ति के कारण ग्रन्थ की उपादेयता अधिक है ।

७. विषय प्रतिपादन की दृष्टि से पूर्ववर्ती आचार्यों के दोषों का परि-मार्जन करते हुए इस ग्रन्थ को पूर्ण बनाया गया है ।

८. साहित्य शास्त्र के सभी आवश्यक तत्वों तथा शब्द-शक्ति, ध्वनि, रस, गुण, दोष, अलंकार, रीति आदि का उचित मूल्यांकन करते हुए उन सबका विवेचन भी प्रस्तुत किया गया हैं ।

मूल ग्रन्थ के विवेचन के पूर्व **शब्द-शक्ति** पर संक्षेप में यहाँ विचार कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है। काव्य के स्वरूप का निर्धारण करने वाले काव्य शास्त्रियों ने जब शब्दार्थ को उसका अनिवार्य अंग मान लिया तो उनके लिये यह आवश्यक हो गया कि वे शब्द और अर्थ के स्वरूपों का भी निर्णय करें तथा शब्दों में किसी विशेष अर्थ को प्रकट करने की जो शक्ति रहती है उसका विवेचन करना भी आवश्यक हो गया अतः उनके स्वरूप का निर्धारण ऐसे काव्य शास्त्रियों के काव्य के स्पष्टीकरण के लिये आधारशिला मान माना गया । ऐसे ही लोगों में आचार्य मम्मट भी हैं इन्होंने भी बताया है कि काव्य 'शब्द और अर्थ का' ऐसा मिश्रण हैं, जो निर्दोष हो, गुण युक्त हो और अलंकार युक्त हो, अथवा कहीं अलंकार रहित हो[1] इस परिभाषा में शब्द तथा अर्थ की समष्टि को ही काव्य माना गया है । अतः इसके आधारभूत शब्द तथा अर्थ के स्वरूप का निर्धारण करने का उत्तरदायित्व उनके ऊपर आ गया ।

सामान्य रूप में वाक्य के अल्पतम सार्थक अवयव को शब्द कहते हैं, ये शब्द तीन प्रकार के अलंकार शास्त्रियों ने माने हैं । वाचक, लाक्षणिक और व्यञ्जक । मुख्य और प्रसिद्ध अर्थ को सीधे-सीधे कहने वाला शब्द वाचक कहा जाता है । अभिप्रेत अर्थ को लक्षित करने का कार्य लाक्षणिक शब्द का है, और व्यञ्जक प्रकरण देश काल[2] आदि के प्रसंग में एक तीसरे अर्थ की व्यञ्जना करता है । इन तीनों प्रकार के शब्दों के तीन प्रकार के अर्थ वाच्य,

---

१. तद्दोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृति पुनः क्वापि— मम्मट–काव्य प्रकाश १/४

२. वक्तृ बोधव्य काकूनां वाक्य वाच्यान्य सन्निधेः ।
प्रस्ताव देशकालादेर्वैशिष्टयात् प्रतिभा जुषाम् ।
योऽर्थस्यान्यर्थधीहेतु व्यापारो व्यक्तिरेव सा ।।

लक्ष्य और व्यङ्ग्य हैं. इन शब्दों का अपने अर्थ से विशेष सम्बन्ध रहता है। और इन्हीं सम्बन्धों से शब्दों के अर्थ का बोध होता है, और सम्बन्ध से ही उसमें एक प्रकार की शक्ति का संचार होता है, अतः शब्द की इस शक्ति के आधार पर ही लोकेच्छा के संकेत के साहाय्य से किसी अर्थ को या तो ग्रहण करता है अथवा उसे छोड़कर दूसरा अर्थ ग्रहण कर लेता है। अतः सम्बन्ध ही शब्द की शक्ति है, "शब्दार्थ सम्बन्धः शक्तिः"।

शब्दार्थ के इस सम्बन्ध को 'शक्ति' 'वृत्ति' और 'व्यापार' नाम दिया गया है, अतः शब्दार्थ, सम्बन्ध, शब्द-शक्ति, शब्द वृत्ति और शब्द व्यापार सभी पर्याय माने जा सकते हैं। इस प्रकार से स्पष्ट है कि शब्द से अर्थ का जो बोध होता है, उसमें शब्द अर्थबोध का कारण है, अर्थ उसका कार्यहै और यह शब्द शक्ति कारण का व्यापार है इस व्यापार को समझने के लिये निम्न-लिखित वर्गों में बाँटा जा सकता है:—

१, वैयाकरणों व ध्वनिवादियों में मान्य तीन शक्ति अभिधा, लक्षणा व्यञ्जना।

२. मीमांसकों की तीन शक्ति—अभिधा लक्षणा, और तात्पर्या।

३. भट्ट नायक के मत में तीन शक्ति—अभिधा, **भावकत्व और भोजकत्व, वाचक शब्द और अभिधा व्यापार**—जो शब्द साक्षात् सांकेतिक अर्थ को अभिधा शक्ति से व्यक्त करता है, उसे अभिधा कहते हैं[1] अर्थात् लोक व्यवहार में संकेत की सहायता से ही शब्द अर्थविशेष का प्रतिपादन करता है, अतः जिस शब्द का जिस अर्थ में बिना किसी व्यवधान के संकेत का ग्रहण होता है वह शब्द उस अर्थ का वाचक होता है[2]। इस स्थान पर सांकेतित अर्थ की चर्चा की गई है, इस सम्बन्ध में सामान्यतया तीन प्रश्न उठते हैं।

१. संकेत ग्रहण के उपाय क्या हैं ?

२. संकेत ग्रहण का विषय व्यक्ति है या जाति ?

३. संकेत कितने प्रकार का होता है ?

संकेत के आठ साधनों की चर्चा मुख्य रूप से की गई है इनमें 'व्यवहार' प्रमुख हैं, क्योंकि इसी के आधार पर 'आवापोद्वाप' क्रिया के द्वारा बालक संकेत

---

१. साक्षात्संकेतितं योऽर्थमभिधत्ते स वाचकः। काव्य प्रकाश २/७

२. संकेत सहाय एव शब्दोऽर्थविशेषं प्रतिपादयतीति यस्य यत्र अव्य-वधाने न संकेतो ग्रह्यते स तस्यवाचकः। काव्य प्रकाश द्वितीय उल्लास

ग्रहण करता है। व्यवहार के अतिरिक्त अन्य सात ग्राहक व्याकरण, उपमान, कोश, आप्तवाक्य, वाक्यशेष, विवृत्ति अर्थात् व्याख्या और सिद्धपद (ज्ञात पद) का सान्निध्य हैं [1] इनमें व्यवहार में अन्वय-व्यतिरेक बुद्धि के आधार पर बालक की बुद्धि क्रियाशील होती है और वह किसी शब्द का अर्थ इसी साधन के द्वारा जान लेता है, अतः संकेत की सहायता से ही शब्दों द्वारा अर्थ का ज्ञान होता है। अर्थात् अर्थ में संकेत का होना अनिवार्य है। यह संकेत कहीं तो साक्षात होता है कहीं असाक्षात्। जहाँ संकेत साक्षात् होता है, वहाँ शब्द की अभिधा शक्ति कार्य करती हैं और जहा असाक्षात् संकेतित अर्थ कार्य करता है, अर्थात् परस्पर सम्बन्ध से एक अर्थ से दूसरे अर्थ का ज्ञान होता है वहाँ शब्द की अन्य शक्तियाँ क्रियाशील रहती हैं, यानी साक्षात् संकेत वाला अर्थ जब किसी प्रयोजन विशेष से उस से सम्बन्धित किसी अप्रसिद्ध अर्थ से अपना सम्बन्ध जोड़ लेता है तो वहाँ अभिधा के अतिरिक्त दूसरी शक्ति काम करने लग जाती हैं।

उपर्युक्त पंक्तियों में संकेत का जो उल्लेख किया गया है उसके सम्बन्ध में दार्शनिकों में बड़ा मतभेद है।

(१) व्याकरण दर्शन में इसके चार भेद मानते हैं, महा भाष्यकार के अनुसार शब्दों की चार प्रवृत्तियाँ होती हैं, जाति शब्द, गुण शब्द, क्रिया शब्द और यदृक्षा शब्द।[2] इनमें प्रवृत्ति-निवृत्ति के योग्य व्यक्ति ही होता है, परन्तु उसमें संकेत 'आनन्त्य' और व्यभिचार' दोष के कारण न मानकर उसकी **उपाधि में ही संकेत ग्रहण माना जाता है**। अतः पतञ्जलि के अनुसार संकेन-ग्रह व्यक्ति के उपाधि भूत जाति गुण क्रिया और यदृक्षा आदि धर्मों में ही होता है। इन चतुर्विध शब्दों के विभाग का समर्थन भाष्यकार ने भी किया है।[3] उदाहरण के लिये यदि 'गो' से सास्नादिमान एक पिण्ड विशेष का जो बोध होता है, उसका कारण उसकी जाति विशेष ही है और गोत्व जाति सब गो व्यक्तियों में एक ही है, इससे एक जगह संकेत हो जाने से सब गो व्यक्तियों की उपास्थिति हो जाती

१. शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानः कोशाप्त वाक्याद् व्यवहारतश्च।
वाक्यस्य शेषाद् विवृत्तेर्वदन्ति सानिध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः॥

२. चतुष्टयी च शब्दानां प्रवृत्तिः जाति शब्दाः, गुण शब्दाः, क्रिया शब्दाः, यदृक्षा शब्दाश्चतुर्धाः।

३. गौ शुक्लश्चलो डित्थ इत्यादौ चपुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः इतिमहा-भाष्यकारः—काव्य प्रकाश।

है। कहा भी हैं कि "गौ स्वरूपतः न गौ होती है और न अ-गौ, अपितु गोत्व (जाति) के सम्बन्ध से ही गौ कहलाती है।[1] अतः वस्तु का प्राणप्रद जीवन धायक वस्तु धर्म जाति कहा जाता है।

(२) मीमांसकों ने केवल जाति रूप एकविध सांकेतिक अर्थ को ही माना है, इनके अनुसार शब्दों की उपाधि में संकेत न होकर उनकी जाति में ही संकेतग्रह मानना उचित है और 'जाति' या सामान्य एकाकार प्रतीति के कारण को कहते है। 'अनुवृत्ति प्रत्यय हेतुः सामान्यम् तथा वह नित्य और अनेक में समवेत रहता हैं। 'नित्यत्वे सत्यनेक समवेतत्वं सामान्यम्' इस प्रकार विभिन्न घट व्यक्तियों में घटत्व सामान्य, विभिन्न पाक क्रियाओं में पाकत्व सामान्य, विभिन्न वस्तुओं में आश्रित शुक्लत्व में शुक्लत्व सामान्य और विभिन्न व्यक्तियों द्वारा उच्चारित डित्यादि में डित्थत्व **सामान्य ही है**। अतः जाति गुण क्रिया यदृक्षा की उपाधियों में संकेत ग्रह न होकर इन सब में रहने वाली जाति सामान्य **को ही प्रवृत्ति-निमित्त मानकर उसमें** संकेत ग्रह करना उचित है।[2]

(३) नैयायिकों के अनुसार संकेत ग्रह न केवल व्यक्तियों में है और न केवल जातियों में ही हैं, क्योंकि जाति में शक्ति मानकर यदि उससे व्यक्ति का आक्षेप से बोध कराया जाय तो शब्द-बोध में उसका अन्वय नहीं हो सकता। शब्द के द्वारा ही शाब्दी आकांक्षा पूरी होती है। अतः नैयायिक किसी एक में शक्ति ग्रह न मानकर **जाति विशिष्ट व्यक्ति में संकेत मानते हैं**। नैयायिक सिद्धान्त भी है कि जाति तथा आकृति से विशिष्ट व्यक्ति ही पद का अर्थ होता है[3] इसी को मम्मट ने "तद्वान्" शब्द द्वारा बताया है।

उपर्युक्त तीन मतों में यहाँ मुख्यतः उपयोगी विचार यह है कि शब्द का जो साक्षात् सांकेतित अर्थ होता है उसे ही वाचक कहते हैं अर्थात् इससे जिस अर्थ का बोध होता है, वह वाच्यार्थ है और इसे ही मुख्यार्थ भी कहते हैं इसी मुख्यार्थ के बोध में शब्द का जो व्यापार होता है उसे **अभिधा व्यापार** कहते है[4] अतः स्पष्ट हो गया कि संकेत का अर्थ जब सीधे समझ में आ जाय तब वह शब्द वाच्य और उस अर्थ का बोध कराने वाला शब्द व्यापार अभिधा कहा जाता है।

---

१. न हि गौ स्वरूपेण गौ नाप्यगौः गोत्वाभिसम्बन्धात्तु गौः'। वाक्य प्रदीप।

२. सर्वेषां शब्दानां जातिरेव प्रवृत्ति निमित्तीत्यन्ये। का० प्र० द्वितीय उल्लास

३. व्यक्त्याकृति जात यस्तु पदार्थः। न्याय सूत्र २/२/६८

४. स मुख्योऽर्थस्तत्र मुख्यो व्यापारोऽस्याभिधोच्यते। २/८/का० प्र०

इस अभिधेय शब्द के सामान्यतया तीन भेद होते हैं : (i) रूढ़ि (ii) यौग और (iii) योग रूढ़ि । इसी शब्द शक्ति के अनुसार शब्द और अर्थ को भी रूढि, यौगिक और योग रूढ़ कहते हैं ।

(i) **रूढ़ि शब्द**—जिन शब्दों की व्युत्पत्ति नहीं हो सकती वे रूढ़ कहे जाते हैं, और उसके बोध में अभिधा की रूढ़ि शक्ति व्यापार करती है जैसे मणि, हरि, मृग आदि ।

(ii) **यौगिक**—शास्त्रीय प्रक्रिया द्वारा जिनकी व्युत्पत्ति हो सकती है जैसे पावक गायक आदि शब्द और इसके बोध में व्यापार करने वाली शब्द की शक्ति **यौगिक** शक्ति हैं ।

(iii) **योग रूढ़**—व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ मुख्य अर्थ से संकेतित न होकर अन्य अर्थ में रूढ़ हो जाता है, जैसे पंकज, अर्थात् कीचड़ में उत्पन्न होने वाला परन्तु यह कमल अर्थ में प्रयुक्त हो गया है, इसकी व्युत्पत्ति होते हुए भी यह अर्थ न मानकर दूसरा अर्थ ग्रहण करते हैं ।

लक्षणा—बताया जा चुका है कि शब्द का जो साक्षात संकेतित अर्थ होता है वह अभिधा व्यापार का विषय है और उस अर्थ से भिन्न जो असाक्षात् संकेतित अर्थ अर्थात् संकेतित अर्थ की परम्परा से होकर आने वाला उस से सम्बन्धित जो दूसरा अर्थ है वह अभिधा व्यापार का विषय न होकर लक्षणा व्यापार का विषय है । इसमें वाक्यादि से प्रयुक्त पदों से अर्थों का जो बोध होता है, उसके अन्वय में बाधा होती है अर्थात् **अन्वयानुपपत्ति का होना लक्षणा का प्रथम लक्षण है** । अतः तात्पर्य की उपपत्ति के लिये रूढ़ि या प्रसिद्धि के कारण या किसी विशेष प्रयोजन की सिद्धि करने के लिये मुख्यार्थ से सम्बद्ध किसी **अन्य अर्थ की प्रतीति** होने लगती है, यह अन्य अर्थ ही लक्ष्यार्थ है, और उसकी बोधिका शक्ति को लक्षणा शक्ति कहते है ।[१] इस लक्षणा के लिये तीन तत्वों का होना आवश्यक है । **प्रथम मुख्यार्थबाध द्वितीय मुख्यार्थ का लक्ष्यार्थ से सम्बन्ध और तृतीय रूढ़ि या प्रयोजन में अन्यतर का होना** । कुछ लोगों के अनुसार **जो लक्षित होता है वह ज्ञान ही लक्षणा है** । परन्तु यह कथन असंगत है क्योंकि लक्षणा ज्ञान नहीं हो सकता वह शब्द की शक्ति विशेष है । मीमांसक कुमारिल भट्ट ने **अभिधा से अविनाभूत प्रतीति को लक्षणा माना है** ।[२] मम्मट

---

१. मुख्यार्थं बाधे तद्योगे रूढ़ि तो ऽथ प्रयोजनात् ।
अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत् सा लक्षणारोपिता क्रिया । २/९ का० प्र०

२. अभिधेया विनाभूत प्रतीतिः लक्षणोच्यते ।—श्लोक वार्तिक

भी शब्द व्यापार को ही लक्षणा मानते हैं, अर्थात् अभिधा से अविनाभूत जो अन्य अर्थ की प्रतीति का कारण भूत व्यापार है उसे ही लक्षणा कहते हैं। जैसे कुशल पद का व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ है कुशा को जाने वाला परन्तु रूढ़ि से इसका अर्थ 'चतुर' होता है। अतः यहां प्रसिद्धि के कारण साक्षात संकेतित अर्थ न होने से रूढ़ि से अन्य अर्थ हो गया इसी प्रकार 'गङ्गायां घोषः' में घोष का आधारत्व गंगा की धारा में सम्भव न होने से मुख्यार्थ बाध है और इसका अर्थ "गंङ्गा के तट पर आभीरपल्ली है" यह लिया जाता है, इसका प्रयोजन यह है कि मुख्य अर्थ से शैत्य पावनत्व का बोध नहीं हो पाता और इस प्रकार के वाक्य प्रयोग से इसका बोध हो गया। अतः सिद्ध होता है कि मुख्य अर्थ से जिस प्रयोजन की सिद्धि नहीं हो पायी थी उसकी सिद्धि के लिये मुख्य अर्थ से सम्बन्धित **जिस अमुख्य अर्थ से इस प्रयोजन को लक्षित किया जा रहा है, शब्द का वह आरोपित शब्द व्यापार ही लक्षणा कहा जाता है,** इसी का समर्थन करते हुए मीमांसा सूत्र के काव्यकार शबर स्वामी ने कहा है कि कोई शब्द अपने अर्थ से अतिरिक्त दूसरे शब्द के अर्थ बोध में कैसे प्रयुक्त होता है, इसलिये कि वह अपने अर्थ से अभिधा के द्वारा किसी भी अन्य अर्थ को किसी न किसी प्रयोजन के लिये ही प्रतिपादित करता है।

लक्षणा भेद—प्रारम्भ में लक्षण के केवल दो भेद किये गये हैं शुद्धा और गौड़ी बाद में अवान्तर भेदों के आधार पर मम्मट ने कुल छः भेद किये है, साहित्य दर्पणकार विश्वनाथ के अनुसार अवान्तर भेदो सहित लक्षणा के सौलह भेद हैं। इसके पूर्व कि इनके आवान्तर भेदों का ज्ञान हो, इन दोनों के स्वरूप का ज्ञान हो जाना आवश्यक है। गौड़ी और शुद्धा लक्षणा के दोनों भेदों में तीनों तत्वों-मुख्यार्थ बाध मुख्यार्थ सम्बन्ध और रूढ़ि या प्रयोजन में से अन्यतर का होना आवश्यक हैं। दोनों में वाच्यार्थ लक्ष्यार्थ का अभेद रहता है, इन दोनों में मम्मट के अनुसार प्रमुख भेद यह है कि शुद्धा में उपचार का मिश्रण नहीं होता। गौड़ी में उपचार यानि सादृश्य का होना आवश्यक है [1] दूसरा भेद यह है कि शुद्धा लक्षणा में तद्योग (लक्ष्यार्थ का मुख्यार्थ से योग) **सादृश्येतर सम्बन्ध** से रहता है यह सम्बन्ध कारण **कार्यरूप सामिप्यादि और अङ्गाङ्गि भाव सम्बन्ध रहता** है गौड़ी में यह तद्योग सादृश्य सम्बन्ध पर रहता है, इसी को उपचार कहते हैं। जब दो पदार्थों में सादृश्य के कारण उनका

---

१. उभयरूपा चेयं शुद्धा उपचारेणा मिश्रितत्वात्। का० प्र० ५७ आ० विश्वेम्वर

भेद ज्ञान समाप्त हो जाये तो वहां उपचार होता है[1] इसमें रूपक अलंकार का प्रयोग देखा जाता है, सादृश्य वाले दोनों पदार्थों में एक आरोप्य विषय और दूसरा आरोप्यमाण होता है, उदाहरण के लिये **गौर्वाहीक:" सिंहो माणवक:'** आदि में क्रमश: मौग्ध्यादि और शौर्यादि के सादृश्य के कारण अभेद की स्थापना हुई थी । गौड़ी लक्षणा के इस सादृश्य का भी एक विशेष प्रयोजन है कि वाहिक की मूर्खता का आरोप बैल की मूर्खता में करना हृदयगत भावों की अभिव्यक्ति करना है । अत: गौड़ी वृत्ति के साथ **निमित्त या प्रयोजन अवश्य होगा ।** उपर्युक्त उदाहरण में शौर्यादि के सादृश्य की प्रतीति करना ही प्रयोजन है और 'यह बच्चा शेर है' वाक्य में बच्चे में शौर्य—आदि के सादृश्यातिशय के कारण यह प्रयोग उपचार मूलक है, इसलिये इसमें गौण प्रयोग है, और गौण लक्षणा है इस प्रकार मम्मट के अनुसार उपचार के अमिश्रण में शुद्धा और मिश्रण में गौड़ी लक्षणा मानी जायगी ।

मुकुल भट्ट शुद्धा और गौणी के इस भेद को न मानकर दोनों में ही उपचार को मानते हैं इसलिये उन्होंने शुद्धोपचार और गौणोपचार भेद से उपचार मिश्रा लक्षणा के दो भेद किये है । और पुन: उनके सारोपा और साध्यवसाना भेद किये हैं । इस प्रकार शुद्धा के उपादान और लक्षण लक्षणा के दो भेदों को मिला करके कुल लक्षणा के छः भेद हो जाते हैं । इसी का समर्थन मुकुल भट्ट ने अपने ग्रन्थ में किया है । इस स्थान पर उपचार का अर्थ अन्य के लिये अन्य का प्रयोग है । इस प्रकार जहाँ सादृश्य[2] के आधार पर अन्य के लिये अन्य का प्रयोग होता है, गौणोपचार और जहां सादृश्य से भिन्न कार्य कारण भाव आदि के कारण अन्य के लिये अन्य का प्रयोग किया जाय वहाँ शुद्धोपचार कहा जाता है । जैसे आयुर्घृतम् में आयु के कारणभूत आयु के लिये घृत ही कहा गया है, यहाँ पर कार्य-कारण भाव सम्बन्ध है । अत: यहाँ शुद्धोपचार हुआ और 'गौर्वाहीक:' में सादृश्य के कारण गौणोपचार है । अतः शुद्धा और गौणी दोनों में ही उपचार है । मुकुल भट्ट ने इन दोनों के भेद के लिये 'ताटस्थ्य' सिद्धान्त स्वीकार किया है । इनके अनुसार शुद्धा लक्षणा (लक्षणा उपादान) के भेदों में वाच्यार्थ लक्ष्यार्थ से सर्वदा

---

१. अत्यन्त विशकलितयो: सादृश्यतिशयमहिम्ना भेद प्रतीति स्थगनं उपचार: ।

२. द्विविध: उपचार: शुद्धो गौणश्च । तत्र शुद्धो यत्र मूलभूतस्योपमानोपमेयभावस्याभावेनोपमानगत गुण सदृश्यगुणयोगलक्षणासम्भवात् कारण कार्य भावादि सम्बन्धाल्लक्षणया वस्तन्तरमुपचर्यं ते । यथा आयुर्घृतमिति: । अभिधावृत्तिमातृका । पृष्ठ ७–८

तटस्थ्य रहा करता है। प्रतीति का कोई उपराग नहीं। इसका खण्डन करते हुये मम्मट ने लिखा है कि शुद्धा लक्षणा के दो भेदों में लक्ष्य अर्थ और लक्षक अर्थ का भेद प्रतीति रूप ताटस्थ्य नहीं है क्योंकि गङ्गादि शब्दों के द्वारा तटादि का उस प्रकार प्रतिपादन करने में अभेद की प्रतीति होने पर भी अभीष्ट अभिप्राय की प्रतीति हो सकती है।[1]

ऊपर कहे गये शुद्धा लक्षणा के **कार्यकारण अङ्गाङ्गी भाव** और **सामीप्यादि** से भिन्न लक्षणा के अन्य नियमों की भी चर्चा की गई है इनमें **तादर्थ सम्बन्ध, स्व-स्वामिभाव सम्बन्ध** (राजकीय पुरुष: राजा) **अवयव अवयवी विभाग सम्बन्ध** (अग्रहस्थ-हस्त) **तात्कर्म्य सम्बन्ध** (अतक्षातक्षा) भी शुद्धा लक्षणा कहे गये हैं। इनके द्वारा भी शुद्धा और गौड़ी का भेद लक्षित किया जा सकता है।

इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि मम्मट के अनुसार शुद्धा के चार भेद (लक्षण, उपादान, सारोपा, साध्यवसाना) तथा गौड़ी के दो भेद सारोपा और साध्यवसाना माना जायगा तथा इनका भेद सादृश्य सम्बन्ध से गौड़ी और सादृश्येतर से शुद्धा लक्षणा होगी[2] परन्तु मुकुल भट्ट ने छः भेद माने हैं, परन्तु थोड़े अन्तर के साथ उनके अनुसार शुद्धा और उपचार युक्ता लक्षणा में शुद्धा के उपादान और लक्षण लक्षणा तथा उपचार के शुद्धोपचार और गौड़ोपचार और इन दोनों में प्रत्येक के दो-दो भाग आरोप और अध्यवसाना से चार भेद होकर कुल छः भेद हो जाते हैं।

इनमें शुद्धा लक्षणा में लक्षण-लक्षणा वहाँ होगी जब दूसरे अर्थ की सिद्धि के लिये अपने अर्थ का समर्पण कर दिया जाय जैसे गङ्गायां घोषः में गङ्गा शब्द अपने प्रवाह रूप अर्थ का परित्याग कर देता है और तट को लक्षित करता है। तथा उपादान लक्षणा में अपने अर्थ की सिद्धि के लिये दूसरे अर्थ का आक्षेप कर लिया जाता है, जैसे कुन्ताः प्रविशन्ति यष्टयः प्रविशन्ति में कुन्ता से **कुन्तधारी पुरुष** का आक्षेप कर लिया जाता है। यहीं पर मुकुल भट्ट (मीमांसक) के उपादान लक्षणा के दोनों उदाहरणों "गौरनुबन्ध्यः तथा

१. अनयोर्लक्ष्यस्य लक्षकस्य च न भेदरूपं ताटस्थ्यम्, तटादीनां हि गङ्गादिशब्दैः प्रतिपादने तत्प्रतिपत्तौहि प्रति पिपादायीषित प्रयोजन सम्प्रत्ययः का० प्र०

२. भेदा विमौ च सादृश्यात् सम्बन्धान्तरस्त था,
गौड़ौ शुद्धौ च विज्ञेयौ लक्षणातेन षड्विद्या। १२। १२ का०प्र०

"पीनो देवदत्तो दिवा न भुक्ते" का खण्डन किया गया है क्योंकि इन दोनों में रूढ़ि या प्रयोजन में से कोई भी एक नहीं है। अपितु अविनाभाव सम्बन्ध से इसका आक्षेप से बोध होता है तथा दूसरे उदाहरण में 'अर्थापत्ति प्रमाण' कार्य करती है।

गौड़ी सारोपा वहाँ होगी जहाँ उपमान और उपमेय शब्दतः कहे गये हों और जब आरोप्यमान के द्वारा आरोप विषय (उपमेय) का निगरण हो जाय तो वहाँ साध्यवसाना लक्षणा होगी, इस प्रकार आरोप में रूपक अलंकार और साध्यवसाना में रूपकातिशयोक्ति काम करता है जैसे प्रथम का उदाहरण "गौर्वाहीकः' और द्वितीय का 'गौर्जल्पति' गौरयम्) है। गौर्जल्पति में उपमान गौ ने वाहीक उपमेय का निगरण कर लिया है और यह निगरण सादृश्य के आधार पर है, अतः गौड़ी साध्यवसाना है।

शुद्धा में सादृश्येतर सम्बन्ध पर आरोप और अध्यवसान होता है। यह कारण कार्य तात्कर्म्य आदि पर निर्भर रहता है। उदाहरणतः 'आयुर्घृतम्' में कारण कार्य सम्बन्ध होने पर आरोप्यमाण आयु और आरोप विषय घृत दोनों का शब्दतः कथन है और एक का दूसरे पर आरोप किया गया है। अतः शुद्धासारोप लक्षणा है, तथा 'आयु पिबामि (आयुरेवेदम्)' आरोप विषय घृत का शब्दतः कथन न होने पर तथा कारण कार्यभाव सम्बन्ध होने पर शुद्धा साध्यवसाना लक्षणा होगी। इस प्रकार यहाँ तक लक्षणा के छः भेदों का वर्णन किया गया है। इसका समर्थन मुकुलभट्ट के आधार पर मम्मट ने भी "लक्षणातेन षड्विधा" के कथन द्वारा किया है।

लक्षणा के सम्बन्ध में रूढ़ि और प्रयोजनवती जिन दो में अन्यतर का होना आवश्यक बताया गया है, उनमें प्रयोजनवती लक्षणा का बोध किस शक्ति द्वारा होता है इस सम्बन्व में आचार्यों में बड़ा मतभेद है। ध्वन्यालोककार ने प्रयोजनवती लक्षणा में प्रयोजन को व्यञ्जना गम्य माना है। मम्मट नेभी इसी का अनुसरण किया है, परन्तु मुकुल भट्ट व्यञ्जना जैसी किसी शक्ति को नहीं मानते। वे इन दोनों को लक्षणा का प्रयोजक हेतु मानते हैं और इस प्रकार प्रयोजन की प्रतीति भी लक्षणा से ही मानी गयी है, यथा "**अत्र च लक्षणायाः प्रयोजनं तटस्य** गङ्गात्वैकार्थ समवेतां संविज्ञातपद पुण्यत्व मनोहरत्वादि प्रतिपादनम्। न हि तत पुण्यत्व मनोहरत्वादि स्वशब्दैः स्प्रष्टं शक्यते" इन पंक्तियों द्वारा पुण्यत्व मनोहरत्व का प्रतिपादन लक्षणा से ही मुकुल भट्ट ने माना है, और उनकी प्रतीति स्व शब्द द्वारा अभिधा से नहीं हो सकती। यह भी उनका मत है, परन्तु ध्वनिवादी आचार्यों ने इस प्रयोजन की प्रतीति अभिधा लक्षणा

या तात्पर्या से न मानकर व्यञ्जना नामक एक अलग वृत्ति से माना है, जिसका विस्तारपूर्वक प्रतिपादन काव्य-प्रकाश के पञ्चम उल्लास में किया गया है। मम्मट ने पूर्ण विश्वास के साथ द्वितीय उल्लास में भी कहा है कि जिस पुण्यत्व मनोहरत्व रूप प्रयोजन विशेष की प्रतीति कराने के लिये लक्षणा का आश्रय लिया जाता है, शब्द से गम्य उस फल रूप प्रयोजन के विषय में व्यंजना के अतिरिक्त और कोई शब्द का भिन्न व्यापार नहीं हो सकता है[1]। व्यञ्जना-व्यापार के द्वारा ही प्रयोजन का बोध क्यों होता है, इसका प्रतिपादन कारिका १६—१८ तक में मम्मट ने किया है इस प्रकार इस मत की स्थापना की गई है कि उस व्यङ्ग रूप प्रयोजन के विषय में जिस शब्द शक्ति के द्वारा इसका बोध होता है, वह लक्षणा से अतिरिक्त व्यञ्जना शक्ति के द्वारा ही साध्य है और उसे व्यञ्जनात्मक व्यापार कहते हैं। इस प्रकार व्यंग की दृष्टि से लक्षणा के जो तीन भेद अव्यंग या गूढ़व्यंग या और अगूढ़व्यंग बताये गये है उसमें व्यंग्य अर्थ की सिद्धि करने वाला शब्द का व्यापार ही व्यञ्जना व्यापार कहा जाता है।[2]

इस व्यञ्जना के दो प्रमुख भेद हैं। शाब्दी व्यञ्जना और आर्थी व्यञ्जना। शाब्दी व्यञ्जना के भी दो भेद अभिधा मूला और दूसरी लक्षणा मूला अभिधा मूला (विवक्षित वाच्या) के भी असंलक्ष क्रम व्यङ्ग्य और संलक्ष्य व्यङ्ग ये दो भेद हैं। इनमें असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य रसादि ध्वनि ही हैं और संलक्ष्यक्रम व्यंग्य के अन्तर्गत शब्दशक्त्युत्थ, अर्थ शक्त्युत्थ और उभय शक्त्युत्थ ये तीन भेद हैं। इनमें शब्द—शक्त्युत्थ के वस्तुध्वनि और अलंकारध्वनि, तथा अर्थशक्त्युत्थ के १२ अवान्तर उपभेद और उभय शक्त्युत्थ के ६ भेद अर्थात् संलक्ष्यक्रम व्यंग्य के १५ और असंलक्ष्यक्रम मिला कर कुल १६ भेद अभिधामूला व्यञ्जना के होते हैं। अविवक्षित वाच्य अर्थात् लक्षणा मूला ध्वनि के कुल दो भेद अर्थान्तर संक्रमित और अत्यन्त तिरस्कृत नाम से है।

आर्थी व्यंजना के दश भेद हैं जो वक्ता, बोद्धा, काकु, वाक्य, वाच्य, अन्य सन्निधि, प्रस्ताव, देश, काल और आदि के वैशिष्ट्य से अन्यार्थ की

---

१. यस्य प्रतीतिमाधातुं लक्षणा समुपास्यते। २/१४
फले शब्दैकगाम्येऽत्र व्यञ्जनान्नापराक्रिया २/१४. का० प्र०

२, व्यंग्येन रहिता रूढ़ौ सहितातु प्रयोजने।
तच्च गूढमगूढंवा तदेषा कथिता त्रिधा।
तद्भूर्लाक्षणिकः तत्र व्यापारो व्यञ्जनात्मकः २/१३,१४ का० प्र०

प्रतीति करता है । इस अन्यार्थ की प्रतीति कराने वाला जो अर्थ का व्यापार है उसे आर्थी व्यंजना कहते हैं[1] यह आर्थी व्यञ्जना कभी वाच्य संभवा कभी लक्ष्य संभवा और कभी व्यंग्यसंभवा होती है ।

जब वाक्य के वाक्यार्थ से अन्य अर्थ की व्यञ्जना होती है तो **वाच्य सम्भवा** आर्थी-व्यञ्जना होगी । यदि इसका पर्याय भी रख दिया जाय तो इसमें कोई अन्तर नहीं आता । जैसे चित्रपट के प्रतिदिन के देखने वाले व्यवसनी से यदि कहा जाय अब सन्ध्या हो गई है, तो यहाँ व्यंग्य अर्थ निकलता है, कि अब चित्रपट देखने चलो और यह बोद्धा के आधार पर है । सन्ध्या का यदि पर्याय रख दें तो भी व्यंग्य बोध में अन्तर नहीं आयेगा । इसी प्रकार लक्ष्य सम्भवा व्यञ्जना में श्रोतृवैशिष्टय होता है, यथा यदि कोई पिता अपने पुत्र के अयोग्य शिक्षक से कहे कि लड़का अब पहले से बहुत अधिक सुधर गया है, तो यहाँ विपरीत लक्षणा से लड़का बिगड़ गया है यह अर्थ होगा, तथा शिक्षक की अयोग्यता यहाँ व्यंग्य है । यदि सुनने वाला शिक्षक के अतिरिक्त और कोई होगा तो इसमें व्यञ्जना नहीं हो सकेगी । इस उदाहरण में लड़का बिगड़ गया है—इस लक्ष्यार्थ से यह ध्वनित होता है कि शिक्षक अयोग्य है । यहाँ ध्यान देने की बात है कि आर्थी व्यञ्जना में कोई न कोई वैशिष्ट्य अवश्य होना चाहिए तथा लक्ष्य सम्भवा आर्थी व्यञ्जना के साथ लक्षणा मूला शाब्दी व्यञ्जना भी रहेगी[2] क्योंकि लक्षणा का प्रयोजन जो व्यंग्य रहता है उसके लिये शाब्दी रहती है और जो दूसरा व्यंग्य लक्ष्यार्थ द्वारा प्रतीत होता है उसके लिये आर्थी व्यञ्जना होती है । उपर्युक्त उदाहरण में पुत्र के अविनय का ज्ञान लक्षणा मूला शाब्दी व्यञ्जना अत्यंत (तिरस्कृतवाच्यध्वनि) से प्रकट होता है और शिक्षक की अयोग्यता और अपराध की व्यञ्जना लक्ष्य सम्भवा आर्थी व्यञ्जना के द्वारा सूचित होती है ।

व्यंग्यार्थ सम्भवा आर्थी व्यञ्जना वहाँ होगी जब एक व्यंग्यार्थ दूसरे व्यंग्यार्थ को सूचित करे । जैसे यदि अर्द्धरात्रि में भागने का विचार करने वाले दो चोरों में एक कहे देखो रजनीगंधा महक रही है तो व्यंग्य में इसका अर्थ

---

१. वक्तृबोधव्यकाकूनां, वाक्यवाच्यान्य सन्निधेः ।
प्रस्ताव देशकालादेर्वैशिष्टयात् प्रतिभाजुषाम् ।
योऽर्थस्यान्यर्थधीर्हेतु–व्यापारो व्यक्तिरेवसा ३/२१–२२

२. शब्दप्रमाणवेद्योऽर्थो व्यनक्त्यर्थान्तरं यतः ।
अर्थस्य व्यञ्जकत्वे तत् शब्दस्य सहकारिता ३/२३ का० प्र०

रात्री हो गई, यह अर्थ लिया जायगा और उससे दूसरा व्यंग्य यह निकला कि अब भाग जाना चाहिए। इस प्रकार सभी वाच्य लक्ष्य और व्यंग्य अर्थ में निर्विवाद रूप से व्यंग्यत्व रहता है[1]। इस आर्थी व्यञ्जना का व्यापार सदा शब्द-निष्ठा होता है परन्तु यह शब्द अर्थ का सहकारी होता है। इस प्रकार शाब्दी व्यञ्जना में भी अर्थ का सहयोग होता है क्योंकिवह व्यञ्जना शब्द दूसरे अर्थ के योग से उस प्रकार का अर्थात् दूसरे अर्थ का व्यञ्जक होता है अतः उसके साथ सहकारी रूप में अर्थ की व्यञ्जकता भी स्वयं सिद्ध हो जाती है।[2]

अभी आर्थी व्यञ्जना के जो वक्ता, बोद्धा, काकु आदि के वैशिष्ट्य में जिन दश प्रकारों की चर्चा की गई है, उन सभी प्रकारों में व्यञ्जना का आधार अर्थ ही होता है और उनमें कोई न कोई विशिष्टता अवश्य रहती है। इनमें काकु का अर्थ कण्ठ की ध्वनि से है, आदि से चेष्टा का ग्रहण करना चाहिए। शेष स्पष्ट है। वक्तृ-वैशिष्ट्य में वक्ता का प्राधान्य और **बोधव्य-वैशिष्ट्य** में बोद्धा का प्राधान्य विवक्षित होता है, इसी प्रकार **वाक्य-वैशिष्ट्य** वहाँ होगा जहाँ वाक्य का प्राधान्य विवक्षित हो और जहाँ वाच्य अर्थ का प्राधान्य विवक्षित होगा वहाँ **वाच्य-वैशिष्ट्य** माना जायगा। अतः इस भेद का मूल आधार विवक्षा ही है।

लक्षणामूला शाब्दी व्यंजना— लक्षणा के प्रसंग में बताया गया है कि रूढ़ि और प्रयोजनवती लक्षणा में से प्रयोजन व्यंग्य रहता है और इसे उदाहरणों द्वारा सिद्ध भी किया जा चुका है। इसमें प्रयोजन या व्यंग्यार्थ को सूचित करने के लिए लक्षणा का आश्रय लिया जाता है। इस लक्षणा के द्वारा प्रयोजन की जो प्रतीति होती है, उसमें शब्द की जो शक्ति काम करती है, उसे लक्षणामूला शाब्दी व्यञ्जना कहते हैं। इस प्रयोजन की प्रतीति संकेत का अभाव होने से अभिधा द्वारा सम्भव नहीं है। लक्षणा के तीनों हेतुओं के अभाव में उस प्रयोजक सामग्री के न होने से प्रयोजन का बोध लक्षणा से भी नहीं हो सकता है। केवल लक्षित अर्थ में अर्थात् "गङ्गायां घोषः!" वाक्य में पहले लक्षणा से तट का बोध और बाद में लक्षणा मूला व्यञ्जना से शैत्य पावनत्वादि प्रयोजनों की प्रतीति होती है। अतः तट आदि में जो पावनत्वादि

---

१. सर्वेषां प्राय सोर्थानां व्यञ्जकत्वमपिप्यते।

२. यत सोऽर्थान्तर युक्तथा।
अर्थोऽपि व्यञ्जकस्तत्र सहकारितया मतः। २/२०

विशेष प्रयोजन रूप अर्थ प्रतीत होता है, उसका बोध अभिधा, तात्पर्या और लक्षणा से न होकर भिन्न व्यापार व्यञ्जना से गम्य है जिसे **व्यंजन ध्वनन द्योतम् आदि शब्दों से माना जा सकता है।**[1] इस लक्षणा मूला ध्वनि या अविवक्षित वाच्यध्वनि के दो भेदों में **अर्थान्तर संक्रमित** लक्षणा मूला ध्वनि वहाँ होगी जहाँ शब्द का अर्थ दूसरे अर्थ में संक्रमित हो जाय अर्थात् वाक्य में प्रयुक्त अनेक पद अपने वाच्यार्थ के अनुकूल न होने से दूसरे अर्थ में संक्रमित हो जाते हैं और जहाँ शब्द अपने सामान्य अर्थ को एकदम छोड़कर स्व-सम्बद्ध किसी विशिष्ट अर्थ का बोध कराने लग जाते हैं वहाँ **अत्यन्त तिरस्कृत लक्षणा मूला वाच्य ध्वनि** कहा जायगा । इसमें वाच्यार्थ का ठीक रूप से अन्वय नहीं हो पाता और विपरीत लक्षणा से उसका अर्थ समझ में आता है। तथा शब्दों का अर्थ एकदम उल्टा लगता है।

अभिधामूला शाब्दी व्यंजना—वहाँ होगी, जब अनेकार्थक शब्द के प्रयोग में उस शब्द की जो वाचकता होती है वह किसी एक अर्थ में संयोगादि के द्वारा नियन्त्रित हो जाती है तब उससे भिन्न अवाच्य अर्थ की प्रतीति कराने वाला शब्द का व्यापार अभिधामूला शाब्दी व्यञ्जना कहा जाता है।[2] इस अनेकार्थक शब्द का एक अर्थ में नियन्त्रित कर देने के **नियामक हेतुओं** में संयोग, विप्रयोग, साहचर्य, विरोधिता, अर्थ, प्रकरण, लिङ्ग, अन्यसन्निधि, सामर्थ्य, औचित्य, देश, काल, व्यक्ति (स्त्रीलिङ्ग पुलिंगादि) और स्वर आदि बताये गये है।[3] यथा हरि शब्द अर्थ यम, अनिल, इन्द्र चन्द्रमा, सूर्य, विष्णु, सिंह, रश्मि, घोड़ा, तोता, सर्प, मेढ़क आदि अनेक अर्थ वाले हैं; परन्तु यदि हम कहें कि "शंख चक्र-सहित हरि" तो यहाँ अन्य पदों के **संयोग** के कारण हरि का अर्थ केवल विष्णु ही माना जायगा। इस अनेकार्थक शब्द का एक अर्थ में नियन्त्रण हो गया है, परन्तु जो अन्य अवाच्य अर्थ हैं उनका भी यदि

---

१. तटादौ ये विशेषाः पावनत्वादयस्ते चाभिधा–तात्पर्य लक्षणाभ्यो व्यापारान्तरेणगम्या तच्च व्यञ्जन-ध्वनन-द्योतनादि शब्दवाच्यम वश्यमेषित व्यम्। का० प्र० ७६

२. का० प्र० २/१९ पृष्ठ ७७

३. संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता ।
अर्थः प्रकरणं लिङ्ग शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः ।।
सामर्थ्यमौचितीदेशः कालोव्यक्तिः स्वरादयः ।
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः ।। वाक्य प्रदीप-मर्तृहरिः

बोध होता है तो इसका कारण अभिधामूला शाब्दी व्यञ्जना ही को माना जायगा इस प्रकार इन १४ नियामक हेतुओं के द्वारा अन्यार्थ के बोधकत्व का निवारण हो जाने पर भी अनेकार्थक शब्द जो दूसरे अर्थ का प्रतिपादन करता है वहाँ अभिधामूला शाब्दी व्यञ्जना का ही व्यापार समझना चाहिए। केवल अभिधा का नहीं क्योंकि उसका एकार्थी में नियन्त्रण हो चुका है, और मुख्यार्थी बाधादिके अभाव में उसे लक्षणा भी नहीं माना जा सकता है। इस व्यञ्जना में यदि उसका पर्यायवाची शब्द रख दिया जाय तो व्यञ्जना नहीं रह जाती है। यहाँ शब्द शक्त्युत्थ ध्वनि होगी। यह वस्तु और अलंकार रूप से दो प्रकार की होती है।

इस प्रकार व्याकरणानुगत सिद्धान्त के अनुसार शब्द की तीन प्रमुख शक्तियों की चर्चा की गई। इन तीनों के अतिरिक्त तीन अन्य शक्तियों का भी प्रसंग ग्रन्थों में पाया जाता है। प्रभाकर के गुरु कुमारिल भट्ट तात्पर्या शक्ति को मानते हैं। उनके अनुसार लक्षणा में प्रयोजन का बोध वक्ता के तात्पर्य के अनुसार ही होता है और तात्पर्या शक्ति द्वारा इसका बोध होता है। अभिहितान्वय वाद में पदों से केवल अनन्वित पदार्थों की उपस्थिति, तदनन्तर वाक्य की आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि के बल से तात्पर्याशक्ति द्वारा उन पदार्थों का परस्पर सम्बन्ध रूप वाक्यार्थ बोध होता है। इस प्रकार शब्द शक्तियों का संक्षेप में वर्णन किया गया।
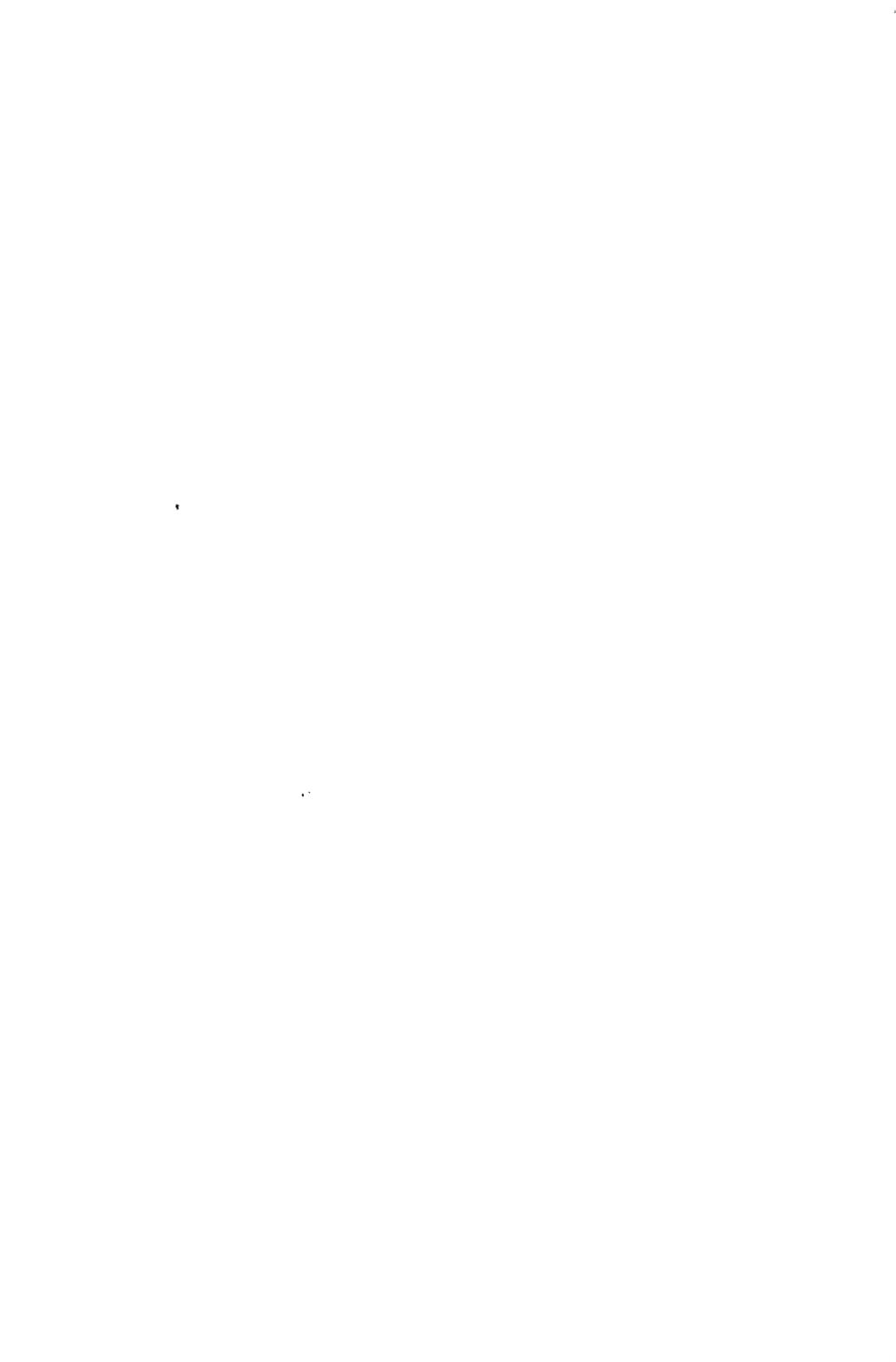
काव्य का स्वरूप

काव्य के स्वरूप का निर्धारण करते हुये आचार्य मम्मट ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के मतों को ग्रहण कर उत्तरवर्ती लोगों को प्रभावित किया है। उनमें दोनों का सफल समन्वय दिखाई पड़ता है। एक ओर तो उन्होंने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा मान्य परिभाषा के आधार पर अपना मत दिया है और दूसरी ओर उनके काव्य लक्षण के आधार पर उत्तर-वर्ती लोगों ने या तो उनकी उस परिभाषा का खण्डन-मण्डन किया है अथवा कुछ अन्तर के साथ अपनी परिभाषा दी है।

मम्मट के पूर्व आचार्य भामह और दण्डी दोनों ने ही 'शब्दार्थ' में काव्य का स्वरूप देखा है। इन्होंने अलंकार को काव्य का सर्वस्व मानते हुये उसके कला-पक्ष पर ही अधिक ध्यान दिया है। इस प्रकार साहित्य की भाषा सामान्य से भिन्न अलंकृत भाषा मानी गयी है, आगे चलकर इस अलंकार वाद की समीक्षा में वामन ने रीतिवाद का प्रचार किया और 'विशिष्ट पद रचना को ही रीति कहा है[1] इसमें अलंकारों की महत्ता न होकर उसके सौन्दर्य की महत्ता है। इन्होंने सौन्दर्य के रूप में ही अलंकार को माना है। 'अलंकृति रलङ्कारः' का यही रहस्य है। इस प्रकार आचार्य वामन के द्वारा एक समन्वयात्मक दृष्टि अपनाई गई है, जिसमें दण्डी और भामह का अलंकार रीति के सौन्दर्यवर्द्धक रूप में आया है। आचार्य वामन के मत में भी काव्य सामान्य रचना की न होकर विशिष्ट पद रचना में ही रहती है।[2] अर्थात् काव्य में "विशिष्ट शब्दार्थ" का ही महत्व होता है।

इन सबका समन्वय करने के लिए आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्तिवाद का प्रवर्तन किया। अभी तक सौन्दर्य या विशिष्ट पद रचना पर ही आचार्यों का ध्यान था। सौन्दर्य की मानसिक अनुभूति होती है, इस पर ध्यान नहीं गया था। शब्दार्थ की विशिष्ट रचना से भी हृदय पर एक प्रभाव पड़ता है परन्तु

---

१. काव्यलङ्कार सूत्र वृत्ति १/१/२

२. काव्यालङ्कार सूत्र वृत्ति १/२/२१

कवि की कलात्मकता का स्पष्टीकरण अभी तक न हो पाया था। इसी कमी की पूर्ति आचार्य कुन्तक द्वारा की गई। इन्होंने कवि की कृति का महत्व कला के रूप में मान्य ठहराया, और इस प्रकार साहित्य के कलात्मक मूल्य की स्थापना की गई। उक्ति-वैचित्र्य, वक्र-कथन और वैदग्ध्य-भणिति का महत्व इस सम्प्रदाय में मान लिया गया और पूर्ण रूप से कला पक्ष पर ही विशेष ध्यान केन्द्रित किया गया, क्योंकि वक्र-भरिणिति भी एक प्रकार का विशिष्ट शब्दार्थ ही है। इस प्रकार रस-सम्प्रदाय की केवल 'सहृदय गम्य चर्वण' तक की सीमा का अतिक्रमण कर काव्यकार के व्यक्तिगत कवि-कौशल पर भी ध्यान दिया जाने लगा। अभी तक ध्वनिवादियों के अनुसार काव्य सहृदय हृदय की अनुभूतिमात्र रही है, कवि-कृति के रूप में उसका विश्लेषण नहीं होता रहा है, कुन्तल आदि आचार्यों ने इस दिशा में भी प्रयास किया और कवि की कृति के रूप में काव्य की सिद्धि की गई। अभी तक के इन आचार्यों ने काव्य के स्वरूप को स्पष्ट करने में केवल उसके एकांगी रूप का ही ध्यान रखा था। या तो केवल कला पक्ष का समर्थन करते हुए भाव-पक्ष की उपेक्षा की गयी थी अथवा काव्य को केवल मात्र सहृदय-हृदय की रसानुभूति कहकर कला-पक्ष का तिरस्कार किया गया था। अतः काव्य स्वरूप निर्धारण की जो चेष्टा की गई थी उसमें पूर्णता का अभाव था। किसी ने रसानुभूति को ही प्राथमिकता दी और किसी ने शब्दार्थ-युक्त विशिष्ट-पद रचना को ही काव्य की आत्मा माना और कवि की कलात्मक-रुचि पर ही अपना ध्यान केन्द्रित किया। आचार्य मम्मट ने अपने पूर्व वर्ती सभी आलङ्कारिकों का गहन अध्ययन करने के उपरान्त इस कमी का अनुभव अवश्य किया था। इसी से उन्होंने अब तक के सभी आचार्यों के अध्ययन एवं चिन्तन से लाभ उठाकर उन सभी मतों का समन्वय किया है। काव्य के अभी तक आंशिक विश्लेषण को परखकर उन्होंने सम्पूर्ण मत के सार रूप में अपने ग्रन्थ में काव्य की ऐसी परिभाषा दी है जो सभी मतों का समन्वय करने में सक्षम रही है। इसी से मम्मट का यह अर्थात् उनके द्वारा काव्य के स्वरूप का चिन्तन वास्तव में काव्य का साङ्गोपांग विश्लेषण है।

मम्मट के काव्य लक्षण की विशेषता—आचार्य मम्मट ने अपने काव्य लक्षण में बताया कि वे शब्द और अर्थ काव्य कहे जाते हैं, जो दोष रहित हों, गुण युक्त हो और कभी अलंकृत हो और कभी नहीं भी हो।[1] इस लक्षण में मम्मट का पर्याप्त चिन्तन और मनन दिखाई पड़ता है। 'काव्य सामान्य' और

१. तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृति पुनः क्वापि। का० प्र० १/४

विशेष दोनों का समन्वय किया है, इस लक्षण में इन्होंने 'ध्वन्यालोक'[1] एवं 'सरस्वती कण्ठाभरण'[2] दोनों का प्रभाव ग्रहण किया है। साथ ही एक ओर भामह, कुन्तक और भोज के काव्य का लक्षण और दूसरी ओर दण्डी, वामन् और रुद्रट की मान्यताएँ भी दीख पड़ती हैं। वास्तव में इस लक्षण में न तो केवल अलङ्कार, न गुण और न ध्वनि की ही एकांकी महत्ता स्थापित की गई है, अपितु इसमें अलंकार गुण, उक्ति-वैचित्र्य, ध्वनि आदि सबका सफल समन्वय किया गया है। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए यहां 'तत्' शब्द का प्रयोग किया गया है, परन्तु इस शब्द पर आलंकारिकों ने आपत्ति उठाई है।

तत् शब्द—सच तो यह है कि इसका प्रयोग केवल छन्द निर्वाह करने के आग्रह से ही नहीं हुआ है, अपितु इस 'तत्' शब्द से काव्य' का बोध कराया गया है, परन्तु इस शब्द को लेकर विद्वानों में बड़ा मतभेद उठ खड़ा हुआ है। इन लोगों ने बताया है कि सर्व प्रथम काव्य के लिये जब 'तत्' प्रयोग किया गया है, तो यह शब्द काव्य का परामर्शक हो गया और व्याकरण की दृष्टि से यह एक बचन में प्रयुक्त हुआ है। तदुपरान्त इसी काव्य के विशेषण रूप में 'अदोषौ' और 'शब्दार्थौ' का प्रयोग अनुचित रूप में किया गया है, क्योंकि इनका प्रयोग दो वचन में है। ऐसा प्रयोग पूर्वपक्षियों की दृष्टि में वही व्यक्ति कर सकता है जिसे व्याकरण का ज्ञान न हो।

समाधान—इस शब्द के प्रयोग की यह उपयुक्तता है कि आचार्य मम्मट शब्दार्थ को एक भूत मानते थे। यद्यपि शब्द और अर्थ का भिन्न-भिन्न अस्तित्व है तथा इन दोनों की समष्टि को ही काव्य कहा जायेगा, क्योंकि अर्थ विहीन शब्द व्यर्थ होता है और शब्द-रहित अर्थ को भी काव्य की संज्ञा नहीं दी जा सकती है। अतः काव्य के लिए शब्द और अर्थ दोनों की महत्ता सम्मिलित रूप में होने के कारण ही व्यासज्ञ वृत्ति से इन दोनों को सम्बद्ध मानकर ही 'तत्' शब्द का प्रयोग किया गया है। इसके अनुसार शब्द और अर्थ दोनों दो होते हुए भी उनको एक ही माना गया है, तभी तो महाकवि कालिदास ने भी इसका समर्थन किया है।[3] और शब्द एवं अर्थ की एक रूपता को मान लिया है। माणिक्यचन्द्र ने भी अपनी संकेत टीका में कहा है

१. ध्वन्यालोक १/१३
२. सरस्वती कण्ठाभरण १/२
३. वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थ प्रतिपत्तये।

॥ रघुवंश महाकाव्य ॥

कि जैसे दृश्य रूप में जाति एवं व्यक्ति दोनों भिन्न प्रतीत होते हुए भी दोनों एक ही रहते हैं और एक के अभाव में दूसरे की स्थिति सम्भव नहीं है, उसी प्रकार शब्द और अर्थ दोनों ही काव्याङ्ग के रूप में एक भूत हैं। ऐसी स्थिति में शब्द और अर्थ के उस एकीभूत तत्व के लिए 'तत्' शब्द का एक बचन में प्रयोग अनुपयुक्त नहीं कहा जा सकता है।

दूसरी बात यह है कि मम्मट जैसा विद्वान और दार्शनिक इस प्रकार की भूल कभी नहीं कर सकता है। इस शब्द के प्रयोग द्वारा मम्मट ने इस रूप तत्व के शब्दार्थमय स्वरूप पर ध्यान दिया है, यहीं पर उनकी दार्शनिक दृष्टि भी चरितार्थ होती दिखाई पड़ती है और उसका स्पष्टीकरण इस 'तत्' शब्द के द्वारा किया गया।

(3) आचार्य मरम्मट शिवाद्वैतवादी थे और उनका यह अद्वैत शंकराचार्य के अद्वैत से भिन्नता रखता है। काश्मीरी होने के कारण शैव दर्शन का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही था। शिवाद्वैतवाद एक शुद्ध सत्ता द्वैतवाद में विश्वास रखता है। इसे स्पष्ट करने के लिए चने का उदाहरण देता हैं। जिस प्रकार चने में पृथक–पृथक दो दालों की सत्ता होते हुए भी तात्विक रूप मे वे दोनों एक ही है अर्थात परात्पर शिव अखण्ड और अद्वितीव है। इसी शिव तत्व में शक्ति तत्व निहित रहता है। मम्मट भी इसी शिवाद्वैतवाद से प्रभावित थे। अतः उन्होंने एक ही शब्द द्वारा इसे व्यक्त किया है तथा 'तत्' शब्द के साथ अदोषौ, शब्दार्थौ और सगुणौ के प्रयोग का यही मुख्य कारण भी प्रतीत होता है। अत; उनका यह प्रयोग काश्मीरी शिवाद्वैतवाद से प्रभावित होने से उचित हैं और उसमें विश्वनाथ द्वारा कल्पित दोषों का निराकरण हो जाता है।

अदोषौ पद का प्रयोग—'अदोषौ' पद के प्रयोग को भी लेकर आचार्य विश्वनाथ ने इसका खण्डन किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि विश्वनाथ मम्मट के काव्य लक्षण के प्रत्येक शब्द का खण्डन करने पर तुले हुये थे। उन्हें शायद यह नहीं मालूम था कि काव्य के स्वरूप को बताते हुए सभी आचार्यों ने—अग्निपुराण,[1] वामन,[2] हेमचन्द्र,[3] विद्यानाथ,[4] द्वितीय वाग्भट्ट,[5] जय-

१. संक्षेपाद्वाक्य मिष्टार्थं व्यवच्छिन्नापदावली।
काव्यं स्फुरदलकारं गुणवद् **दोषवर्जितम्**। अग्निपुराण

२. काव्यं ग्राह्य अलंकारात्। सौन्दर्यमलंकारः। स गुण **दोषालंकारः** हानोपादानाभ्याम्। वामन

३. **अदोषौ** सगुणौ सालंकारौ च शब्दार्थौ काव्यम्। हेमचन्द्र

४. गुणालंकार सहितौशब्दार्थौ **दोषवर्जितम्**। विद्यानाथ

५. शब्दार्थौ **निर्दोषौ** सगुणौ प्रायः सालंकारो काव्यम्। द्वि वाग्भट्ट

देव,[1] आदि ने उसके निर्दोषता की बात कही है, और काव्य का निर्दोष होना उसके लक्षणों में प्रमुख माना गया है। फिर भी इस पद को लेकर आचार्य विश्वनाथ ने साहित्य दर्पण में मम्मटकृत काव्य-लक्षण की छीछालेदर क्यों की है, यह समझ में नहीं आता है।

विश्वनाथ का मत—आचार्य विश्वनाथ ने इस स्थान पर प्रयुक्त 'अदोषौ' पद का दो अर्थ ग्रहण किया है।

(१) काव्य में दोष बिल्कुल ही न हों।

(२) उसमें दोष अधिक न हों।

इन दोनों अर्थों में से किसी भी एक को ग्रहण करने पर मम्मट की परिभाषा अपूर्ण और दोषयुक्त हो जाती है। यदि इसका प्रथम अर्थ लिया जाय तो ध्वन्यालोक में सत्काव्य के उदाहरण में दिये गये श्लोक[2] के द्वारा अपने आप उसका खण्डन हो जाता है। इस श्लोक में 'विधेयाविमर्श' दोष के रहते हुए भी इसे सत्काव्य कहा गया है। अतः 'काव्य' संज्ञा प्राप्त करने के लिए प्रथम अर्थ में इसकी निर्दोषता नहीं मानी जा सकती है, अब अदोष पद का दूसरा अर्थ शेष रह जाता है। यदि इस अर्थ को ग्रहण करें कि काव्य में दोष मान्य है, परन्तु उनकी संख्या अधिक न हो—तो दो समस्याएँ उठ खड़ी होती हैं।

(१) प्रथम यह है कि दोषों की सीमा क्या हो अर्थात् कितनी संख्या तक के दोष काव्य में क्षन्तव्य हैं। और द्वितीय प्रश्न यह उठता है कि यदि काव्य में दोष की स्थिति मानी ही जाय—चाहे वह कम हों या अधिक तो पुनः इस पद 'अदोषौ' के प्रयोग का कोई महत्व ही नही रह जाता है। जानबूझकर तो काव्य में कोई भी कवि अधिक दोष लाने की चेष्टा नहीं करता है।

समाधान—इस प्रसंग में यह कहा जा सकता है कि या तो आचार्य विश्वनाथ मम्मट के 'अदोषौ' पद का भाव ग्रहण नहीं कर सके

---

१. **निर्दोषा** लक्ष्मवती सरीतिः गुणभूषिता।
सालंकार रसानेक वृत्तिर्वाक् काव्यनांभाक्॥ जयदेव।

२. न्यक्कारो ह्ययमेव हि यदरयस्तत्राप्यसौ तापसः।
सोऽप्यत्रैय निहन्ति राक्षसकुलं जीवत्यहो रावणः।
धिक्धिक् छक्रजितं प्रबोधितवता किं कुंभकर्णेण वा।
स्वर्ग-ग्रामटिका विलुण्ठन वृथोच्छूनैः किमेभिर्भुजैः॥ ध्वन्यालोक

हैं अथवा जानबूझकर उन्होंने मम्मट का खण्डन करना चाहा है। इन दोनों में उनका जो भी विचार रहा हो, परन्तु मम्मट के वि ार से दोष का अर्थ 'उद्देश्य प्रतीत प्रतिबन्ध' रूप ही माना गया है। उन्होंने बताया है कि मुख्यार्थ और रस में बाधा पहुँचाने वाले को ही दोष कहा जाता है।[1] तात्पर्य यह हुआ कि जिससे रस की प्रतीति में व्याघात उत्पन्न होता है, उसी को दोष कहा जाता है। और इसी बात को आचार्य विश्वनाथ ने भी स्वीकार किया है अतः आचार्य विश्वनाथ की इस आलोचना में कोई सार नहीं प्रतीत होता है। और मम्मट का एक मात्र उद्देश्य रस में व्याघात उत्पन्न करने वाले दोषों से ही रहा है। यदि इसके अतिरिक्त 'अदोषौ' पद का यह अर्थ लिया जाय कि उसमें दोष बिल्कुल ही न हों, तो ऐसी वस्तु तो सम्पूर्ण संसार में शायद ही प्राप्त हो सके। यदि काव्य में दोषों का पूर्ण अभाव हो तो वह तो उत्तम काव्य होगा ही, साथ हीं यदि काव्य में कुछ दोष हों भी, परन्तु वे दोष काव्य के सौन्दर्य का नाश न करते हों, तो ऐसी दशा में भी उसे काव्य की ही संज्ञा दी जायेगी, अकाव्य की नहीं। अतः काव्य के अदोष होने का अभिप्राय पूर्ण रूप से दोषों का अभाव न होकर केवल ऐसे दोषों के अभाव से है, जो काव्यत्व के विघातक होते हैं और जिनसे रस प्रतीति मैं बाधा उत्पन्न हो जाती है। मम्मट के 'अदोष' पद का यही भाव है। अतः आचार्य विश्वनाथ की आलोचना में कोई सार नहीं दिखाई पड़ता है।

शब्दार्थौ शब्द का प्रयोग—तत् शब्द की व्याख्या में शब्दार्थौ पद का समर्थन किया जा चुका है। इस पद के प्रयोग के सम्बन्ध में आचार्य विश्वनाथ के स्थान पर आचार्य जगन्नाथ ने – जिनके अनुसार 'रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्,[1] है – आपत्ति उठाई है। विश्वनाथ की आपत्ति केवल विशेषण भाग पर ही रही है परन्तु जगन्नाथ ने इस लक्षण में विशेष्य भाग 'शब्दार्थौ' पर अपनी असहमति प्रकट की है।

आचार्य जगन्नाथ ने रमणीय अर्थ का प्रतिपादन करने वाले शब्द को ही काव्य माना है।[2] इस प्रकार शब्द की महत्ता अर्थ की अपेक्षा अधिक मानी गयी है, यद्यपि यह शब्द रमणीय अर्थ का प्रतिपादन करने वाला ही होता है। इस प्रकार अर्थ की सत्ता मानते हुए भी शब्द का ही प्रमुख स्थान रहा है।

---

१. मुख्यार्थहतिः दोषः रसश्चमुख्यः। का०प्र०

२. 'रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्। (रस-गङ्गाधर)

आचार्य जगन्नाथ का मत—अलंकारवादी सभी आचार्यों ने काव्य को केवल शब्दगत ही माना है और रसवादी आचार्यों ने इसे उभयगत माना है। आचार्य मम्मट रसवादी थे अतः इन्होंने शब्द और अर्थ दोनों में व्यासज्ञ वृत्ति से काव्य माना है। आचार्य जगन्नाथ इस विचार से भिन्नता रखते हैं। उन्होंने इस सम्बन्ध में बताया है कि:—

(१) व्यवहार में ऐसा सुना जाता है कि कविता पढ़ो, परन्तु समझ में नहीं आयी। इससे स्पष्ट है कि कविता और अर्थ में भिन्नता है। ऐसी दशा में उसे शब्द और अर्थगत मानना उपयुक्त नहीं कहा जा सकता है। अतः कहा जा सकता है कि जब कविता अर्थ से भिन्न है, तो इसे अर्थगत तो कहा ही नहीं जा सकता है। कविता केवल शब्दगत ही हो सकती है।

(२) रस-निष्पत्ति की शक्ति शब्द और अर्थ दोनों में होती है, उत्तम काव्य का लक्षण यही है कि उससे रसोत्पादन हो। अतः काव्य को उभयगत मानना ही उचित है। आचार्य जगन्नाथ का इस सम्बन्ध में यह विचार है कि ऐसी अवस्था में संगीत लहरी भी जो रसमयी होती है, काव्य की परिधि में आ जायेगी, परन्तु उसे काव्य की संज्ञा नहीं दी जाती है, क्योंकि संगीत का प्रभाव अत्यधिक रूप में श्रवणेन्द्रिय तक ही रहता है, हृदय तक उसकी पूर्ण पहुँच नहीं हो पाती है।

पण्डितराज के इस मत का खण्डन रसगङ्गाधर के टीकाकार नागेश ने किया है।

नागेश का मत—इन्होंने बताया है कि लोक व्यवहार में यह कहा जा सकता है कि काव्य पढ़ा जाता है, परन्तु इस पढ़े हुए काव्य में समझने का तत्व अर्थ ही होता है। अर्थात् शब्द को पढ़कर उसके अर्थ का हृदयङ्गम होना ही रसोत्पत्ति का साधन है। अतः जब समझने की वस्तु अर्थ ही है तो काव्य निश्चित रूप से उभयगत ही होगा, केवल शब्दगत नहीं जैसा आचार्य जगन्नाथ मानते हैं।

महावैयाकरण पाणिनी ने अपने एक सूत्र में कहा है कि द्वितीयान्त से—उसे पढ़ता है या 'उसे जानता है'—इस अर्थ में अण् प्रत्यक्ष होता है।[1] इस सूत्र के अनुसार पढ़ना शब्दों का और जानना अर्थों का होता है। इस प्रकार उस सूत्र से भी व्यक्त है कि शब्द और अर्थ दोनों मिलकर ही काव्य कहे जाते हैं अर्थात् काव्य उभयगत होता है केवल शब्दगत नहीं होता है।

---

१. तदधीते तद्वेद ४/२/५९

पण्डितराज द्वारा दिये गये उपर्युक्त द्वितीय तर्क का खण्डन मम्मट के अनुयायियों ने किया है। इनके अनुसार काव्य का प्राण चमत्कार है। इस चमत्कार की उत्पत्ति अलंकार और रस दोनों से ही सम्भव है। यह चमत्कार व्यंजना का आधार लेकर रस-दशा तक पहुँचता है। व्यंजना मूलक रस में शब्द और अर्थ दोनों का सहकारित्व माना जाता है।[1] इसी से शाब्दी और आर्थी नाम से व्यंजना मूलक ध्वनि के दो भेद किये गये हैं। इससे भी स्पष्ट होता है कि काव्य उभयगत होता है।

सगुणौ का प्रयोग—इस पद के प्रयोग में भी आचार्य विश्वनाथ ने आपत्ति उठाई है। उनके अनुसार सगुणौ पद उचित नहीं है। इसके स्थान पर 'सरसौ' पद ही उपयुक्त कहा जायगा। कारण यह है कि मम्मट रस को ही काव्याङ्ग मानते थे। अतः अंग का उल्लेख न करके अंगी का ही उन्हे उल्लेख करना चाहिए और यही उनके लिए उचित भी था। ऐसी दशा में जब गुण को रस का अंग मान लिया जाता है तो वे ही गुण भला शब्द के अंग कैसे हो सकते है।

समाधान—इस मत का खण्डन प्रदीपकार नागोजी भट्ट के द्वारा किया गया है। उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा है कि:—

(१) गुणों का प्रयोग मम्मट ने गुण-व्यंजक शब्दार्थ के लिये ही किया हैं।[2]

(२) 'सगुणौ' के प्रयोग द्वारा तीनों प्रकार के अर्थों-वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य का ग्रहण होता है और रस व्यंग्यार्थ के ही अन्तर्गत आता है। असंलक्ष्य-क्रम व्यंग्य रसादि ध्वनि को ही कहते हैं। अतः यदि सगुणौ के स्थान पर 'सरसौ' का प्रयोग कर दिया जाता तो काव्य की परिभाषा सीमित हो जाती और उसका वह अर्थ न निकलता जो मम्मट चाहते थे। इसलिए यहाँ पर 'सगुणौ' का प्रयोग सार्थक और साभिप्राय माना जायगा।

काव्य में 'सगुणौ' का प्रयोग करने वाले अन्य आचार्यों में अग्निपुराण, वामन, हेमचन्द्र, द्वितीय वाग्भट्ट और जयदेव आदि का नाम लिया जा सकता हैं, जिनका उद्धरण पिछले पृष्ठ पर दिया गया है।

---

१. (i) शब्द प्रमाण वे वेद्योऽर्थो व्यनक्तयर्थान्तरं यतः।
अर्थस्य व्यञ्जकत्वे तच्छब्दस्य सहकारिता। का. प्र. ३/२३

(ii) अर्थोऽपि व्यञ्जकस्तत्र सहकारिता मता। का. प्र. २/२०

२. 'गुणस्य रस निष्ठत्वेऽपि तद्व्यञ्जक परमगुणपदम्' नागोजी भट्ट

(३) आचार्य मम्मट ने माधुर्य, ओज और प्रसाद गुणों को रसनिष्ठ माना है। ये शब्द और अर्थ के गुण नहीं माने जा सकते हैं। गुण जो निस्सन्देह रस के अंग हैं परन्तु उस रस का ज्ञान शब्द और अर्थ के ही सहारे सम्भव होता है। अतः परम्परा सम्बन्ध से गुण को शब्द और अर्थ का भी विशेषण माना जा सकता है। सगुणौ का भाव यहाँ गुणाभि-व्यंजक शब्द और अर्थ से है। मम्मट ने भी आगे चलकर कहा है कि गुणों का शब्द और अर्थ गत होना उपचारतः सिद्ध हैं, मुख्यतः नहीं।[1]

(४) आचार्य वामन का अर्थ गुण से शब्द और अर्थों के धर्म का बोध कराना था परन्तु मम्मट ने इसे रस का धर्म माना है। शब्द और अर्थ की सगुणता इसी रूप में मानी जा सकती है कि वे रसाभिव्यंजक होते हैं और ये गुण ही रस के धर्म रूप मे अभिव्यंग्य हुआ करते है।

(५) सगुणता के द्वारा रसादिरूप उत्तम काव्य के अतिरिक्त मध्यम और अधम का भी ज्ञान इससे हो जाता है। उत्तम काव्य में रसाभिव्यञ्जक सामर्थ्य ही सगुणता से व्यक्त होती है, परन्तु मध्यम और अधम काव्य में शब्दार्थ साहित्य की यह सगुणता औपचारिक ही है, क्योंकि वर्णों की कठोरता अथवा कोमलता आदि से ही ओज अथवा माधुर्य गुणों की सृष्टि होती है। इस प्रकार मम्मट ने इस विशेषण द्वारा ध्वनिवाद में मान्य काव्य की परिभाषा को ही व्यक्त किया है। इस प्रकार ध्वनिवाद और रीतिवाद के सफल समन्वय का प्रयास मम्मट ने किया है और उनकी परिभाषा पूर्ण रूप से उचित कही जायगी।

अनलंकृति पुनः क्वापि—आचार्य मम्मट ने इस वाक्यांश के द्वारा स्पष्ट रीति से अपनी ध्वनिवादिता का परिचय दिया है। यदि वे केवल अलंकार की ही चर्चा करते तो वामनादि आचार्यों की कोटि में आ जाते। इसी से इन्होंने ऐसा कहा है कि ऐसी शब्द और अर्थमयी रचनाएँ भी काव्य के अन्तर्गत आती हैं, जिनमें स्पष्ट रूप से कोई अलंकार योजना न होते हुए भी काव्य-सौन्दर्य का अनुभव होता है।[2]

आचार्य विश्वनाथ ने 'शब्दार्थौ' के इस विशेषण भाग पर भी आपत्ति उठाई है और कहा है कि अलंकृत शब्द और अर्थ काव्य के स्वरूप में नहीं,

---

१. 'गुणवृत्या पुबस्तेषां वृत्तिः शब्दार्थयोर्मता'। का० प्र० ७/७१

२. क्वचित्तु स्फुटलंकार विरहेऽपि न काव्यत्व हानिः। का. प्र. १ वृत्ति भाग

अपितु काव्य के उत्कर्ष में आवश्यक है। जयदेव ने तो यहाँ तक कहा है कि जो अलंकार शून्य शब्दार्थ को स्वीकार करता है, वह उष्णता-रहित अग्नि को क्यों नहीं मानता।[1] जयदेव के इस मत का खण्डन वृत्ति भाग में ही कर दिया गया है। उसमें स्पष्ट रूप से लिखा है कि अनलंकृति से तात्पर्य अस्फुट अलंकारों से है—अलंकारों की विहीनता से नहीं है।

नागोजी भट्ट ने जयदेव का खण्डन करते हुए कहा है कि जो लोग इस वृत्ति भाग का केवल वाच्यार्थ ही ग्रहण करते हैं, उनके अनुसार अनलंकृति का तात्पर्य स्फुट अलंकारों के अभाव से है, अलंकार वादियों का यह कहना है कि रस के अभाव में भी स्फुट अलंकार रहने पर रचना को काव्य-संज्ञा ही दी जायेगी, परन्तु ध्वनिवादियों के अनुसार केवल अलंकारों की उपस्थिति काव्य कहे जाने के लिए पर्याप्त नहीं है जब तक कि उसमें कोई रस विशेष न हो। 'रस-गंगाधर' में जगन्नाथ ने भी रस को ही काव्य का चमत्कार-विधायक तत्व माना है, अलंकार से भी एक वैचित्र्य उत्पन्न होता है, परन्तु रस का चमत्कार केवल अलंकार-जन्य चमत्कार से अत्यधिक उच्चकोटि का माना जाता है, क्योंकि रस का प्रभाव और क्षेत्र दोनों ही अपेक्षाकृत व्यापक होता है। अतः अलंकार गत चमत्कार के अभाव में भी केवल रसगत चमत्कार से ही काव्य की संज्ञा किसी रचना को प्राप्त हो सकती है। ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने भी इसका समर्थन किया है कि अलंकार से रहित रस गुण युक्त रचना भी काव्य कही जा सकती है। अर्थात् रस-सम्पन्न काव्य स्वयं ही आनन्द प्रद होता हैं, अतः उसमें अलंकारों की स्थिति आवश्यक नहीं है।[2]

प्रदीपकार नागोजीभट्ट का भी यही मत है कि अस्फुट अलंकार से युक्त रचना भी किसी परिस्थिति में अर्थात् रस की स्थिति काल में काव्य कही जा सकती है। अतः स्पष्ट हो जाता है कि वास्तविकता अलंकारों में न होकर केवल रस तत्व में ही है। यदि रस के संग अलंकारों का भी चमत्कार हो, तब तो और भी अच्छा माना जायगा। इसी आधार पर वामनाचार्य झलकीकर ने अपनी 'बाल-बोधिनी' टीका में यह निष्कर्ष निकाला है कि काव्य से सम्बन्धित छः अवस्थायें होती हैं:—

---

१. अंगीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृति।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलंकृति। जयदेव

२. अतएव रसानुगुणार्थ विशेष निबन्धनमलंकार विरहेऽपि छायातिशयं पुष्णाति। ध्वनिकार।

(१) सरसं स्फुटालंकार सहितम् (२) सरसमस्फुटालंकार सहितम् ।
(३) सरसमलंकार शून्यम् (४) नीरसं स्फुटालंकार सहितम् ।
(५) नीरसमस्फुलंकार सहितम् (६) नीरसमलंकार शून्यम् ।

मम्मट के अनुसार प्रथम चार अवस्थायें ही काव्य के अन्तर्गत आ सकती हैं और अन्य दो नहीं।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि मम्मट ने जो शब्द और अर्थ को यथा स्थान अथवा यथासम्भव अलंकृत होने का सिद्धांत माना है, वह रस रूप अलंकार्य की मान्यता से सम्बद्ध है। अलंकारों से चारुत्व का उत्कर्ष होता है, परन्तु यह उत्कर्ष रस-रूप अलंकार्य का ही होता है। इसी से मम्मट ने 'अलंकृति पुनः क्वापि' कहा है। शब्दों एवं अर्थों के लिए जिस समुचित अलंकृतता की बात कही गई है वह उसके स्वरूप से सम्बन्धित नहीं है, अपितु उसका सम्बन्ध रस रूप अलंकार्य से ही है। अर्थात् अलंकार शब्द और अर्थ के चारुत्व विधायक न होकर रस-भावादिरूप अलंकार्य के ही चारुत्ववर्धक हैं। अतः सम्पूर्ण रूप में मम्मट के इस काव्य-लक्षण में उनके ध्वनि-सिद्धांत का सार है और उन्होंने पूर्व-वर्ती सभी आचार्यों के चिन्तन का लाभ उठाया है।

मम्मट द्वारा दिया गया उदाहरणः—मम्मट द्वारा दिये गये अस्फुटालंकार युक्त उदाहरण[1] के सम्बन्ध में भी विश्वनाथ ने आपत्ति की है। इस उदाहरण में एक प्रणय प्रताड़िता स्त्री की अपनी सखी के प्रति उक्ति है जिसमें उसने अपने पूर्व परिचित प्रियतम के प्रति अनुराग भाव को व्यक्त किया है। साहित्य चूडामणि टीका के अनुसार वह स्त्री अपने वर्तमान पति से विवाह के पूर्व ही अभिसरण कर चुकी थी, परन्तु डा० गंगानाथ झा और डा० हरदत्त शर्मा ने इसे भारतीय संस्कृति के विपरीत बताते हुये इस अर्थ का समर्थन नहीं किया है।

इस उदाहरण में कुछ टीकाकारों ने अस्फुट उपमा और रूपक माना है, कुछ ने 'इव' शब्द के अभाव में दोनों अलंकारों की स्थिति का समर्थन नहीं किया है। कुछ 'अस्मि' शब्द को कई वाक्यांशों के साथ जोड़कर 'दीपक' अलंकार मानते हैं परन्तु ध्यान देने की बात यह है कि अस्मि का प्रयोग यहाँ क्रिया के रूप में न होकर 'अव्यय' के रूप में हुआ है। यदि इसका प्रयोग क्रिया

---

१. यः कौमारहरः स एव हि वरस्ता एव चैत्रक्षपा,
स्ते चोन्मीलित मालती सुरभयः प्रौढा कदम्बानिलाः ।
सा चैवाऽस्मि तथापि तत्र सुरतव्यापार लीलाविधौ
रेवा रोधसि वेतसीतरुतले चेतस्समुत्कण्ठते ॥

के रूप में माने तो भी यहाँ 'दीपक' अलंकार नहीं हो सकता है, क्योंकि 'दीपक' में कुछ पदार्थ प्रकृत और कुछ अप्रकृत पदार्थ होते हैं। साथ ही दीपक' में दो या अधिक वस्तुओं की समानता भी व्यक्त रहती है[1]। तुल्य योगिता भी नहीं मानी जा सकती है। एक ही कार्य के बहुत से कारणों के न होने से यहाँ 'समुच्चय' भी नहीं हो सकता है। डा० हरदत्त शर्मा ने यहाँ विभावना और विशेषोक्ति नामक अस्फुट अलंकारों की स्थिति मानी है। अस्फुट अलंकार में रस की चमत्कार मूलक स्थिति रहने के कारण ही मम्मट ने इसे उदाहरण के रूप में उपस्थित किया है। इसमें एक प्रेमिका के मनः स्थिति का ऐसा चित्रण किया गया है, जो रसपूर्ण है और रसानुभूति में कोई कमी नहीं आने देता।

आचार्य विश्वनाथ ने 'साहित्य-दर्पण' में इस श्लोक को दोषपूर्ण माना है और कहा है कि यद्यपि इसमें विभावना और विशेषोक्ति अस्फुट रूप में है, फिर भी इन दोनों के संयोग से संदेह शंकर अलंकार स्फुट रूप में दिखाई पड़ता है, अतः 'अनलंकृति' के रूप में इस उदाहरण को प्रस्तुत करना अनुचित है। दूसरे लोगों ने इसमें 'रसवद् अलंकार' माना है, किन्तु इसमें स्पष्ट रूप से विप्रलम्भ श्रृंगार होने के कारण रसवद् अलंकार भी नहीं माना जा सकता है।

आचार्य विश्वनाथ ने 'अनलंकृती' शब्द की भी आलोचना की है। उनके अनुसार इस पद के प्रयोग द्वारा मम्मट ने काव्य में अलंकारों की स्थिति को आवश्यक माना है। कारण यह है कि अस्फुट अलंकार से युक्त रचना को तो सत्काव्य माना ही गया है और चमत्कार विधायक होने के कारण स्फुट अलंकार से युक्त रचना तो और भी अधिक सत्काव्य की श्रेणी में आ जायगी। निर्णय यह निकला कि ऐसी दशा में अलंकार काव्य का आवश्यक तत्व हो जाता है। साथ ही सामान्य पुरुष के संग आभूषणों की संगति की भांति वाङ्मय पुरुष से अलंकारों की संगति को भी विश्वनाथ ने आवश्यक माना है। इस प्रकार दो विरोधी उक्तियों के कारण परस्पर दोनों में असंगति और विरोध उपस्थित हो जाता है। इस तर्क का उत्तर देते हुए टीकाकारों ने कहा है कि "मम्मट गुण और अलंकार दोनों को रस का उत्कर्षक मानते थे। अन्तर केवल इतना है कि गुण उसके साक्षात् उत्कर्षक होते हैं और अलंकार असाक्षात्, इसका अर्थ यह हुआ कि अलंकारों की रस के साथ अचल स्थिति नहीं होती। रस वाले काव्य में अलंकार कभी तो रस के साथ रहकर रस का उत्कर्ष करता है और कभी रस का उत्कर्ष नहीं भी करता। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि रसहीन काव्य सद् काव्य कहलायेगा।"

---

१. वदन्ति वर्णावर्ण्यानां धर्मैक्यं दीपक बुधाः। कुवलयानन्द पृ. ५६

वास्तविकता तो यह है कि "मम्मट की अलंकार दृष्टि में ध्वनिवादी आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट अलंकार स्वरुप झलक रहा है। इसीलिए 'यथासंभव किंवा यथास्थान अलंकृतता' की विशेषता ही शब्दार्थ साहित्य की 'सालङ्कारिता' के रहस्य के रूप में प्रकट हो रही है।"[1] यद्यपि इस उदाहरण में कवि ने अलंकार की स्फुट योजना नहीं की है, तथा मम्मट ने भी इसी रूप में इसे प्रस्तुत किया है, फिर भी यदि आलोचक गण इसमें विभिन्न अलंकारों को देखने की चेष्टा करते हैं तो भी इसमें कोई महत्व नहीं रहता, क्योंकि इसमें कवि की किसी भी प्रकार अलंकारों के व्यक्त करने की भावना नहीं थी, वह तो रसानुभूति की एक मानसिक स्थिति को ही उपस्थित करना चाहता था और उसमें वह पूर्ण रूप से सफल भी हुआ है। अत: जिन प्राचीन आलंकारिकों ने इस उदाहरण को अलंकारों की परिधि में रखने का निरर्थक प्रयास किया है, उसे केवल उनकी हठवादिता ही कही जायेगी। इसमें तो कोई सन्देह नहीं है कि यह पद्य रस-दृष्टि में सफल उतरा है, यही कवि की आंकाक्षा भी थी। अत: अलंकारों की चिन्ता की कोई बात ही नहीं उठती है। मम्मट ने "अनलंकृती पुन: क्वापि" लिखकर प्राचीन काव्य-तत्वज्ञों की मान्यताओं को व्यावहारिक रूप दिया है। यद्यपि यह सत्य है कि काव्य की सृष्टि सहृदय की दृष्टि में रसानुभूति के लिये ही होती है, तथापि विश्वनाथ के काव्य स्वरुप "वाक्यं रसात्मकं काव्यं" को ही सब कुछ नहीं माना जा सकता है, क्योंकि इसकी सीमा केवल सहृदय की दृष्टि तक ही रहने के कारण संकुचित हो जाती है। अत: हम निस्संकोच कह सकते हैं कि मम्मट द्वारा दी गई इस परिभाषा में मम्मट की दृष्टि सदैव काव्य में रस-दृष्टि और रसानुभूति पर ही केन्द्रित रही है, जो उनके द्वारा मान्य मत की परिचायिका एवं ध्वनि सम्प्रदाय की समर्थिका है।

---

१. काव्य प्रकाश की हिन्दी टीका-भूमिका भाग पृ० २८-२९ डा० सत्यव्रत सिंह

काव्य के भेद

आचार्य मम्मट ने मुख्य रूप से काव्य को तीन भेदों में विभाजित किया है। उनका यह वर्गीकरण ध्वनिवाद के अनुकूल है।

(१) उत्तम अथवा ध्वनि काव्य।

(२) मध्यम अथवा गुणीभूत व्यंग्यकाव्य।

(३) अवर अथवा चित्रकाव्य।

उत्तम अथवा ध्वनि काव्य के स्वरुप का निर्धारण करते हुए मम्मट ने कहा है कि वह काव्य जिसमें वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ अधिक चमत्कार युक्त हो, उसे काव्य तत्व दर्शी लोगों ने ध्वनि काव्य कहा है।[1] 'इदम्' पद की व्याख्या के लिये इस सूत्र में दिये गये विभिन्न शब्दों पर ध्यान देना आवश्यक प्रतीत होता है। सर्वप्रथम 'इदम्' शब्द विद्वानों के विभिन्न विचारों का आधार बना हुआ है। 'इदम्' पद काव्य का परामर्शक है और काव्य शब्द नपुसंक लिंग में प्रयुक्त होता है। इसी आधार पर लोगों की यह धारणा है कि यह पद कभी 'ब्रह्मत्व' का वाचक रहा होगा "कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूः" में कवि शब्द परमेश्वर के लिए प्रयुक्त किया जाता रहा और इसी कवि शब्द से काव्य का निर्माण प्रतीत होता है। अतः यह पद ब्रह्मत्व का वाचक हो सकता है और ब्रह्म शब्द नपुंसक लिंग में प्रयुक्त होता रहा है। इस प्रकार का तर्क देना कुछ अधिक समीचीन प्रतीत नहीं होता है, इसे केवल वितर्क मात्र कहकर मौन हो जाना ही अधिक उपयुक्त है।

उत्तम शब्द से मम्मट का अभिप्राय श्रेष्ठ काव्य से रहा है। इसी श्रेष्ठ काव्य को ध्वनि काव्य कहा गया है। आगे चलकर पुनः कहा गया है कि "वाच्यात् व्यङ्ग्ये अतिशायिनि" अर्थात् इस प्रकार के काव्य में वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ अधिक चमत्कार जनक होता है। शब्द की तीन शक्तियों में से व्यंजना का ही सम्बन्ध इस उत्तम काव्य से रहता है। यह व्यंजना शक्ति अभिधा अथवा लक्षणा की अपेक्षा प्रधान होती है। इसी से इस शक्ति द्वारा गम्य व्यंग्यार्थ रूप काव्य को ही उत्तम काव्य अथवा 'ध्वनि-काव्य' कहा जाता

---

१. इदमुत्तमतिशायिनि व्यङ्ग्ये वाच्याद्ध्वनिर्बुधैः कथितः। का० प्र० उ० १

है। ध्वनिकार ने भी इसका समर्थन किया है कि "जहाँ शब्द और अर्थ अपने अभिप्राय अथवा स्वरुप को गौण करके उस काव्य-को व्यंजित करते हैं, उसे ध्वनि काव्य कहा जाता है।[1]"

आचार्य मम्मट ने भी अपने वृत्ति भाग में ध्वनि का स्पष्टीकरण किया है इसमें वैयाकरणों के स्फोटवाद की बात अधिक बल के साथ कही गई है। उन्होंने उपयुर्क्त सूत्र का इस रूप में स्पष्टीकरण किया है कि "यहाँ पर 'इदम्' का अभिप्राय काव्य से है और 'ध्वनि' का अभिप्राय उस शब्द अथवा वर्ण समुदाय से है जो वैयाकरणों के प्रधानभूत स्फोट रूप व्यङ्ग्य का व्यंजक होता है। इसी मत का अनुसरण करने वाले आलंकारिकों ने इसे ध्वनिनाम दिया है, जिसमें वाच्यार्थ दबा रहता है और इसमें शब्दार्थ युगल व्यंग्यार्थ को ध्वनित करने में समर्थ होता है।"[2] इस वृत्ति भाग में मम्मट ने 'स्फोट' शब्द का प्रयोग किया है। पारिभाषिक होने से इसका स्पष्टीकरण कर देना अनिवार्य है।

स्फोट—रूप ब्रह्म का स्पष्टीकरण लगभग सभी विद्वानों ने किया है; विशेषत. नैयायिक, मीमांसक और वैयाकरणों की दृष्टि इसमें अधिक रमी है, इतना तो सभी मानते हैं कि शब्दों से अर्थ का ज्ञान होता है, परन्तु इस वाचकता का अधिष्ठान क्या है, इस सम्बन्ध में विभिन्न दार्शनिकों में मतभेद हैं।

वाचकता का अधिष्ठान

नैयायिकों का मत—संस्कार वादी इन नैयायिकों ने बताया है कि अन्तिम ध्वनि की अनुभूति दो शब्दों की अनुभूति से उत्पन्न संस्कार के साथ अर्थ प्रकट करती है अर्थात् प्रत्येक शब्द के उच्चारण के साथ ही उन शब्दों की अनुभूति से हृदय पर एक संस्कार बन जाता है। जब हम किसी वाक्य के अन्तिम शब्द का उच्चारण करते हैं, तो उसके द्वारा निर्मित संस्कार के साथ पूर्व संस्कारों के समन्वय से उस वाक्य का पूर्ण अर्थ बोध हो जाता है। नैयायिकों ने वर्ण को अनित्य माना है। अतः वे आशु-विनाशी होते हैं। उच्चारण करने के साथ

---

१. यत्रार्थः शब्दो व तदर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यंक्तः काव्यविशेषः सध्वनिरिति सूरिभिः कथितः। ध्वन्यालोक १/१३

२. इदमिति काव्यं बुधैर्व्याकरणैः प्रधानभूतस्फोट रूपव्यङ्ग्य व्यंजकस्य शब्दस्य ध्वनिरितिः व्यवहार कृतः। ततस्तन्मतानुसारिभिरन्यैरपि न्यग्भावित वाच्य व्यङ्ग्य व्यंजन-क्षमस्य शब्दार्थ युगलस्य॥ का. प्र. उ. १ वृत्तिभाग।

ही उन ध्वनियों का नाश हो जाता है, ऐसी दशा में उन ध्वनियों से अर्थ का बोध कराने के लिए इन लोगों के लिए आवश्यक हो गया था कि एक ऐसे साधन की कल्पना करते, जिससे अर्थ-बोध सम्भव होता। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए इन लोगों को 'संस्कार' की कल्पना करनी पड़ी। वर्ण तो अनित्य और आशु-विनाशी होते हैं। अतः उच्चरित होने के साथ ही समाप्त हो जाते हैं और उच्चरित होने पर केवल ध्वनि ही संस्कार रूप में शेष रह जाती हैं। इनमें अन्तिम संस्कार पूर्व संस्कार से सम्बद्ध होकर ही विशेष अर्थ का प्रतिपादन कर पाता है।

वैयाकरणों का मत—वैयाकरणों ने नैयायिकों के इस मत को दोष पूर्ण माना है, इन दोनों की मूल मान्यताओं में ही अन्तर है। नैयायिकों ने जहाँ वर्ण को भाषा की इकाई माना है, वहीं वैयाकरणों के अनुसार वाक्य ही भाषा की इकाई है। वर्णों का संस्कार धूमिल रहता है। अतः उससे पूर्ण रूप से अर्थ का ज्ञान नहीं हो पाता है, अपितु वाक्य की आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि के ऐक्य-विधान से ही अर्थ-ज्ञान सम्भव है। वैयाकरणों के सिद्धान्त को ही 'स्फोटवाद' का नाम दिया गया है।

'स्फुटति अर्थः यस्मात् स स्फोटः' अर्थात् जिससे अर्थ का स्फुरण हो उसे स्फोट कहा जाता है। इसके आठ भेद किये गये हैं। इनमें 'पद स्फोट' पदार्थ का और 'वाक्यस्फोट' वाक्यार्थ का बोधक होता है। किसी पद से जिस अर्थ का बोध होता है, उसका कारण ध्वनि द्वारा व्यक्त मानस स्फोट ही है। सुनाई पड़ने वाली ध्वनियां नाशवान् और क्षणिक होने से नष्ट हो जाती हैं। ऐसी दशा में वाक्यों में प्रयुक्त विभिन्न ध्वनियों से अर्थ-बोध के लिए स्फोट वाद का आधार ग्रहण करके कहा गया है कि पूर्व-पूर्व ध्वनियों के श्रवणजन्य अनुभव से एक मानसिक संस्कार उत्पन्न होता है। इसी संस्कार से युक्त होकर अन्तिम ध्वनियों के संस्कार एक मानसिक पद की प्रतीति कराते हैं। यही पद प्रतीति पद स्फोट कहा जाता है, जिससे अर्थ का ज्ञान होता है। "इसी प्रकार पूर्व-पूर्व-पदानुभव जनित संस्कार सहकृत-अन्त्य-पद श्रवण से सद्सद् अनेक—पदावगाहिनी मानसी वाक्य प्रतीति होती है।"

मीमांसकों की अर्थ-बोध कराने वाली प्रक्रिया नैयायिकों जैसी ही है। इनके अनुसार वर्ण में नित्यता रहती है और वे ध्वनियों से व्यक्त होते रहते हैं। वर्णों के नित्य होने से उनकी एकता अपने आप सिद्ध हो जाती है। वैयाकरणों ने वर्णों की अनुभूति को क्षणिक बताया है। अतः इनके मत से वर्णों की एकता सम्भव नहीं है।

स्फोटवाद का प्रतिपादन करते हुए वाक्य-पदीप में कहा गया है कि हमारे मुख से जो बैखरी वाणी निकलती है उसकी इकाई वाक्य है। वह वाक्य अनेक तदनुरूप भाषण वर्णों व ध्वनियों का आवरण धारण कर व्यक्त होता है। वाक्य की उत्पत्ति स्फोट आत्मा से होती है। यह स्फोट आत्मा ध्वनि द्वारा व्यक्त होती है। ध्वनि नित्य तथा अभेद्यवाचक है, वर्ण अनित्य माना जाता किन्तु उनसे उद्भूत ध्वनि या शब्द अमर होता है। उसी ध्वनि को स्फोट कहते हैं। स्फोट वास्तव में अद्वैत और अखण्ड रूप है, किन्तु उपाधिभेद से स्फोट अनेक भाषा ध्वनियों में व्यक्त होता है। ध्वनि या नाद सर्वप्रथम आत्मा से उत्पन्न होता है यही ध्वनि बुद्धि प्राणादि में होती हुई स्थूल अंगों में अभिव्यक्त होती है, क्योंकि ये स्थूल अंग विविध प्रकार के हैं। अतः वाणी भी भिन्न-भिन्न प्रकार की होती है। वर्ण के नष्ट हो जाने पर यह ध्वनि अमर हो जाती है। "वाक्यपदीयकार" ने इसी भाव की अभिव्यक्ति निम्नलिखित श्लोक में की है:—

तस्य प्राणे च या शक्तिः या च बुद्धौ व्यवस्थिता।
विवर्तमानास्थानेषु सैषा भेदं प्रकाशते ॥"

उदाहरण—मम्मट ने ध्वनि अथवा उत्तम काव्य के सम्बन्ध में जो श्लोक उदाहरण[1] के रूप में दिया है, उसके सम्बन्ध में 'पदीयकार' ने बताया है कि इसमें कुछ लोग विपरीत लक्षण मानते हैं। उनके अनुसार 'तुम मेरे पति के साथ ही रमण करने गयी थी' यह अर्थ विपरीत लक्षणा से ही प्राप्त होता है। इन लोगों का कहना है कि जब काव्य-प्रकाश के दूसरे उल्लास के सातवें उदाहरण[2] में विपरीत लक्षणा हैं तो विषय-साम्य से इसमें भी विपरीत लक्षणा ही होनी चाहिए। परन्तु इस मत के विरोधियों का ऐसा विचार है कि विपरीत लक्षणा से इस श्लोक के अर्थ में कुछ परिवर्तन होकर इस प्रकार होगा कि 'तुम मेरे पति के पास गयी थीं'। ऐसी दशा में अधम पद का महत्व नहीं रह

---

१. निःशेषच्युत चन्दनस्तनतटं निमृष्ट रागोऽधरो—
नेत्रे दूरमनञ्जने पुलकिता तन्वी तवेयं तनुः।
मिथ्यावादिनि दूति बान्धव जनस्याज्ञात पीड़ागमे,
वापीं स्नातुमितो गतासि न पुनस्तस्याधमस्यान्तिकम्।
का० प्र० उ० १ उदाहरण २

२. साधयन्ती सखि सुभगं क्षणे-क्षणे दूनासि मत्कृते।
सद्भाव स्नेह करणीय सदृशकं तावद्विरचितंत्वया ॥
का० प्र० २/उदाहरण ७

जाता है और यह केवल उपहास का सूचक मात्र रह जाता है। अर्थात् "अधम प्रकृति वाले नायक का उपहास करने ही गयी थीं" वह अर्थ होगा। प्रदीपकार का मत है कि इससे अधम जाति के अभिजात कुल की दासी के साथ अभिसार करने का बोध होता है और उसकी अभिव्यक्ति ध्वनि से ही सम्भव है जो 'अधम' पद के प्रयोग से ही ध्वनित होता है। अतः यह ध्वनि काव्य का उदाहरण है।

ध्वनिकाव्य के भेद

ध्वनिकाव्य के भेदों की चर्चा करते हुए आचार्य मम्मट ने उसके दो प्रमुख भेद किये है:—

१. अविवच्छित वाच्य ध्वनि अथवा लक्षणा मूला ध्वनि।

२. विवक्षित वाच्य (विवक्षितान्यपरवाच्य) अथवा अभिधामूला ध्वनि। इन दोनों का क्रमशः वर्णन किया जायेगा।

अविवक्षित वाच्य ध्वनि[1] अथवा लक्षणा मूला ध्वनि में वाच्य विवक्षित नहीं होता है। इसमें ध्वनि का आधार लाक्षणिक शब्द ही रहता है। अतः मुख्यार्थ, बाध, उद्योग और रूढ़ि या प्रयोजन में से अन्यतर का होना आवश्यक होता है। इस ध्वनि में लक्षणामूल गूढ़ व्यंग्य की प्रधानता होती है तथा वाच्य अविवक्षित रहता है। इस ध्वनि के दो भेद किये गये हैं। प्रथम अर्थान्तर संक्रमित और द्वितीय अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य ध्वनि।

अर्थान्तर संक्रमित में प्रयुक्त पदों का वाच्यार्थ नहीं लगता है और उसके अनुपयुक्त होने से ही वह दूसरे अर्थ में संक्रमण कर जाता है। इसमें लक्षणा को हम मान सकते हैं। उसमें भी परार्थ के लिये अपने अर्थ का समर्पण कर दिया जाता है।[2] मम्मट द्वारा दिये गये उदाहरण[3] में 'त्वां' 'वच्मि' 'अहम्' 'अस्मि' आदि पदों का प्रयोग भी दूसरे अर्थ में संक्रमण कर जाता है।

अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य ध्वनि में प्रसंगादि के आधार पर वाच्यार्थ के अनुकूल अर्थ की संगति नहीं बैठती है। अतः शब्दों का जो सामान्य अर्थ होता है, उसे छोड़कर उन्हीं शब्दों से सम्बद्ध किसी विशेष अर्थ का बोध हो जाता

---

१. अविवक्षित—वाच्यो यस्तत्र वाच्यं भवेद्ध्वनौ।
अर्थान्तरे संक्रमितमत्यन्तं वा तिरस्कृतम्॥ का० प्र० ४/२४

२. का० प्र० २/१०

३. का० प्र० उल्लास ४ उदाहरण २३

है। दिये गये उदाहरण[1] में प्रयुक्त 'उपकृतं', 'सुजनता', 'ईदृशमेव', 'सुखित-मास्व', शरदांशतम् आदि पदों का वक्ता और बौद्धा के कथन के अनुसार वाच्यार्थ उचित नहीं बैठता है। अतः लक्षणामूलाध्वनि के इस भेद में विपरीत लक्षणा का सहारा ग्रहण किया जाता है। इससे प्रयुक्त शब्दों का अर्थ प्रचलित अर्थ से विपरीत अथवा उल्टा अर्थ लगता है। इस प्रकार वाच्य अर्थ पूर्ण रूप से तिरस्कृत हो जाता है। कहने के ढंग या कण्ठ की ध्वनि से भी इस प्रकार के काव्यों का बोध हो जाता है। जैसे उपर्युक्त 'उपकृतं' आदि शब्दों का पूर्ण रूप से उल्टा अर्थ होकर 'अपकृत' आदि हो जायेगा।

अभिधामूलाध्वनिः—इसी को विवक्षित वाच्य ध्वनि भी कहा जाता है, क्योंकि इसमें वाच्यार्थ की भी विवक्षा बनी रहती है। इसके दो भेद असंलक्ष्य क्रम व्यंग्य और संलक्ष्य क्रम व्यंग्य होते हैं।

असंलक्ष्य क्रम अभिधामूला व्यंग्य ध्वनि को ही रसादि ध्वनि कहा जाता है। इसके बहुत से अवान्तर भेद हो सकते हैं, परन्तु उनकी अनन्तता के कारण सबकी अलग-अलग गणना न होकर केवल उसका एक ही भेद 'रसादि ध्वनि' माने जाने की परम्परा रही है। इसी को 'अलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि भी कहते हैं। अर्थात् इसमें वाच्य और व्यंग्य अर्थ का एक क्रम रहता है, परन्तु दोनों अर्थों का बोध इतनी शीघ्रता से होता है कि उसके क्रम का ज्ञान नहीं होने पाता। सर्वप्रथम विभावादि की प्रतीति होती है, इसके बाद ही रसानुभूति संभव है। इस प्रकार इन दोनों की प्रतीति में पूर्वापर का क्रम बना रहता है, परन्तु यह क्रम 'कमलशत पत्रभेदन, के समान ही रहता है। अर्थात् जैसे कमल के सौ पत्तों को रखकर सूई से उसका भेदन किया जाय तो सूई क्रम से एक-एक पत्ते को भेदती चली जाती है, परन्तु उसका भान हमें नहीं होने पाता है, उसी प्रकार रसानुभव में विभावादि का क्रम रहता है परन्तु उसका ज्ञान नहीं हो पाता। इसी से इसे अलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि कहते हैं। भाव यह है कि विभावानुभावादि ही रस नहीं हैं अपितु वे ही रसानुभूति के कारण हैं[2] परन्तु शीघ्रता के कारण उनका अनुभव नहीं होने पाता। इस असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि में रस, भाव, रसाभाव, भावाभास, भावोदय, भाव-सन्धि, भाव-सबलत्व और भावशान्ति की प्रधानता रहती है। यदि इनकी प्रधानता न रहे अर्थात् ये अंगी न होकर वस्तु या अलंकारादि के अंग बन जायँ तो ऐसी दशा में इनकी ध्वनि संज्ञा न होकर

---

१. का० प्र० उ० ४ उदाहरण संख्या २४

२. नखलु विभावानुभाव व्यभिचारिण एव रसः अपितु रसस्तैरित्यस्ति क्रमः सतु लाघवात् न लक्ष्येत। का० प्र० उ० ४ वृत्ति भाग

गुणीभूत व्यंग्य संज्ञा हो जाती है जिसे काव्य का 'मध्यम' प्रकार कहते हैं। ध्वनिकाव्य में रसादिध्वनि ही प्रमुख होती है। मम्मट ने आठ रसों[1] एवं आठ स्थायी भावों[2] का ही वर्णन किया है और इन्हीं आठों को नाट्य रस कहा है। बाद में निर्वेद स्थायीभाव और शान्तरस की भी चर्चा की गयी है परन्तु इसे नाट्य रस नहीं माना गया है।[3]

अभिधामूला ध्वनि का दूसरा भेद संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य ध्वनि है इसी का दूसरा नाम 'अनुस्वानाभ ध्वनि' भी है। इस अनुस्वानाभ या संलक्ष्य क्रम ध्वनि के तीन भेद शब्दशक्त्युत्थ, अर्थशक्त्युत्थ और उभयशक्त्युत्थ—किये गये हैं।[४] इस ध्वनि में क्रम का ज्ञान बना रहता है। इसी से इसे संलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि कहते हैं।

शब्द शक्त्युत्थ संलक्ष्यक्रम अभिधामूल व्यंग्य ध्वनि के दो भेद किये गये हैं। अर्थात् जहाँ शब्द से वस्तु अथवा अलंकार प्रधान रूप से प्रतीत होते हैं, वह दो प्रकार का शब्द शक्त्युत्थ ध्वनि[५] होता है। इन्हें क्रमशः वस्तु ध्वनि और अलंकार ध्वनि कहा जाता है। इन दोनों का उदाहरण क्रमशः 'काव्य प्रकाश' के चतुर्थ उल्लास के ५८वें और ५४–५७वें श्लोक हैं। वस्तु ध्वनि में एक ऐसी वस्तु का ज्ञान होता है, जिसमें अलंकार न हो। और अलंकार ध्वनि में अलंकार ही व्यंग्य रूप में उपस्थित किया जाता है। इसमें व्यंग्य अर्थ अलंकार रूप नहीं अपितु सदा 'अलंकार्य' ही होता है फिर भी उसको 'ब्राह्मण श्रवण न्याय से अथवा भूतपूर्व न्याय से अलंकार कहा जा सकता है।' इसे गौण या औपचारिक व्यवहार कहते हैं। इसी कारण से प्रधानता के कारण जब अलंकार ही 'अलंकार्य' बन जाता है, तो ऐसी दशा में भी उसे पूर्ण रूप के कारण 'अलंकार' ही कहा जा सकता है।

अर्थ शक्त्युत्थ संलक्ष्य क्रम अभिधामूलाध्वनि के बारह भेदों की चर्चा काव्य-प्रकाश कार ने की है। इनमें सर्वप्रथम कवि ने तीन भेद किये हैं:—

---

१. का० प्र० ४/२९

२. का० प्र० ४/३०

३. का० प्र० ४/३५ पृ० १३८

४. अनुस्वानाभ संलक्ष्यक्रम व्यंग्यास्थिति स्तु यः।
शब्दार्थोभयशक्त्युत्थास्त्रिधा स कथितो ध्वनिः।
का० प्र० ४/३७–३८

५. का० प्र० ४/३८–३९

(१) स्वतः सम्भवी (२) कविप्रौढ़ोक्ति सिद्ध
(३) कवि निबद्धवक्तृ प्रौढ़ोक्ति सिद्ध।

इन तीनों के पुनः दो-दो भेद 'वस्तु ध्वनि' और 'अलंकार ध्वनि' किये गये हैं और इस प्रकार इनके छः भेद हो जाते हैं। पुनः व्यंग्य और व्यञ्जक उपभेद से इन छहों के बारह भेद हो जाते हैं।[1] जो निम्नलिखित प्रकार से समझाये जा सकते हैं:—

[१] स्वतः सम्भवी:—

(१) वस्तु से वस्तु व्यंग्य (२) वस्तु से अलंकार व्यंग्य
(३) अलंकार से वस्तु व्यंग्य (४) अलंकार से अलंकार व्यंग्य

[२] कवि प्रोढ़ोक्तिसिद्ध:—

(१) वस्तु से वस्तु व्यंग्य (२) वस्तु से अलंकार व्यंग्य
(३) अलंकार से वस्तु व्यंग्य (४) अलंकार से अलंकार व्यंग्य

[३] कविनिबद्धवक्तृ प्रौढ़ौक्ति:—

(१) वस्तु से वस्तु व्यंग्य (२) वस्तु से अलंकार व्यंग्य
(३) अलंकार से वस्तु व्यंग्य (४) अलंकार से अलंकार व्यंग्य

इन तीनों प्रमुख भेदों में जो अर्थ शक्ति से उद्भूत होते हैं, स्वतः सम्भवी व्यञ्जक अर्थ लोक में पाया जाने वाला होता है। इसमें केवल कवि का कथन मात्र ही नहीं रहता है। दूसरे प्रकार का अर्थ यद्यपि लोक में नहीं पाया जाता है, फिर भी कवि की प्रतिभा द्वारा निर्मित होता है। इसे कवि प्रोढ़ोक्तिसिद्ध तथा कविनिबद्ध वक्ता के द्वारा प्रौढ़ोक्ति को प्राप्त अर्थात् लोक में न पाये जाने पर भी केवल कवि कल्पना से काव्य में वर्णित अर्थ तीसरे प्रकार का होता है। इनमें स्वतः सम्भवी के चार उदाहरण श्लोक ६०-६३ तक, कवि प्रौढ़ोक्ति सिद्ध के चार उदाहरण ६४-६७ तक और कवि निवद्ध प्रौढ़ोक्तिसिद्ध के चार उदाहरण ६८-७१ श्लोक में काव्य प्रकाश के चतुर्थ उल्लास में दिये गये हैं। इस प्रकार अर्थ शक्त्युत्थ संलक्ष्यक्रम के बारह भेद होते हैं।

उभय शक्त्युत्थ संलक्ष्य क्रम का केवल एक ही भेद माना जाता है। इस प्रकार आरम्भ के सभी भेदों को मिलाकर ध्वनि के १८ भेद हो गये।

ध्वनि के सम्पूर्ण भेद:—ऊपर बताया जा चुका है कि लक्षणामूला ध्वनि के दो भेद अर्थान्तर संक्रमति और अत्यन्त तिरस्कृत तथा अभिधामूला

१. का० प्र० ४/३९-४०-४१

ध्वनि के सोलह भेद—१ असंलक्ष्य क्रम और १५ संलक्ष्य क्रम (२ भेद शब्द शक्त्युत्थ ध्वनि के, १२ भेद अर्थशक्त्युत्थ ध्वनि के और १ भेद उभय शक्त्युत्थ ध्वनि के)। ये सब मिलकर ध्वनि काव्य के कुल अठारह भेद हो गये। इन अठारह ध्वनि भेदों को और अधिक विस्तार करके इनकी कुल संख्या ५१ मानी गयी है।
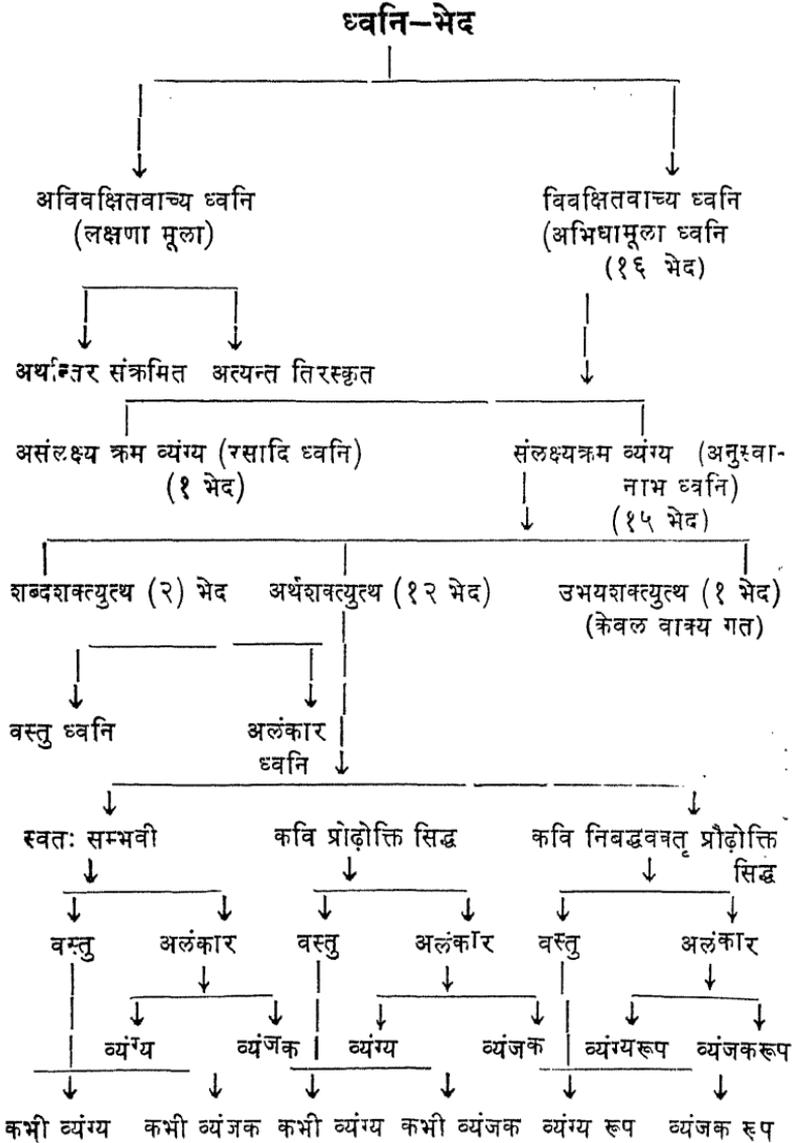
उपयुक्त १८ भेदों में उभयशक्त्युत्थ ध्वनि केवल वाक्य गत होती है। शेष १७ भेदों में से प्रत्येक पद गत एवं वाक्यगत भेद से ३४ प्रकार की हो जाती है। इनमें अर्थशक्त्युत्थ[1] भेदों की स्थिति प्रबन्ध में भी होने से इनके १२ भेद हो जाते हैं। इनके अतिरिक्त असंलक्ष्य क्रम व्यंग्य के पदांश वर्ण, रचना तथा प्रबन्धगत होने से चार भेद और हो जाते हैं। इस प्रकार सब की संख्या १+३४+१२+४=५१ हो जाती है। अर्थात् ध्वनि अथवा उत्तम काव्य के ५१ भेदों की चर्चा मम्मट ने की है। जिसे ऊपर्लिखित तालिका से समझा जा सकता है।

इस रीति से लक्षणा मूला के २ भेद और अभिधामूला के १५ भेद (उभयशक्त्युत्थ को छोड़कर जो केवल वाक्य गत होता है)=१७ भेदों के पद गत और वाक्यगत होने से कुल १७×२=३४ भेद रसादिध्वनि के तथा अर्थशक्त्युत्थ के १२ भेद प्रबन्धगत होने से और बढ़ जाते हैं। अतः ३४+१२+१=४७ भेदों में पदांश, वर्ण रचना और प्रबन्ध गत होने से ४ भेद और मिलकर कुल ध्वनि के ये ५१ भेद हैं। वैसे गणना के रूप में इनकी संख्या कई हजार तक पहुँच जाती है। परन्तु उपयोगिता के कारण निरर्थक समझकर उसका विस्तार करना आवश्यक नहीं प्रतीत होता है और उसे छोड़ दिया जाता है। पाठक अपनी जिज्ञासा शान्ति के लिए काव्य प्रकाश उल्लास ४ देख सकते हैं।

गुणीभूत व्यंग्य काव्य

काव्य के विभेदों पर विचार करते हुये पहले उसके तीन भेद—

(१) ध्वनि काव्य अथवा उत्तम काव्य (२) गुणीभूत व्यंग्य काव्य या मध्यम काव्य और (३) चित्र काव्य अथवा अधम काव्य किये गये थे। इन तीनों में सर्वप्रथम ध्वनि काव्य का अभी तक सामान्य परिचय दिया जा चुका है। अब गुणीभूत व्यंग्य काव्य का परिचय दिया जायगा।

स्वरूप:—आचार्य मम्मट ने गुणीभूत व्यंग्य काव्य की परिभाषा इस रूप में दी है कि "जिस काव्य में व्यंग्यार्थ ध्वनिकाव्य के समान चमत्कारक नहीं होता है अर्थात् जिसमें वाच्यार्थ ही व्यंग्यार्थ की अपेक्षा अधिक चमत्कारजनक होता है, उसे गुणीभूत व्यंग्य काव्य अथवा मध्यम काव्य कहा जाता है।"[2] पहले बताया गया है कि ध्वनि काव्य के असंलक्ष्य क्रम व्यंग्य ध्वनि में रस, भाव, रसाभास, भावाभासादि की प्रधानता रहती है। यदि इनकी प्रधानता न रहे अर्थात ये अंगी न रह कर अलंकार वस्तु आदि का अंग हो जाय, तो ऐसी दशा में इन्हें गुणीभूत व्यंग्य काव्य कहा जाता है।

---

१. शब्दार्थोभयभूरेकः भेदा अष्टादशास्यतत्। का० प्र० ४/४१

२. अतादृशिगुणीभूतव्यग्यं व्यंग्ये तु मध्यम्। का० प्र० १/५

मम्मट के द्वारा इस प्रकार के काव्य को 'मध्यम काव्य' कहा गया है। यह मम्मट का अपना निजी विचार था, जो व्यंग्यार्थ की अप्रधानता के ही कारण रहा है। अन्यथा ध्वनि सम्प्रदाय के अन्य आचार्यों ने (आनन्द वर्धन और अभिनव गुप्त) इसका नाम "गुणीभूत व्यंग्य काव्य" ही रखा है। अतः नाम की भिन्नता होते हुए भी दोनों एक ही हैं। आनन्दवर्धन के अनुसार इस काव्य का भी बहुत अधिक महत्व होता है। इसमें चमत्कार भी कम नहीं होता। इसी से इसे ध्वनि काव्य का 'निष्पन्द' कहा गया है।[1] इस काव्य के उदाहरण[2] में जो श्लोक उद्धृत किया गया है, उसमें व्यंग्यार्थ मिलन का संकेत देकर भी न जाना की अपेक्षा वाच्यार्थ मुखच्छवि का बार-बार म्लान हो जाना अधिक चमत्कारजनक है। अर्थात् व्यंग्यार्थ का सौन्दर्य प्रधान न होकर वाच्यार्थ की प्रधानता के कारण गौण हो गया है। अतः गुणीभूत व्यंग्य काव्य होगा।

वर्गीकरण में व्यंग्यार्थ का आधारः— अतः स्पष्ट हो गया है कि गुणीभूत व्यंग्य काव्य में व्यंग्यार्थगर्भित वाच्यार्थ का ही चमत्कार अधिक होता है। यदि केवल व्यंग्यार्थ के सौन्दर्य का अनुभव होने लगे तो वहाँ पर ध्वनिकाव्य ही माना जायगा। इस प्रकार व्यक्त है कि दोनों प्रकार के काव्यों का सम्बन्ध व्यंग्यार्थ की प्रधानता अथवा अप्रधानता पर ही निर्भर है। इसका यह तात्पर्य नहीं लगाना चाहिए कि व्यंग्यार्थ के गौण होने से गुणीभूत व्यंग्यकाव्य में रमणीयता का अभाव होगा। आनन्दवर्धन ने तो स्पष्ट रूप से गुणीभूत व्यंग्यकाव्य की रमणीयता[3] एवं व्यंग्यार्थ-गर्भित वाच्यार्थ की चमत्कारिता[4] का समर्थन किया है। आचार्य अभिनवगुप्त ने रमणीयता अथवा सौन्दर्य की इसी भावना की स्थिति सहृदयों में अनिवार्य रूप से मानी है। जिसमें सौंदर्य की यह भावना नहीं होगी उसमें सहृदयता का भी अभाव होगा। अभी तक यह स्पष्ट हो गया कि मम्मट के काव्यों का यह विभेद व्यंग्य अर्थ के ऊपर ही आधारित है और उसी के आधार पर उसका वर्गीकरण किया गया है।

---

१. 'ध्वनिनिष्पन्दरूपो द्वितीयोऽपि महाकवि विषयोऽतिरमणीयो लक्षणीयः सहृदयैः' (ध्वन्यालोक ३/३७)
२. का० प्र० १/३ रा उदाहरण
३. ध्वन्यालोक ३/३६ "प्रसन्नगंभीर पदा..........सुमेधसा"।
४. ध्वन्यालोक ३/२५ "प्रकारोऽन्यो..........वाच्य चारुत्वं स्यात् प्रकर्षवत् ॥

गुणीभूत व्यंग्यकाव्य के भेद:—आचार्य मम्मट ने काव्य प्रकाश के प्रथम उल्लास में इस काव्य के स्वरूप का निर्धारण और पञ्चम उल्लास में उसके विभिन्न भेदों का स्पष्टीकरण उदाहरण सहित किया है। उनके अनुसार गुणीभूत व्यंग्य काव्य के आठ भेद हैं। इन आठ भेदों का संकेत ध्वनिकार और लोचनकार ने पहले ही कर दिया था, जिसे क्रमशः ध्वन्यालोक[1] और ध्वन्यालोक[2] लोचन में देखा जा सकता है। इस वर्गीकरण में मम्मट ने इन दोनों विद्वानों का अनुसरण किया है परन्तु मम्मट की विचार-दृष्टि कुछ भिन्न प्रतीत होती है। ध्वन्यालोककार और लोचनकार का उद्देश्य ध्वनि के सौंदर्य को दिखाना मात्र रहा है, वह ध्वनि चाहे प्रधान रही हो अथवा अप्रधान—इसमें कोई अन्तर उनकी दृष्टि में नहीं आता। परन्तु मम्मट ने ध्वनि की प्रमुखता के आधार पर ध्वनिकाव्य या गुणीभूत व्यंग्य काव्य के तारतम्य को ही दिखाया है।

आचार्य मम्मट ने गुणीभूत व्यंग्य के आठ भेद—अगूढ़, अपराङ्ग, वाच्य सिद्धयंग, अस्फुट, संदिग्ध प्राधान्य, तुल्य प्राधान्य, काक्वाक्षिप्त और असुन्दर व्यंग्य किया है।[3] क्रमशः इन आठों का वर्णन किया जायगा।

१. अगूढ़ व्यंग्य गुणीभूत व्यंग्यकाव्य:—जहाँ व्यंग्यार्थ का ज्ञान सहृदय या असहृदय सभी को हो जाय तथा जो वाच्यार्थ का अनुभव करने वाला हो अर्थात् इसमें वाच्यार्थ व्यंग्य विशिष्ट होता है। यदि व्यंग्य कामिनी-कुचकलशवत् गूढ़[4] होगा तो इससे उसका सौंदर्य बढ़ेगा और यदि अगूढ़ होगा अर्थात् वाच्यार्थ के समान ही स्पष्ट होगा तो वही 'अगूढ़ व्यंग्य' कहा जाता

---

१. (i) ध्वन्यालोक १/१४ अगूढ़व्यंग्य; ३/३४ अपरांग व्यंग्य; वाच्य सिद्ध्यङ्गव्यङ्ग्य ३/२६ अस्फुट व्यंग्य १/१३; संदिग्ध प्राधान्य और तुल्य प्राधान्य १/ 'व्यंग्यस्य प्रतिभामात्रे प्राधान्यं न प्रतीयते'' काक्वाक्षिप्त व्यंग्य ३/३८ और असुन्दर व्यंग्य ३/३४ वृत्ति भाग।

२. (ii) ध्वन्यालोक लोचन १/१४; ३/३४; १/१३; १: ३/३८ ३/३४ वृत्ति भाग।

३. अगूढ़परस्यांगं..........गुणीभूतव्यंग्यस्याऽष्टौभिदा; स्मृताः''
का० प्र० ५/४५–४६

४. 'कामिनी कुचकलशवद् गूढं चमत्करोति, अगूढं तु स्फुटतया-वाच्यायमानमिति गुणीभूतामिति। का० प्र० ५

है। इसमें यह व्यंग्य या तो अर्थान्तर में संक्रमित होगा या अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य रूप होगा अथवा अर्थशक्तिमूल संलक्ष्य क्रम व्यंग्य होगा। इस दृष्टि से इसके तीन भेद हो जाते हैं। क्रमशः इन तीनों का उदाहरण काव्य प्रकाश में दिया गया है।[1]

2. **अपराङ्ग व्यंग्य (गुणीभूत व्यंग्य काव्य)**:—वहाँ होता है जब व्यंग्यार्थ किसी अन्य प्रधानभूत वाक्यार्थ के अंग रूप में उसके उत्कर्ष का कारण बन जाता है। अर्थात् असंलक्ष्यक्रम (रसभावादि रूप) अथवा संलक्ष्य क्रम (वस्तु और अलंकार रूप) जब ये दोनों प्रकार के व्यंग्यार्थ प्रधान रूप से वाक्यार्थ रूप में स्थित किसी अन्य रसभावादि अथवा वस्तु अलंकारादि के अंग बनकर उसके उपकारक हो जाते हैं, तब वहाँ अपराङ्ग व्यग्य गुणीभूत व्यंग्य काव्य होता है।[2] अन्य रस भावादि की अंगता आठ प्रकार से सम्भव हो सकती है, जिसका उदाहरण श्लोक ११६–१२३ तक है।[3] इन उदाहरणों में क्रमशः एक रस को दूसरे रस का अंग, भाव को रस का अंग, भाव को भाव का लिंग, रसाभास या भावाभास को भाव के अंग, भावोदय को भाव का अंग भावसन्धि को अपर भाव का अंग और भाव-सबलता को अन्य भाव का अग बनाया गया है।

इन्हीं को रसवदादि अलंकार कहा जाता है। जब अन्य वाक्यार्थ की प्रधानता होती है तो उसे गुणीभूत व्यंग्य काव्य कहते हैं। इनमें यदि रस अन्य का अंग होगा तो रसवत् अलंकार, भाव के अपरांग होने पर प्रेय अलंकार; रसाभास या भावाभास के अन्य का अंग होने पर उर्जस्वित् अलंकार और भावशान्त्यादि के अंग होने पर समाहित अलंकार कहा जाता हैं। इसका समर्थन भी पूर्व आचार्यों ने किया है।[4]

इसके उपरांत मम्मट ने श्लोक १२४–१२५ में दो उदाहरण और दिये हैं। इनमें संलक्ष्यक्रम की अलंकार ध्वनि और वस्तु ध्वनि की वाच्यांगता दिखायी गयी है। वस्तु ध्वनि भी वाच्य का अंग बन जाने के कारण अपरांग

---

१. का० प्र० पञ्चम उल्लास उदाहरण ११३–११५

२. "अपरस्य रसादिर्वाच्यस्य वा वाक्यार्थीभूतस्य अंग रसादि अनुकरणन् रूपं वा" (का० प्र० पंचम उल्लास)

३. का० प्र० पञ्चम उल्लास श्लोक संख्या ११६ से १२३ तक

४. "गुणीभूतो रसो रसवत् भावस्तुप्रेयः, रसाभासभावाभासोर्जस्वित, भावशान्ति समाहितः"

व्यंग्य रूप गुणीभूत व्यंग्य बन जाता है। इसके पहले उदाहरण में उपमालंकार व्यंग्य है, साथ में श्लेष भी है। इसमें राम का भिक्षुक के साथ उपमानोपमेय भाव शब्द शक्ति मूल संलक्ष्य क्रम व्यंग्य—मेरे द्वारा रामत्व प्राप्त किया गया—इस वाच्यार्थ का अंग बन जाता है।

उदाहरण १२५ में अर्थशक्ति मूल संलक्ष्यक्रम व्यंग्य वस्तु ध्वनि की वाच्यांगता स्वीकार करता है इसमें रवि कमलिनी का व्यवहार वाच्यार्थ है और नायक-नायिका का व्यवहार व्यंग्यार्थ है जो वाच्यार्थ पर आरोपित होने के कारण ही अपनी सत्ता को बनाये हुए है। अतः यहाँ वस्तु पर आधारित व्यंग्यार्थ वाच्य अर्थ का अंग हो जाता है। इसी से इसकी वाच्यांगता सिद्ध होती है। यह भी अपरांग व्यंग्य के ही अन्तर्गत आता है।

३. **वाच्यसिद्धङ्गव्यंग्य** गुणीभूत व्यंग्य काव्य में वाच्य सापेक्ष होता है। इस वाच्यार्थ की सिद्धि व्यग्यार्थ रूप अन्य अर्थ पर निर्भर रहती है परन्तु यह व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ का अंग होकर ही आता है। अर्थात् इस भेद में व्यंग्य-वाच्यार्थ सापेक्ष होता है और वह वाच्य अर्थ की सिद्धि का अंग होता है।

इसके दो उदाहरण दिये गये हैं।[1] प्रथम उदाहरण में हलाहल व्यंग्य है और वह सर्परूप वाच्यार्थ का उपकारक है और वाच्य तथा व्यंग्य अर्थ रूप दोनों पदों का वक्ता कवि है अतः यह एक **वक्तृगत** है और द्वितीय उदाहरण में प्रयुक्त 'अच्युत' पद का प्रयोग करने वाली गोपी है और यही व्यंजक पद है तथा द्वितीय सम्बोधन रूप अर्थ के वाचक शब्द आमन्त्रण का प्रयोग कवि करता है। अतः वाच्य और व्यंग्य दोनों अर्थों का प्रयोक्ता भिन्न-भिन्न हो जाता है। इसे **भिन्न-वक्तृगत** कह सकते हैं।

४. **अस्फुट व्यंग्य** गुणीभूत व्यंग्य में व्यग्य अर्थ स्पष्ट नहीं रहता और उसे समझना कभी-कभी सहृदयों के लिये भी एक कठिन कार्य हो जाता है। उदाहरण संख्या १२८ में बताया गया है कि नायक का दर्शन होना या न होना दोनों में नायिका को सुख नहीं है। यह तो वाच्यार्थ हुआ। इसका व्यंग्यार्थ यह होगा कि ऐसी दशा में नायक कोई ऐसा उपाय करे जिससे वह न तो नायिका की दृष्टि से ही ओझल हो सके और न उसके वियोग का ही भय नायिका को हो। परन्तु इस व्यंग्यार्थ को समझना सरल नही। इसी से अस्पष्ट होने के कारण इसे अस्फुट गुणी व्यंग्य कहा गया है।

---

१. का० प्र० पञ्चम उल्लास, उदाहरण १२७–१२८

५. **संदिग्ध प्राधान्य गुणीभूत व्यंग्य** में व्यंग्यार्थ अथवा वाच्यार्थ के सम्बन्ध में यह सदेह बना रहता है कि इन दोनों में प्रधानता किसकी है ? इसमें किसी भी एक अर्थ की प्रधानता के सम्बन्ध में निश्चित ज्ञान का अभाव रहता है और बुद्धि सदिग्धावस्था में दोलायमान रहती है। इसी से इसे संदिग्ध-प्राधान्य कहा जाता है। दिये गये उदाहरण संख्या १३० में[1] यह निश्चित नहीं हो पाता है कि नेत्रों के सस्पृह रूप में देखने का व्यंग्यार्थ पार्वती के अधरों का चुम्बन लेने से सम्बन्धित है अथवा वाच्यार्थ रूप नेत्रों का व्यापार मात्र ही प्रधान रूप में अभिप्रेत है। इसी से सन्देह की अवस्था बनी रहती है और निर्णय का अभाव होने से संदिग्ध प्राधान्य व्यंग्य कहा गया है।

(६) **तुल्य प्रधान गुणीभूत व्यंग्य** काव्य में वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ की प्रधानता तुल्य रूप में बनी रहती है। इसमें व्यग्यार्थ की प्रधानता वाच्यार्थ की प्रधानता से अधिक नहीं होती। दोनों का एक समान ही महत्व बना रहता है। उदाहरण सं. १३० में व्यंग्यार्थ राक्षसों का नाश और वाच्यार्थ रावण के गौरव निवेदन तथा सौहार्द का सूचन दोनों का सम प्राधान्य है।

(७) **काक्वाक्षिप्त गुणीभूत व्यंग्य** काव्य वहाँ होता है जब व्यंग्यार्थ काकु द्वारा (अर्थात् कंठ के विशेष प्रकार के उच्चारण ढंग से) प्रकट होता है और इसे गुणीभूत के अन्तर्गत मानते हैं। जैसे दिये गये उदाहरण संख्या १३१ में भीम की शक्ति में काकु के द्वारा यह व्यंग्य अर्थ निकलता है कि मैं दुर्योधन आदि सौ कौरवों को अवश्य मारूँगा, दुःशासन का रुधिर पान करूँगा तथा गदा से दुर्योधन के उरु युगल को चूर्ण करूँगा।' क्योंकि कुरु-कुल के नाश करने की प्रतिज्ञा करने वाले भीम की 'न मथ्नामि' आदि निषेधात्मक उक्तियाँ उनकी प्रतिज्ञा के प्रतिकूल हैं और इसे 'न' द्वारा ही यह काकु स्पष्ट हैं। अतः अवश्य मारूँगा यह व्यंग्यार्थ है और वाच्य अर्थ है कुरु-कुल विनाश के प्रतिज्ञा का भंग होना। अतः पहले शीघ्रता से व्यंग्यार्थ की प्रतीति होने के बाद ही वाच्यार्थ की प्रतीति होती है और इस प्रतीति का साधन है 'काकु' अथवा कहने का स्वर। इसी से इस काकु से आक्षिप्त व्यंग्य काव्य कहा गया है।

(८) **असुन्दर व्यंग्य** गुणीभूत व्यंग्य काव्य में व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ की उपेक्षा कम सुन्दर होता है। दिये गये उदाहरण में व्यंग्यार्थ है–कामी-युवक का वेतस कुञ्ज में प्रवेश करना— और वाच्यार्थ है 'गृहकर्म में रत सुन्दरी के अंगों में व्याकुलता उत्पन्न होना। इसमें व्यंग्यार्थ में वह चमत्कार नहीं है जो वाच्यार्थ

---

१. का० प्र० उल्लास ५ उदा० १३०

में है। इस उदाहरण में "अङ्गों में अवसाद का उत्पन्न होना' वाच्यार्थ है और इस वाच्यार्थ का ज्ञान बिना व्यंग्यार्थ की अपेक्षा के ही हो जाता है तथा यह वाच्यार्थ ही विप्रलम्भ भाव का पोषक है, और अधिक चमत्कार जनक भी है।

इस काव्य के सम्पूर्ण भेद-प्रभेद—यहाँ यह समझ लेना चाहिए कि ध्वनि काव्य की ही भाँति गुणीभूत व्यंग्य काव्य के भी इन आठ भेदों के अतिरिक्त अन्य भी बहुत से भेद हो सकते हैं अर्थात् जैसे ध्वनि काव्य के शुद्ध भेद-प्रभेद 'अर्थान्तर संक्रमित वाच्यत्व' की विशेषताओं से सम्भव है तथा संकीर्ण अवान्तर भेद 'संकर' और 'संसृष्टि' के आधार पर हो सकते हैं, उसी पर गुणीभूत व्यंग्य के भी भेद-प्रभेद हो सकते हैं। परन्तु सभी स्थानों पर सम्भव नहीं है, क्योंकि जहाँ "वस्तु रूप वाच्य के द्वारा अलंकारों का अभिव्यञ्जन हो रहा हो, वहाँ अभिव्यंग्य अलंकार ध्वनि होगा, गुणीभूत व्यंग्य नहीं होगा।[1]

मम्मट ने ध्वनि के ५१ मुख्य भेद बताये हैं। उनमें से वस्तु व्यंग्य अलंकार रूप स्वतः सम्भवी, कवि प्रोढ़ोक्ति सिद्ध और कवि निबद्धवक्तृ-प्रौढ़ोक्ति सिद्ध भेदों के प्रत्येक में पदगत वाक्यगत और प्रबन्धगत भेदों की कल्पना गुणीभूत में नहीं की जा सकती है। अतः ध्वनि काव्य के उन ५१ भेदों में से ६ भेदों को निकाल देने पर गुणीभूत व्यंग्य काव्य के कुल ४२ भेद प्रमुख रूप में हो सकते हैं। गुणीभूत व्यंग्य के इन भेदों में जो अलंकार रूप में भी सम्भव होते हैं, तथा जो उपमादि अलंकारों से युक्त भी होता है—संकर और संसृष्टि की सम्भावनों के साथ 'ध्वनि के सम्मिश्रण से और भी भेद हो सकते हैं। इस प्रकार से इन दोनों के सम्मिश्रण से भेद-प्रभेदों की संख्या बहुत अधिक हो जाती है। परन्तु उन सभी भेदों की गणना से कोई महत्व नहीं है तथा उनका बहुत उपयोग भी नहीं होता है। अतः प्रमुख भेद—४२ ही मानना चाहिए। उसके अन्य भेद-प्रभेद करना केवल मात्र गणना की सन्तुष्टि के लिए ही है। सच तो यह है कि आचार्य मम्मट इस गणना को महत्व नहीं देते और उनका मुख्य उद्देश्य ध्वनि के स्वरूप का उन्मीलन करना एवं उसके रहस्यों का उद्घाटन करना ही रहा है। इसी से केवल इसका संकेत करके पुनः 'ध्वनि' की स्थापना करने में ही उन्होंने अपनी सभी मानसिक शक्ति केन्द्रित कर दी है और इसमें उन्हें पूर्ण-सफलता भी प्राप्त हुई है।

---

१. "यथायोगमिति। व्यञ्जन्ते वस्तुमात्रेण यदाऽलंकृतयस्तदा। ध्रुवं-ध्वन्यङ्गता तासां काव्य वृत्तेस्तदाश्रयात्'। इति ध्वनिकारोक्तदिशा वस्तु मात्रेण यत्रालंकारौ व्यज्यते न तत्र गुणीभूत व्यंग्यत्वम्"। का० प्र० पं० उल्लास।

चित्र-काव्य

स्वरूप—व्यंग्य अर्थ से रहित अवर (अधम) काव्य शब्द-चित्र और अर्थ-चित्र भेद से दो प्रकार का होता है। इसी अवर काव्य को आनन्दवर्धन ने चित्र-काव्य कहा है। यह विभेद व्यंग्यार्थ के प्राधान्य या अप्राधान्य के आधार पर किया गया है। जहाँ व्यंग्यार्थ की प्रधानता होगी, वहाँ ध्वनि काव्य; जहां व्यंग्यार्थ की प्रधानता नहीं होगी वहाँ गुणीभूत व्यंग्य काव्य और जहाँ व्यंग्यार्थ की स्थिति ही न हो, वहाँ चित्रकाव्य होता है।[2] अर्थात् इस काव्य में काव्य की आत्मा ध्वनि का सर्वथा अभाव रहता है। इसमें न तो रस भावादि का रहस्य होता है, न ध्वनि का प्रकाशन; अपितु शब्द और अर्थ के वैचित्र्य के आधार पर चित्र की भाँति एक कथन मात्र रहता है जहाँ शब्द का ही कथन होता है, वहाँ उपमादि अलंकार होते हैं। वास्तव में यह काव्य न होकर ध्वनिकार के मत से काव्य का अनुकरण है। अतः स्पष्ट हो जाता है कि रसभावादि के विश्रान्ति रूप आनन्द से शून्य सभी प्रकार की अलंकार योजना चित्र-काव्य के अन्तर्गत आती है। यदि इस अलंकार योजना में रस-भावादि अभिव्यंग्य हो तो वह चित्रकाव्य न होकर ध्वनि काव्य की ही परिधि में आयेगा। मम्मट ने वृत्ति भाग में कहा है कि "चित्र से अभिप्राय है—गुण की व्यञ्जना करने वाले शब्द तथा अर्थ और शब्द-अर्थ से अलंकृत रचना। अव्यंग्य का अर्थ व्यंग्यार्थ की स्फुट प्रतीति की रहितता से है। अधम होने से उसे अवर काव्य कहा गया है।[3]

भेद– इसके दो भेद किये गये हैं। (१) शब्द चित्र (२) अर्थ-चित्र। शब्द चित्र से शब्दालंकार की प्रधानता रहती है, और कवि का ध्यान शब्द में विचित्रता उत्पन्न करने में ही लगा रहता है। जब अर्थ की अपेक्षा शब्द में ही विचित्रता उत्पन्न करने की ओर कवि-उन्मुख हो, तो वहाँ शब्द-चित्र माना

---

१. शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यंग्यमवरं स्मृतम्—का० प्र० १/५

२. प्रधानगुणभावाभ्यां व्यंग्यस्यैव व्यवस्थिते। काव्ये उभेततोऽन्यद् यत्तच्चित्रमभिधीयते।

चित्रं शब्दार्थ भेदेन द्विविधं च व्यवस्थितम्। तत्र किञ्चिच्छब्दचित्रं वाच्यचित्रमतः परम्॥ ध्वन्यालोक ३/४२–४३.

३. चित्रमिति गुणालंकारयुक्तम्। अव्यंग्यमिति स्फुट प्रतीयमानार्थं रहितम्। अवरमधरम्।

जाता है। शब्द चित्र में अर्थ-वैचित्र्य का सर्वथा अभाव नहीं होता। प्रथम उल्लास में दिये गये उदाहरण[1] में शब्दों की विचित्रता के कारण वहाँ अनुप्रास अलंकार है, साथ ही व्यतिरेक अलंकार के रूप में अर्थालंकार भी है तथा अवर काव्य के दूसरे उदाहरण[2] में अर्थ-वैचित्र्य का प्राधान्य है, परन्तु साथ में अनुप्रास अलंकार भी स्पष्ट रूप में दिखाई पड़ता है।

क्षेत्रों की उभयगतता—इसी प्रकार अर्थ चित्र में अर्थ का वैचित्र्य रहता है। तात्पर्य यह हुआ कि अर्थ वैचित्र्य में शब्द वैचित्र्य गौण रहता है और शब्द वैचित्र्य में अर्थ वैचित्र्य गौण रहता है। इस प्रकार के काव्य में कवि का विशेष मन्तव्य ही शब्द या अर्थ के वैचित्र्य को स्पष्ट कर देता है तथा इस प्रकार जिस सौन्दर्य का विधान होता हैं, उसमें दोनों का योग होता है क्योंकि शब्द अर्थ-बोधक होता है और अर्थ शब्द द्वारा बोध्य है। अतः यह सौन्दर्य उभयगत होता है।

नामकरण का आधार:— शब्द-सौन्दर्य में काव्यानन्द तो रहता ही है परन्तु विभावादि सामग्री के अभाव में शृंगारादि रसों की अभिव्यक्ति नहीं हो पाती। इससे शब्द-सौष्ठव और रसास्वादन का सम्बन्ध नहीं मालूम पड़ता है, परन्तु शब्द द्वारा ही अर्थ-सौष्ठव की प्रतीति होने से दोनों की ही उपादेयता बनी रहती है और काव्य-निर्माण में दोनों के सौन्दर्य-विधान पर कवि की दृष्टि रहती है। षष्ठ उल्लास में दिये गये प्रथम उदाहरण में म, त, क, ध, क्ष, ल आदि व्यञ्जनों के विन्यास में अनुप्रास के सौन्दर्य के साथ ही स्वाभावोक्ति और उपमा का भी सौन्दर्य वर्तमान है, परन्तु 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' अर्थात् प्रधानता के कारण ही नामकरण होता है, इस नियम के अनुसार यहाँ शब्द-चित्र ही होगा यद्यपि अर्थ-सौष्ठव भी वर्तमान है।

दूसरे उदाहरण में अर्थ का सौन्दर्य वर्तमान है। इसमें श्लिष्ट पदों के साथ उपमा का भी सौन्दर्य है। परन्तु ये दोनों उपमा और श्लिष्ट पद एक ही अर्थ को पुष्ट करते हैं। अतः कवि का ध्यान 'सम्मुच्चय–अलंकार' की ओर ही अधिक रमा है और इससे अर्थ-चित्रण का ही सौन्दर्य स्पष्ट होता दीख पड़ता है।

इस प्रसंग में इतना कहा जा सकता है कि शब्द-चित्र और अर्थ-चित्र दोनों ही 'अव्यंग्य' अथवा 'अवर काव्य' के अन्तर्गत आते हैं। यद्यपि इनकी उपादेयता भी अन्ततोगत्वा काव्य में विभावादि की योजनारूप में परिणत

१. का० प्र० १/४ उदाहरण

२. का० प्र० १/५ उदाहरण

हो सकती है, फिर भी स्फुट रूप से व्यंग्यार्थ की प्रतीति कराना कवि का उद्देश्य नहीं होता है।

काव्य संज्ञा की सम्भवनीयता:— ध्वनिकार[1] ने भी इसका समर्थन किया है कि चित्र-काव्य में रस-रूप व्यंग्यार्थ का अभाव रहता है। ऐसी दशा में रस-शून्य होने पर भी उसे काव्य की संज्ञा दी जा सकती है या नहीं? उनका विचार है कि संसार की प्रत्येक वस्तु चित्तवृत्ति को अवश्य प्रभावित करती है अथवा प्रत्येक वर्णन किसी न किसी रस-भावादि का अंग भी बन ही जाता है। किसी भी प्रकार की मानव-चेतना अथवा संवेदना क्यों न हो, उसका सम्बन्ध कवि हृदय से अवश्य ही स्थापित हो जाता है। ऐसी दशा में वह काव्य का विषय हो ही जाता है। परन्तु कवि का उद्देश्य चित्र काव्य में तो शब्द-चित्र या अर्थ-चित्र उपस्थित करना होता है। भले ही उससे रस-भावादि की पुष्टि हो जाय। सहृदय-जनों को इससे भी आनन्द प्राप्त हो सकता है, परन्तु वह पूर्ण रसानुभूति नहीं होगी। क्योंकि रस दृष्टि से कवि हृदय का पूरा सहयोग न होने से उसकी दृष्टि तो शब्द या अर्थ-चित्रण तक ही सीमित रहती है। अतः चित्र-काव्य में रस-भावादि से युक्त काव्य की भाँति सरसता का अभाव रहता है और इसी दृष्टि से उसे नीरस काव्य की संज्ञा दी गई है।

निर्णय:— काव्य सम्बन्धी अभी तक के दिये गये विवरणों के आधार पर अब यह निःसन्देह कहा जा सकता है कि काव्य की उत्तमता का एक मात्र आधार व्यंग्यार्थ की चारुता ही है। अर्थात् जिस काव्य में व्यंग्य-अर्थ की प्रधानता रहती है, तथा उसी के चारुत्व का प्रदर्शन कवि का अभिप्रेत होता है, उसे उत्तम काव्य अथवा ध्वनि-काव्य की संज्ञा दी गई है। अधम या अवर-काव्य उसे कहा गया है जिसमें एक चमत्कार तो अवश्य होता है, परन्तु वह व्यंग्य के कारण न होकर शब्द अथवा अर्थ-जन्य होता है अर्थात् शब्दार्थ वैचित्र्य से ही वह चमत्कार उत्पन्न होता है। और जहाँ पर मध्यम-मार्ग का अनुसरण किया गया हो— अर्थात् व्यंग्यार्थ और वाच्यार्थ दोनों की स्थिति हो, परन्तु व्यंग्यार्थ की अपेक्षा वाच्यार्थ ही अधिक चमत्कार विधायक हो तथा यह वाच्यार्थ का अंग होकर आया हो, तो वहाँ पर मध्यम-काव्य की अथवा गुणीभूत व्यंग्य काव्य होगा। इस प्रकार ध्वनिसम्प्रदाय वालों की दृष्टि में व्यंग्यार्थ का अत्यधिक महत्व है और किसी भी रचना की उत्तमता की कसौटी भी यही व्यंग्यार्थ ही माना गया है।

---

१. ध्वन्यालोक—३रा उद्योत "प्रतीयमानोप्यर्थास्त्रतिभेदः............ ... व्यवस्थाप्यते।"

वाच्यार्थ और अभिधाशक्ति

शब्दार्थ के स्वरूप का निर्णय करते हुए मम्मट ने काव्य-प्रकाश के द्वितीय उल्लास में बताया है कि वाचक, लक्षक और व्यञ्जक तीन प्रकार के शब्द होते हैं, और इन्हीं तीन प्रकार के शब्दों से वाच्य, लक्ष्य, और व्यंग्य तीन प्रकार के अर्थों का भी बोध होता है। मीमांसकों के मत से इन तीनों के अतिरिक्त तात्पर्यार्थ नामक एक चौथा अर्थ भी मानना चाहिए। इस अर्थ का बोध कराने वाली शक्ति तात्पर्या-शक्ति कही जाती है। अन्य तीन अर्थों का बोध क्रमशः अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना नामक शब्द-शक्ति से होता है। इन चारों शक्तियों का यथा प्रसंग विस्तार से वर्णन किया जायेगा। संक्षेप में यहाँ उनके स्वरूप की चर्चा मात्र की जा रही है।

जब कोई शब्द अपने साक्षात् संकेतित अर्थ का (सीधे रूप में ही प्रचलित अर्थ का) बोध कराता है तो वहाँ उस अर्थ की प्रतीति में शब्द का व्यापार करने वाली शक्ति को अभिधा शक्ति कहते हैं और उससे बोध्य अर्थ को वाच्यार्थ अथवा अभिधेयार्थ कहते हैं। इस संकेतित अर्थ का बोध जब न हो और उससे सम्बद्ध किसी अन्य अर्थ का बोध जिस शब्द की शक्ति द्वारा होता है, उसे लक्षणा-शक्ति और उस अर्थ को लक्ष्यार्थ कहते हैं। जब वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ से आगे प्रकरणादि के कारण एक सर्वथा नवीन अर्थ का बोध होता है, तो यह व्यञ्जना-व्यापार कहा जाता है। इसका बोध कराने वाला शब्द व्यञ्जक और अर्थ व्यंग्य होता है। तात्पर्याशक्ति वास्तव में शब्द की शक्ति नहीं है। मीमांसकों के दिये गये उदाहरणों में इसे वाक्य-शक्ति कहना अधिक समीचीन प्रतीत होता है।

शब्द की उपाधियों का विभाग:— स्मरण रखना चाहिए कि वाचक, लक्षक और व्यञ्जक इन तीन प्रकार के शब्दों का जो वर्णन किया गया है, वह विभाग वास्तव में शब्दों का नहीं है अपि तु उनकी उपाधियों का है अर्थात् एक ही शब्द प्रकरणादि के कारण कभी वाचक, कभी लक्षक और कभी व्यञ्जक हो जाता है। कोई एक निश्चित शब्द केवल वाचक ही हो, अथवा लक्षक या व्यञ्जक ही हो, इस प्रकार नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि एक

ही शब्द जो एक बार वाचक रहा हो, दूसरे प्रसंग में लक्षक और तीसरे प्रसंग में वही व्यञ्जक हो जायेगा। अतः वाचक, लक्षक, और व्यञ्जक का यह विभाग शब्दों का न होकर शब्दों की उपाधियों का ही होता है।

अभिधा और वाच्यार्थः— जो शब्द साक्षात् संकेतित अर्थ को बताता है, वह वाचक कहा जाता है[1], और इससे जिस अर्थ का बोध होता है, वह मुख्य अर्थ होने से वाच्यार्थ होता है तथा इस वाच्यार्थ को बताने वाली शब्द की अभिधा-शक्ति होती हैं।[2] अर्थात् जिस शब्द-शक्ति से मुख्यार्थ का बोध होता है, उसे अभिधा कहते हैं और यही मुख्य क्रिया भी कही जाती है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि यह मुख्य व्यापार शब्द के अमुख्य व्यापार– जो अभिधामूला व्यञ्जना में पाया जाता है–से भिन्न है। आचार्य जगन्नाथ ने कहा है कि अभिधाशक्ति उस व्यापार को कहते है, जहाँ अर्थ का शब्द में और शब्द का अर्थ में साक्षात् सम्बन्ध हो[3]। सामान्य भाषा में इसे इस प्रकार स्पष्ट कर सकते हैं कि शब्द का जन साधारण में प्रचलित एवं जो प्रसिद्ध अर्थ होता है, उसे ही अभिधेयार्थ कहते हैं। इस अर्थ का बोध दैनिक व्यवहारों से ही सम्भव होता है। इस प्रकार शब्द से व्यक्त होने वाले सीधे अर्थ को ही वाच्यार्थ कहते हैं। अतः स्पष्ट है कि संकेत के द्वारा ही शब्द से अर्थ-ज्ञान होता है।

अर्थ ज्ञान में संकेतः— संकेत का स्वरूप ज्ञान और प्रक्रिया के सम्बन्ध में बताया गया है कि किसी शब्द के प्रयुक्त होने पर संकेत के सहारे हम किसी शब्द से अर्थ विशेष को ही ग्रहण करते हैं यथा जब हम 'गौ' शब्द का प्रयोग करते हैं, तो इससे एक ऐसे पशु विशेष का अर्थ-ज्ञान होता है, जिसके चार पैर, दो सींग, एक गल-कम्बल और इसी प्रकार की अन्य चीजें होतीं हैं अर्थात् 'गौ' शब्द से सास्नादिमान् एक पशु विशेष का बोध होता है। इसमें 'गौ' शब्द उस पशु विशेष का वाचक शब्द है, वह पशु उस शब्द का वाच्यार्थ है और इसमें शब्द का अभिधा-व्यापार अपना कार्य करता है। अतः वाचक

---

१. साक्षात्संकेतितं योऽर्थमभिधत्ते स वाचकः।

२. स मुख्योऽर्थस्तत्र मुख्यो व्यापारोऽस्याभिधोच्यते। काव्य प्रकाश दूसरा उल्लास

३. शक्त्याख्योऽर्थस्य शब्दगतः शब्दस्यार्थगतो वा सम्बन्धविशेषोऽभिधा रस गंगाधर १४०

शब्द से सदैव वाच्यार्थ का ही बोध हो सकता है और सर्व प्रथम किसी प्रयुक्त शब्द से वाच्यार्थ रूप मुख्य अर्थ की ही प्रतीति होती है। इस अर्थ का बोध होने पर ही इससे सम्बद्ध अन्य अर्थों की प्रतीति सम्भव है। इस प्रकार अभिधा-शक्ति द्वारा अर्थ-बोध की प्रक्रिया में संकेत का महत्वपूर्ण स्थान माना जाता है। इस स्थान पर यह ध्यान में रखना चाहिए कि यद्यपि शब्द को यहाँ वाचक कहा गया है जो संकेत को ग्रहण कराने में सहायक होता है, परन्तु व्यवहार में हम शब्द का प्रयोग न करके या तो वाक्य का प्रयोग करते हैं, या शब्द वाक्य का। अतः वाक्य के स्वरूप को समझ लेना आवश्यक है।

वाक्य का स्वरूप:—आचार्य विश्वनाथ ने बताया है कि 'योग्यता, आकांक्षा और सन्निधि से युक्त पदोच्चय ही वाक्य कहा जाता है।'[1] अर्थात् उस शब्द 'समूह को वाक्य कहेंगे, जिसमें आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि के सहारे एक निश्चित अर्थ की अभिव्यक्ति हो। आचार्य मम्मट ने कहा है कि "पदार्थों का आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि के बल से परस्पर सम्बन्ध होने में पदों से प्रतीत होने वाला अर्थ न होने पर भी विशेष प्रकार का तात्पर्यार्थ रूप वाक्यार्थ प्रतीत होता है। यही अभिहितान्वय वादियों का मत है" [2]

आकांक्षा:—इन तीनों पारिभाषिक शब्दों को समझ लेना आवश्यक है। जैसे 'गामानय' 'गाय ले आओ' वाक्य में यदि केवल 'गाम्' का ही कथन किया जाय और 'आनय' का नहीं, तो वाक्य के अर्थ की पूर्ति की आकांक्षा बनी रहेगी और श्रोता की जिज्ञासा पूर्ण नहीं हो पायेगी अर्थात् एक पद सुनने के उपरान्त जब दूसरे पद को सुनने की अभिलाषा वर्तमान रहे और बिना उस शब्द या पद को सुने पूर्ण अर्थ का ज्ञान न हो तो यही 'आकांक्षा' होगी। इस प्रकार श्रोता की जिज्ञासा को ही आकांक्षा कहेंगे।

योग्यता:— अनौचित्य के अभाव को योग्यता कहते हैं। इससे पदों के अर्थों के परस्पर सम्बन्ध में बाधा नहीं होनी चाहिए। यदि बाधा होगी तो उसे न तो वाक्य ही कहेंगे और न उससे एक सार्थक वाक्यार्थ-बोध ही

---

१. वाक्यं स्याद् योग्यताऽकांक्षासन्निधियुक्तः पदोच्चयः—साहित्य दर्पण

२. आकांक्षा, यौग्यता, सन्निधिवशाद्वक्ष्यमाणस्वरूपाणां''''इत्यभिहि-तान्वयवादिनां मतम्।" काव्य प्रकाश २रा उल्लास

होगा । जैसे 'अग्निना सिञ्चति' वाक्य का अर्थ 'अग्नि से सींचता है' होगा; परन्तु यह वाक्य अनुचित है क्योंकि अग्नि से सिंचन क्रिया सम्भव नहीं है और दोनों का तार्किक तथा लोक व्यवहार के अनुकूल उचित सम्बन्ध नहीं पाया जाता है । इसमें अग्नि में सिंचन की योग्यता का सर्वथा अभाव है । अतः इस पद-समूह में अनौचित्य होने के कारण इसे वाक्य की संज्ञा नहीं दी जा सकती है ।

सन्निधि— वाक्य में स्थान और समय का व्यवधान न पड़ना सन्निधि कहा जाता है । इसमें किसी एक ही व्यक्ति द्वारा अविलम्ब से पदों का उच्चारण होना आवश्यक माना जाता है । यदि कोई व्यक्ति एक वाक्य के विभिन्न पदों का उच्चारण समय के व्यवधान से करे, तो हम उसे वाक्य नहीं कहेंगे ।

कुमारिल भट्ट का मत—अभिहितान्वयवाद में पदों से पहले अनन्वित पदार्थ उपस्थित होते हैं और बाद में पदों की आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि के बल से तात्पर्याख्या शक्ति से उन पदार्थों के संसर्ग रूप वाक्यार्थ का बोध होता है । वाक्य में शब्द केवल अपने अर्थ का ही बोध कराने में सक्षम होते हैं, परन्तु वाक्य में बहुत से ऐसे पदों का भी प्रयोग होता है, जिनका साक्षात् सकेतित अर्थ उचित नहीं बैठता । ऐसी दशा में तात्पर्य के अनुसार ही उसका बोध हो सकता है जैसे 'घटं करोति' वाक्य में घटं का अर्थ घड़ा और 'करोति' का अर्थ 'करता है' । अर्थात् घड़ा करता है—यह शब्दार्थ हुआ, परन्तु वाक्य का वास्तविक अर्थ इसे हम नहीं मान सकते हैं, क्योंकि घड़ा करने का अर्थ व्यवहार में नहीं लिया जाता है अतः इसका अर्थ भिन्न रूप में ही लगाना पड़ेगा । अर्थात् ' घटनिष्ठं यत् कर्मत्वं तदनुकूलाकृतिः करोति" यह अर्थ होगा। इससे 'घटं करोति' वाक्य से निष्ठत्व का शब्दार्थ ग्रहण नहीं होता है, परन्तु वाक्य में प्रयुक्त विभिन्न शब्दों की आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि की अन्विति से ही इस अर्थ का ग्रहण सम्भव होता है । इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि 'निष्ठत्व' का अर्थ शब्द की अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना किसी भी शक्ति से ग्रहण नहीं किया जा सकता है, अपि तु वक्ता के कथन के उद्देश्य के अनुसार ही शब्द की आकांक्षादि के योग से इस अर्थ का बोध होता है । अतः योग्यता आकांक्षा और सन्निधि के समन्वय से प्राप्त अर्थ से भिन्न जिस दूसरे अर्थ या भाव का ज्ञान होता है, वही वक्ता का तात्पर्य होता है और इस अर्थ को तात्पर्यार्थ कहते हैं तथा इसका बोध कराने वाली शक्ति तात्पर्याख्या शक्ति कही जाती है । साहित्यदर्पणकार

ने भी इसी बात का समर्थन किया है।[1] अभिहितान्वयवादियों का यही मत है। ऐसा लगता है कि आचार्य मम्मट का विचार कुमारिल भट्ट से भिन्न था। इसी से इन्होंने अपनी कारिका में "तात्पर्यार्थोऽपि केषुचित्" लिखा है।

कुमारिल भट्ट के मत का सर्व प्रथम खण्डन उन्हीं के शिष्य प्रभाकर भट्ट ने किया है। बाद में शालिकनाथ मिश्र आदि अन्विताभिधानवादियों के द्वारा कुमारिल भट्ट के इस मत का खण्डन किया गया है।

अन्विताभिधानवाद के अनुसार पहले से अन्वित पदार्थों का ही अभिधा से बोध होता है और पदार्थों का अन्वय पहले से ही सिद्ध होने के कारण तात्पर्याख्या शक्ति की कोई आवश्यकता नहीं होती हैं। इसी से अन्वित पदार्थों का अभिधा से बोध होने से इसका नाम 'अन्विताभिधानवाद' कहा गया है।

इसको स्पष्ट करने के लिये प्रभाकर भट्ट ने संकेत ग्रहों की चर्चा की है। ये संकेतग्रह व्याकरण, कोष, उपमान, आप्तवाक्य, व्यवहार, वाक्य शेष, विवृत्ति और सिद्धपद के सान्निध्य से सम्भव होते हैं।[2] अतः इनसे यह प्रकट हो जाता है कि किसी शब्द से विशेष अर्थ का ही ज्ञान उस प्रसंग में होता है अर्थात् अमुक शब्द से अमुक अर्थ का ही ज्ञान होगा, इस प्रकार के शक्तिग्रह के आठ उपायों में व्यवहार ही सर्वप्रमुख है। और छोटे बालक के शब्दों से अर्थ ग्रहण करने की प्रक्रिया को उदाहरण के रूप में उन्होंने प्रस्तुत किया है। बालकों के इस व्यवहार ज्ञान की क्रिया को 'आवापोद्वाप' की संज्ञा दी गई है।

व्यवहार द्वारा संकेतग्रह—छोटे बालक में संकेतग्रह का एक मात्र उपाय व्यवहार ही है। इसके अनुसार उत्तमवृद्ध पिता आदि मध्यम वृद्ध भाई या भृत्य को गाय अथवा अन्य कोई वस्तु लाने के लिये आज्ञा देता है। पास में बैठा छोटा बालक उत्तम वृद्ध द्वारा कहे गये वाक्य को सुनता है तथा उसकी प्रतिक्रिया स्वरूप मध्यमवृद्ध भाई द्वारा सास्नादिमान् एक गाय रूपी पिण्ड विशेष को लाता हुआ आँखों से 'प्रत्यक्ष' देखता है। बालक 'गाम्' और 'आनय' पद में से किसी को नहीं जानता है, परन्तु 'पिता के द्वारा कहे गये वाक्य का अर्थ समझ-

---

१. तात्पर्याख्यावृत्तिमाहुः पदार्थान्वयबोधिनीम।
तात्पर्यार्थं तदर्थञ्च वाक्यं तदबोधकं परे॥ साहित्यदर्पण

२ शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानः कोषाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च।
वाक्यस्य शेषाद् विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य सिद्धाः॥
सि० मु० दिनकरीस

कर ही इस भाई पशु विशेष को लाया है, ऐसा वह 'अनुमान' लगा लेता है। इस प्रकार सम्पूर्ण वाक्य 'गामानय' का तो उसे अर्थ ज्ञान हो जाता है, परन्तु अलग-अलग पदों के अर्थ का ज्ञान उसे नहीं होता है। पुनः दूसरे समय में 'गामानय' अश्वमानय आदि वाक्यों को सुनता है और तदनुकूल चेष्टाओं को देखता है और सुने हुए पद 'गाम्' आदि को पुन: सुनकर उसे पहचान लेता है तथा उन-उन क्रियाओं को देखकर अन्वयव्यतिरेक से प्रवृत्ति निवृत्तिकारी वाक्य ही प्रयोग के योग्य है, ऐसा निश्चय कर लेता है।[1] इस प्रकार बार-बार किसी एक वाक्य की प्रतिक्रिया में एक ही प्रकार के व्यवहार को होता देखकर वह निश्चय कर लेता है कि वह लाया गया पिण्ड विशेष गाय है और उस व्यक्ति के सम्बन्ध से 'आनय' पद का भी उसे ज्ञान हो जाता है। इस प्रकार अन्वित पदार्थ ही शब्द को व्यक्ति के सम्बन्ध से प्रकट करता है। अतः संकेतग्रह 'केवल पदार्थ' में न होकर किसी के साथ 'अन्वित पदार्थ' में ही माना जायगा। इसका तात्पर्य यह हुआ कि अनन्वित पदार्थ में संकेतग्रह नहीं हो सकता है और अभिधा से जब इसका बोध हो ही जाता है, तो तात्पर्याख्या शक्ति का मानना उचित नहीं कहा जा सकता है। अतः अन्विताभिधानवाद ही ठीक है, अभिहितान्वयवाद ठीक नहीं है, यही प्रभाकर मीमांसकों के अन्विताभिधानवाद का संक्षेप है।

शब्दों से अर्थ की नियामकता—उपयुक्त पंक्तियों में संकेत की जो चर्चा की गई है, उस सम्बन्ध में विद्वानों में बड़ा मतभेद है। किसी वाक्य में प्रयुक्त अमुक शब्द का अमुक अर्थ ही क्यों लिया जाय, इस समस्या का समाधान करने के लिये विद्वानों में दो प्रकार की विचार पद्धति दीख पढ़ती है।

(१) ईश्वरेच्छा अर्थात् दिव्य उत्पत्ति का मत अभिधा शक्ति द्वारा वाचक शब्द से जिस अर्थ का बोध होता है, उसे वाच्यार्थ अथवा मुख्यार्थ कहते हैं और उस मुख्यार्थ का ग्रहण प्रत्यक्ष संकेत से ही सम्भव है। परन्तु अमुक शब्द से अमुक अर्थ का ज्ञान होना चाहिए, इस रूप में संकेत का विधायक ईश्वर की इच्छा ही मानी गई है। सर्वप्रथम वाक्य में प्रयुक्त किसी शब्द का अर्थ विशेष कैसे हुआ है, इसके लिये दार्शनिकों ने बताया है कि इसमें ईश्वर की इच्छा ही प्रधान है। इस मत के अनुसार सृष्टि के साथ ही ईश्वर ने शब्दों तथा उनके

---

१. "............इत्यादिवाक्यप्रयोगे तस्य-तस्य शब्दस्य तन्तमर्थमवधारयतीति अन्वयव्यतिरेकाभ्यां प्रवृत्तिनिवृत्तिकारिवाक्यमेव प्रयोग योग्यमिति।" काव्य प्रकाश पंचम उल्लास

साक्षात् संकेतित अर्थों तथा उनके मुख्य सम्बन्ध की स्थापना स्वयं कर दी थी और हम उन्हें परम्परा से ग्रहण करते चले आ रहे हैं। यह मत उन नैयायिकों का है, जो शब्द को नित्य न मानकर कृतक मानते हैं।

इस मत के विपरीत कुछ विद्वानों ने शब्द और अर्थ में नित्य सम्बन्ध माना है, कृतक नहीं। परन्तु शब्द से अर्थ का ज्ञान वे भी संकेत ग्रह से ही मानते हैं अर्थात् किसी शब्द से जिस अर्थ का ग्रहण होता है, उस अर्थ के ज्ञान के लिये शब्द और अर्थ के बीच में रहने वाले संकेत की जानकारी आवश्यक मानी गई है।

(२) संकेत ग्रह के सम्बन्ध में दूसरा मत अनिश्वरवादी है अर्थात् मानव समाज की चेतना के अनुसार ही नये शब्दों का निर्माण तथा उन शब्दों के अर्थों का निर्धारण विकास के साथ ही होता चला जाता है। इस मत में जनमत का समर्थन है और चेतनावाद की पुष्टि की गई है। संकेत का ग्रहण इस मत में भी होता है, परन्तु यह संकेत ईश्वर कृत न होकर मानव-कृत है। यही इन दो विचारधाराओं में अन्तर है।

संकेतग्रह के साधन—संकेत के सम्बन्ध में भारतीय दार्शनिकों में बड़ा ही मतभेद है। वैयाकरणों ने जात्यादि चार भेद और मीमांसकों ने केवल जाति-रूप एक भेद माना है।[1] वैयाकरण और मीमांसक दोनों ही यह मानते हैं कि संकेत व्यक्ति में नहीं हो सकता है। ऐसी दशा में संकेत कहाँ माना जाय इस सम्बन्ध में निम्नलिखित मत हैं—

(१) भाट्ट मीमांसक-जाति में संकेत और आक्षेप से व्यक्ति का बोध।

(२) श्रीकर का मत—जाति में संकेत उत्पादन से व्यक्ति का ग्रहण।

(३) मंडन मिश्र का मत—लक्षणा शक्ति से व्यक्ति का ग्रहण।

(४) प्रभाकर का मत—जाति में संकेत-जाति के ज्ञान के साथ व्यक्ति का स्मरण।

(ये चारों जातिवादी मत हैं)

(५) जात्यादिवादी वैयाकरण और नव्य आलंकारिक मत-उपाधि में संकेत।

(६) नैयायिक मत—जाति विशिष्ट व्यक्तिवादी।

---

१. संकेतितश्चतुर्भेदो जात्यादि जातिरेववा। काव्य प्रकाश

(७) बौद्धमत—अपोहवादी ।

आचार्य मम्मट ने इन सभी मतों में वैयाकरण मत का ही समर्थन किया हैं । इसके कई कारण बताये गये हैं ।

१) इन्होंने प्रायः वैयाकरणों का अनुसरण किया है और उन्हीं के मतों को मानने में अपनी रुचि भी दिखाई है ।

(२) पतञ्जलि के शब्द-विभाग को उपस्थित करके इस मत का समर्थन किया गया है ।

(३, दशम उल्लास में विरोध अलंकार का विभाजन भी इसी आधार पर किया गया है ।

(४) उन्होंने 'शब्द व्यापार विचार' नामक अपने दूसरे ग्रन्थ में वैयाकरणों के सिद्धान्तों का ही समर्थन किया है ।

(५) मीमांसक सिद्धान्त के अन्त में 'अन्ये' लिखकर इस मत के प्रति उदासीनता दिखाई गई हैं । अतः मीमांसकों का मत उनका मत नहीं हो सकता है । वस्तुतः वे वैयाकरणों के ही अनुयायी है ।

वैयाकरणों का जात्यादिवादी प्रथम मत—मम्मट ने इस मत की स्थापना करने के पूर्व व्यक्ति शक्तिवादियों के विचारों को पूर्वपक्ष के रूप में उपस्थित किया है और इसका संकेत उनकी वृत्ति में किया गया है । उपर्युक्त चार मतों में से जात्यादिवादी और जातिवादी का उल्लेख कारिका में तथा व्यक्तिवादी तद्वानवादी और अपोहवादी का उल्लेख वृत्ति में किया गया है ।

(१) **व्यक्तिवादी-पूर्वपक्ष**—नव्य नैयायिकों के अनुसार संकेत जाति में न होकर व्यक्ति में ही माना जायगा । इसके अनुसार व्यवहार में हम देखते हैं कि व्यक्ति ही अर्थ क्रिया का निर्वाहक होता है, जाति नहीं ।[1] अतः व्यवहार द्वारा होने वाला संकेतग्रह व्यक्ति में ही सम्भव है, जाति में नहीं । यथा 'गामानय' वाक्य में सुनने वाला किसी व्यक्ति रूप गाय को ही लाता है, सम्पूर्ण गौ जाति को नहीं और न गौ जाति का लाया जाना ही सम्भव है । इस प्रकार व्यवहार में गौ-विशेष (गो-व्यक्ति) का ही प्रयोग होता है, इसलिए व्यक्ति में ही संकेत माना जायगा, जाति में नहीं । तात्पर्य यह है कि जीवन की व्यावहा-

---

१. 'अर्थ क्रियाकारितया प्रवृत्तिनिवृत्तियोग्य व्यक्तिरेव ।' काव्य प्रकाश दूसरा उल्लास पृष्ट ४४

रिक क्षमता व्यक्ति में ही होती है और सम्पूर्ण अर्थों की सिद्धि व्यक्ति द्वारा ही सम्भव है। जैसे यदि गाय से दूध प्राप्त करना हो तो हम व्यक्तिगत गाय के ही पास जाते हैं, 'जाति' के पास नहीं। अतः व्यक्ति में ही संकेत का ग्रहण मानना चाहिये, जाति में नहीं।

मम्मट द्वारा इस मत का खण्डन—आचार्य मम्मट ने इस मत का खण्डन अपनी वृत्ति में करते हुए दो तर्क दिये है।

(१) व्यक्ति में संकेतग्रह मानने से आनंत्य और व्यभिचार नामक दोष होगा।[२]

(२) व्यक्ति में संकेत मान लिया जाय तो शब्दों का चतुर्विध-विभाग (जाति, गुण, क्रिया, यदृक्षात्मक) भी नहीं बन पाता है। इसलिए व्यक्ति में संकेत ग्रह मानना ठीक नहीं है। यहाँ पर आनन्त्य और व्यभिचार दोषों को समझ लेना आवश्यक प्रतीत होता है।

आनन्त्य दोष—सामान्यतया शब्द से जिस अर्थ विशेष की प्रतीति होती है, उसी अर्थ में उस शब्द का संकेतग्रह हो सकता है। बिना संकेतग्रह के अर्थ की प्रतीति हो ही नहीं सकती है। अतः व्यक्ति में संकेतग्रह मानने से किसी शब्द विशेष से उसी व्यक्ति विशेष की ही उपस्थिति होगी, अन्य व्यक्तियों की उपस्थित नहीं हो सकती है। प्रत्येक अन्य व्यक्ति की उपस्थिति के लिये अलग-अलग संकेत ग्राहकों की आवश्यकता पड़ेगी। उदाहरण के लिये 'गो' शब्द से यदि किसी विशिष्ट गो-व्यक्ति की उपस्थिति होती है, तो उससे अन्य गो-व्यक्तियों का बोध नहीं हो सकता है। उसके लिये अलग-अलग संकेत-ग्रह को मानना पड़ेगा। ऐसी दशा में विभिन्न गो-व्यक्तियों के लिये विभिन्न और अनन्त संकेतग्रहों की कल्पना करनी पड़ेगी और वही 'आनन्त्य' दोष माना जाता है। अतः व्यक्ति में संकेतग्रह सम्भव नहीं है।

व्यभिचार दोष—इस आनन्त्य दोष से बचने के लिये पूर्वपक्षी यदि यह कहे कि सभी गो व्यक्तियों में अलग-अलग संकेत मानने की कोई आवश्यकता नहीं है, केवल दो चार गो-व्यक्तियों में सकेत मान लेने से ही अन्य गो-व्यक्तियों का भी बोध इसी से हो जायगा, तो ऐसी दशा में इससे प्रत्यक्ष रूप में दो कमियाँ दीख पड़ेंगी।

(१) व्यभिचार दोष हो जायगा अर्थात् इस प्रकार नियम का उल्लंघन माना जायगा। ऊपर यह नियम स्थिर हो चुका है कि संकेत की सहायता से ही

---

२ तथाप्यानन्त्याद् व्यभिचाराच्च तत्र संकेतः केतुं न युज्यते। का०प्र०

कोई शब्द अर्थ विशेष की प्रतीति कराता है और यदि बिना संकेत के हो अर्थ-बोध मानलें, तो यह नियम का उल्लंघन होगा। इस प्रकार व्यक्ति में संकेत मानने से आनन्त्य दोष और यदि दोष को तर्क के द्वारा हटाने का प्रयास किया जाय तो व्यभिचार दोष उत्पन्न हो जायगा।

(२) यहाँ यह भी कहा गया है कि कुछ गो-व्यक्तियों में संकेत मान लिया जाय और शेष का ज्ञान अपने आप हो जायगा, तो जिसके सम्बन्ध में संकेत नहीं किया गया है उसको भी हम स्वयं पहचान लेंगे। ऐसी दशा में यह आवश्यक नहीं है कि 'गो' शब्द से हम गो व्यक्ति का ही अर्थ समझें। इसका अर्थ निर्जीव पदार्थों के लिये भी हो सकता है, क्योंकि वक्ता यहाँ संकेत के अभाव में किसी भी शब्द से कोई भी अर्थ ग्रहण कर सकता है। ऐसी दशा में असंकेतित गाय और असंकेतित दूसरे पदार्थ दोनों ही समान हो जायेंगे।

व्यक्ति में संकेत मान लेने पर शब्द का जो चतुर्विध-विभाग किया गया है, वह भी ठीक नहीं हो पाता है। उदाहरण के लिये "गौ शुक्लो.चलो डित्थः (डित्थ नामक शुक्ल गौ चलती है) वाक्य में गौ, शुक्ल, चल और डित्थ इन चारों शब्दों का अर्थ व्यक्तिवाचक हो जायगा और डित्थ शब्द व्यक्तिवाचक है ही। इस दशा में इनमें कोई अन्तर रह ही नहीं जाता। यदि व्यक्ति में संकेत माने, तो उपर्युक्त सभी शब्दों से गाय रूप व्यक्ति का बोध होगा अर्थात् सभी शब्द एक ही व्यक्ति के वाचक हो जाने से एकार्थी हो जायेंगे, किन्तु यह असम्भव है। अतः मम्मट का यह मत है कि व्यक्ति में संकेत न मानकर व्यक्ति के उपाधिभूत जाति, गुण, क्रिया और यदृक्षारूप धर्मों में ही संकेत ग्रह मानना चाहिए।

उपाधि द्वारा शब्दों का चतुर्विध-विभाग—आचार्य मम्मट ने जिस जात्यादिवादी मत का समर्थन किया है; जाति, गुण, क्रिया और यदृक्षा रूप वह मत वैयाकरणों का है और महाभाष्यकार पतञ्जलि ने भी इसे स्पष्ट किया है।[1] इन्हीं वैयाकरणों का अनुकरण आलंकारिकों ने किया है। महाभाष्यकार के अनुसार मम्मट ने उपाधियों का निम्नलिखित रूप में वर्णन किया है—

उपाधि दो प्रकार की होती है (१) वस्तु धर्म और (२) वक्तृ यदृक्षा सन्निपेक्षित। इन दोनों में जातिगत गुण जो वस्तु में व्याप्त होते हैं, उन्हें वस्तु-

---

१. 'गौ शुक्लश्चलो डित्थ इत्यादौ चतुष्टयी च शब्दानां प्रवृत्तिः' इति महाभाष्यकारः। का० प्र० पृ० ४५

धर्म कहते हैं। और वक्ता की अपनी इच्छा से वस्तु में नाम, गुण, रूप आदि का जो सन्निवेश होता है, उसे वक्तृ यदृक्षासन्निवेशित कहते हैं। इसमें बोलने वाला अपनी इच्छा के अनुसार किसी वस्तु का नाम रख लेता है और इस प्रकार उस शब्द से उस वस्तु विशेष का ही बोध होता है।

पदार्थ पाये जाने वाले गुण को वस्तु धर्म कहते हैं। आचार्यों ने इसके भी दो भेद किये हैं–(१) सिद्ध वस्तु धर्म (२) साध्य वस्तु धर्म। सिद्ध वस्तु धर्म पदार्थ में पहले से ही वर्तमान रहता है। उदाहरणार्थ 'सफेद गौ' में शुक्लत्व और गोत्व पहले से ही सिद्ध (वर्तमान) है। साध्य क्रिया रूप होता है। क्रिया इसमें वर्तमान काल में चलती रहती है अर्थात उसकी साधना होती रहती है। अतः साध्यमान क्रिया रूप वस्तु धर्म को ही साध्य धर्म कहते हैं।

सिद्ध वस्तु धर्म—इसके भी दो भेद–प्राणप्रद धर्म और विशेषाधान धर्म होते हैं। इन दोनों में प्राणप्रद वस्तु धर्म 'जाति' की प्रतिष्ठा करता है अर्थात् उस कोटि के समस्त जीवों में इसकी स्थिति होने से यह 'प्राणप्रद' कहा जाता है। इसी को 'जाति' भी कहा जाता है। पदार्थ को प्राण देने वाला धर्म ही जाति है। इस विचार की पुष्टि आचार्य मम्मट ने भर्तृहरि को उद्धृत करते हुए कहा है कि "गौ अपने स्वरूप के कारण गौ अथवा अ-गौ नहीं कहलाती अपि तु वह तो जाति के सम्बन्ध के कारण ही गौ कही जाती है।"[1] भाव यह है कि कोई भी गाय अपने आप ही गाय नहीं बन जाती और न गाय से भिन्न ही रहती है, अपि तु वह अपनी जाति के कारण ही गौ भिन्न पदार्थ से भिन्न है। गौ में जो गोत्व जाति है, उसी से तो हम गौ को पहचानते हैं, या गौ-भिन्न पदार्थ को पहचानते हैं। इस प्रकार जिसमें गोत्व जाति पाया जाता है, उसे हम गौ कहेंगे और जिसमें यह गोत्व-जाति नहीं पाया जाता वह गौ से भिन्न है। अतः कहा जा सकता है कि गोत्व-जाति से सम्बन्ध होने के कारण ही गौ का प्रयोग किया जाता है। यही जाति रूप शब्दार्थ 'प्राणप्रद' गुण कहा जाता है।[2]

इस विचार के विपरीत स्वरूप के आधार पर 'गाय' को 'गाय' कहना आरम्भ करें, तो गौ शब्द का प्रयोग महिष, नील गाय आदि उसी प्रकार के अन्य पशुओं के लिये भी होने लगेगा, परन्तु ऐसा नहीं होता है। अतः निश्चित है कि गोत्व-जाति से ही गौ का गौ होना निर्णीत है। उसे नील गाय अथवा अन्य

---

१. नहि गौ स्वरूपेण गौर्नाऽप्यगौः गोत्वाभिसम्बन्धात्तु गौ–' वाक्यपदीय'

२. अयश्च जातिरूप, शब्दार्थः–प्राणप्रदमुच्यते "

किसी पशु की संज्ञा नहीं दे सकते हैं, क्योंकि नील गाय या अन्य-पशुओं में गोत्व-जातिका अभाव है। आचार्य जगन्नाथ का भी मत है कि 'गौ में गोत्व की प्रतिष्ठाहोने पर ही उसकी जाति सिद्ध होती है'। इस जाति का लक्षण है "नित्यमनेक गतम् सामान्यम्।"

गुण की विशेषता—विशेषाधान हेतु गुण मूलक होते हैं। इस गुण के आधार पर व्यवहार में सत्ता प्राप्त वस्तु अपनी जाति की अन्य वस्तु से विभक्त होता है। हम उसमें परस्पर भेद का ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। गुण का स्वरूप निर्धारित करते हुए महाभाष्यकार ने कहा है कि 'जातियों तथा क्रियाओं में में पृथक रूप से पाया जाने वाला तथा असत्व की प्रकृति वाला गुण कहा जाता है।"[1] इस प्रकार इस आधार पर गुण की कई विशेषताएं हो जाती हैं :—

(१) गुण की स्थिति सदैव वस्तु में रहती है।

(२) गुण वस्तु का परित्याग भी कर सकता है।

(३) उस वस्तु के अतिरिक्त वह अन्य जाति की वस्तुओं में भी पाया जाता है। वह चाहे जाति की विशेषताओं से विभूषित अथवा उत्पन्न हुई हो या न उत्पन्न हुई हो, इस बात से गुण में किसी प्रकार का कोई विभेद नहीं आता। यहीं पर जाति और गुण के भेद को समझ लेना भी समीचीन होगा।

जाति और गुण का भेद—(१) जाति से किसी भी पदार्थ में प्राण-प्रतिष्ठा होती है, जैसे गौ से गो नामक प्राणी का जो बोध होता है, इसका कारण गोत्व-जाति है और इसी जाति से हम प्राणधायक वस्तु का ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं, इससे वस्तु में चैतन्य की स्थिति का बोध होता है। इसके विपरीत गुण का कार्य व्यावहारिक होता है। प्राण प्राप्त वस्तु अपने गुण के कारण ही अपने में एक विशेषता उत्पन्न करके समान प्राणधायक वस्तुओं से विभक्त हो जाता है। एक ही जाति-रूप चैतन्य प्राणी में गुण के कारण ही वस्तु-विशेष अपने वर्ग से अलग प्रतीत होता है। जैसे सफेद गाय में शुक्लत्व गुण के कारण ही यह गाय अन्य गो-व्यक्तियों से भिन्न दीख पड़ती है। इस प्रकार गुण से किसी वस्तु की व्यावहारिक सत्ता एवं उपयोगिता सिद्ध हो जाती है।

(२) जाति जिस वस्तु में रहती है, वह उस वस्तु को कभी त्याग नहीं सकती है, क्योंकि जाति के ही कारण वह वस्तु विशेष संज्ञा से अभिहित

---

१. सत्वे निवेशितेऽपैति पृथक् जातिषु दृश्यते।
आधे यश्च क्रियायाश्च सोऽसत्व प्रकृत्तिगुणः। महाभाष्य

होती है। जाति के द्वारा स्वरूप का निर्धारण होता है। इससे वस्तु में जाति का होना अनिवार्य है। गुण के लिये ऐसी अनिवार्यता नहीं है। गुण वस्तु में रह भी सकता है और उसका परित्याग भी कर सकता है। ऐसा होना वस्तु की परिस्थितियों पर निर्भर करता है। उदाहरणार्ण किसी रंग के मिट्टी के घड़े को यदि हम बहुत समय तक जल में रखें तो उसका रंग समाप्त हो जाअगा। इसी प्रकार स्पष्ट है कि एक ही वस्तु की विपरीत परिस्थिति के कारण उसके गुण का नाश हो जाता है।

(३) कोई एक विशेष 'जाति' अन्य जातियों में नहीं पायी जाती है अर्थात् गो में जो गोत्व जाति विशेष है, वह महिषादि अन्य जातियों में नहीं पाई जा सकती हैं, वह उससे भिन्न होती है; परन्तु उसी गुण की स्थिति अन्य जातियों के पदार्थ में हो सकती है। जैसे शुक्लत्व गुण, शंख, सुक्ति दुग्धादि भिन्न पदार्थों में पाई जाती है।

साध्य वस्तु धर्म (क्रिया रूप)—पूर्व और अपर में होने वाले सभी प्रकार के कार्य व्यापारों को साध्य वस्तु धर्म कहा जाता है अर्थात् वस्तु का जो गुण साध्यावस्था में है, क्रियमाण गुण है, उन्हें ही क्रिया कहा जाता है और यह क्रिया विभिन्न व्यापारों का समूह है। इनमें कार्य सिद्धि के पूर्व के कुछ व्यापार होते हैं। इस प्रकार साध्य क्रिया के पूर्वापर व्यापारों के संघात को ही साध्य वस्तु धर्म कहा जायगा। उदाहरणार्थ—चावल पकाने की क्रिया में अग्नि जलाना बर्तन ठीक करना उसे चूल्हे पर रखना आदि पूर्व कालिक व्यापार बार-बार चलाना आदि वर्तमान कालिक और वर्तन को उतारना. माड निकालना आदि बाद के व्यापार हैं। इन सबको अलग-अलग न कहकर 'चावल पकाना' के उपयोग से ही सबका बोध हो जाता है। इस सम्पूर्ण क्रियाओं में कुछ क्रियाएँ पूर्व की और कुछ बाद की हैं जिन्हें क्रम की दृष्टि से भविष्य की अथवा अतीत की क्रियाएँ कहेंगे। इन सभी को संघात रूप में साध्यमान क्रिया कहा जाता है। इन्हीं क्रियाओं को अपर और पूर्व की क्रिया कहते हैं। भर्तृहरि ने भी वाक्य पदीय में इसी विचार का समर्थन क्रिया है[1] कि "जितने भी व्यापार सिद्ध हैं (अर्थात् अतीत काल के हैं) अथवा असिद्ध (भविष्य में होने वाले हैं) उन सभी को साध्य कहा जायगा। ये सभी व्यापार एक क्रम पर आश्रित होते हैं और इसी कारण इन्हें क्रिया कहा जाता है।"

---

१. यावत्सिद्ध मसिद्धं वा…………
आश्रित्यक्रमरूपत्वात्साक्रिये त्याभिधीयते। भर्तृहरि-वाक्यपदीय

पारिभाषिक शब्दावली में इसी को साध्य की संज्ञा दी गई है। डा० हरिदत्त ने इसे स्पष्ट करते हुए कहा है कि "When all past or future operations are apprehended as in course of accomplishment in cousequence of their extending over Successive portions of time is said to be an action." (जब अतीत और भविष्य में होने वाले सभी कर्म किसी वस्तु की सम्पन्नता में विभिन्न भागों के रूप में सहायक होते हैं तो उन्हें कार्य कहा जाता है।

वक्तृ यदृक्षासन्निवेशित उपाधि—अभी तक वस्तु-धर्म के तीन स्वरूपों जाति, गुण और क्रिया को बताया गया। अब यदृक्षात्मक शब्द का स्पष्टीकरण होगा। व्यक्तिपरक सभी संज्ञाएँ व्यक्ति की इच्छा का ही परिणाम है। शब्द के दो रूपों का निर्धारण किया गया है। (१) अन्त्यबुद्धि-निर्ग्राह्य (२) संहृत्य-क्रम। इसमें अन्त्यबुद्धि निर्ग्राह्य वह होता है जिसमें शब्द के उच्चारण के बाद प्रत्येक वर्ण का ज्ञान स्पष्ट रूप से होता है जैसे डित्थ आदि शब्द में ड् इ त् थ् अ वर्ण क्षणिक-ध्वनियों से अभिव्यक्त होते हैं इनकी यह दशा स्फोट के पूर्व की है, तथा यह वर्ण क्रम शून्य है। व्यावहारिक जीवन में वर्णों के इस स्वरूप से कार्य सिद्ध नहीं होता, क्योंकि शब्द के आशु-विनाशी होने के कारण इसका स्वरूप न तो स्थिर रहता है और न हम शब्द-ज्ञान के लिए इतने विलम्ब को ही सहन कर सकते हैं। अतः शब्द का यह रूप संहृत क्रम में बदल जाता है।

संहृत क्रम— वर्णों के स्फोट के रूप में शेष रह जाने वाले शब्दों के रूप को संहृत क्रम कहते हैं। इसे शब्द का सूक्ष्म अथवा काल्पनिक रूप भी माना जाता है। शब्द का यही व्यावहारिक रूप होता है। पाश्चात्य विद्वानों ने इसे **Ideal** Form of Word माना है। 'डित्थ' शब्द स्फोट रूप ही है। यह रूप वैयाकरणों के अनुसार कभी नष्ट न होने वाला और शाश्वत होता है। इसी शाश्वत रूप पर हम 'आशु-विनाशी' डित्थादि नश्वर रूप का आरोप कर लेते हैं। यही आरोप व्यक्तिपरक नाम होता है। इस प्रकार वाणी का व्यवहार करने वाले लोगों के द्वारा अपनी इच्छा से उन-उन व्यक्तियों में आरोपित किया गया धर्म ही वक्तृ यदृक्षासन्निवेशित धर्म कहा जाता है। महाभाष्यकार ने इसी दृष्टि में शब्दार्थ के चार स्वरूपों का वर्णन जाति, गुण, क्रिया और यदृक्षा के रूप में किया है।

वैशेषिक दर्शन में गुण सम्बन्धी शंका और उसका निवारण— इसी प्रसंग पर मम्मट ने वैशेषिक मतावलम्बियों द्वारा उठाये गये गुण सम्बन्धी एक शंका का समाधान भी किया है। मम्मट के अनुसार वस्तु के प्राणप्रद

धर्म का नाम जाति और उसके विशेषाधान हेतु धर्म को गुण कहा है। वैशेषिक दर्शन में शुक्लादि रूप के समान परमाणु को भी गुण कहा जाता है और उनके द्वारा बताये गये चौबीस गुणों में 'परमाणु' की भी गणना हुई है।

वैशेषिक दर्शन के अनुसार परमाणु के चार भेद हैं। अणु, महत्, दीर्घ और ह्रस्व। ये नित्य और अनित्य भेद से दो प्रकार के होते हैं। नित्य परमाणु की स्थिति परम महत् परमाणु में रहती है और इस आधार पर परमाणु को गुण कहा गया है। इसके विपरीत मम्मट ने इस मत का खण्डन करते हुए परमाणु को गुण न मान कर इसका समावेश जाति में किया है। 'यह परम-अणु परमाणु परमाणु रूप सूक्ष्मतम पदार्थ का प्राणप्रद धर्म है, विशेषाधान हेतु नहीं'। इसलिए आपकी परिभाषा के अनुसार परम-अणु-परमाणु के वाचक परमाणु-परमाणु शब्द को जाति शब्द मानना चाहिए, परन्तु वैशेषिक दर्शन में उसका पाठ गुणों में किया गया है इसका क्या कारण है ?.... .... इस प्रश्न का उत्तर ग्रन्थकार मम्मट ने यह दिया है कि परम-अणु परमाणु वस्तुत: जातिवाचक शब्द ही है, परन्तु वैशेषिक दर्शन में उनका पारिभाषिक गुणत्व है। "परमण्वादीनान्तुगुणमध्य पाठात् पारिभाषिकं गुणत्वम्"[1]

आचार्य मम्मट का मत— मम्मट के अनुसार परमाणु गुण के अन्तर्गत न आकर 'जाति' के अन्तर्गत माना जायेगा। वाक्यपदीय में कहा गया है कि गौ स्वरूप के कारण गौ नहीं है, अपि तु गोत्व जाति के कारण गौ है। इसी प्रकार कहा जा सकता है कि 'नहि स्वरूपेण परमाणु: नाप्यपरमाणु: परमाणुत्वादभिसम्बन्धात्तु परमाणु:।" इसके अतिरिक्त महाभाष्य में गुण की परिभाषा देते हुए कहा गया है कि "जो वस्तु में रह कर भी वस्तु का त्याग कर सकता है, वह गुण है;" किन्तु परमाणु के सम्बन्ध में यह बात नहीं है, क्योंकि परमाणुत्व परमाणु का त्याग नही कर सकता है। अत: परमाणु जाति है, गुण नहीं।

वैशेषिक दर्शन द्वारा इस मत का खण्डन— यह दर्शन परमाणु को 'जाति' नहीं मानता। इसके अनुसार 'जाति' नित्य है तथा अनेक में समान रूप से पाई जाती है' "नित्यत्वे सति अनेकगतम्" इस दर्शन में 'जाति' के 'पर' और 'अपर' दो भेद किये गये हैं। इसको स्पष्ट करने के लिए'ब्राह्मणो

---

१. काव्य-प्रकाश दूसरा उल्लास-वृत्तिभाग।

देवदत्तः' का उदाहरण प्रस्तुत किया गया है। इसमें जाति के दो पक्ष 'मनुष्यत्व' और 'ब्राह्मणत्व' बताये गये हैं। इनमें मनुष्यत्व 'पर-सामान्य' और ब्राह्मणत्व अपर-सामान्य' है। जहाँ 'पर' और 'अपर' का भेद स्पष्ट नहीं होता, वहाँ 'संकर' कहा जाता है। इसे उदयन ने 'जाति' की छः दूषित अवस्थाओं में एक माना हैं।[1] नैयायिकों के अनुसार भी परमाणु में जाति के 'पर' और 'अपर' भेद नहीं होते। उदाहरण के लिये पार्थिव परमाणु में उसे जाति मानने पर पृथिवीत्व और परमाणुत्व दो सामान्य होने चाहिएं। साथ ही संकर से परे रहने के लिये एक को 'पर' और दूसरे को 'अपर' मानना आवश्यक होगा। यह कार्य दो रूपों में हो सकता है—

(१) परमाणु को 'पर' और पृथिवीत्व को 'अपर' माना जाए।

(२) पृथिवीत्व को 'पर' और परमाणु को 'अपर' माना जाय।

इन दोनों में पहली दशा मानने पर दो प्रकार के दोषों का उद्भव होता है।

(i) यदि परमाणु को 'पर' मानते हैं तो इस स्थिति में परमाणु का विस्तार पृथिवीत्व तक ही होगा, जो असम्भव है। इससे परमाणु की सीमा कम हो जाती है, क्योंकि नियम के अनुसार परमाणु की सीमा पृथिवीत्व तक ही नहीं मानी जा सकती है।

(ii) यदि परमाणु की सीमा पृथिवीत्व तक मान भी लें तो परमाणु का विस्तार पृथ्वी द्वारा निर्मित घड़े में परमाणु जाति माननी पड़ेगी, परन्तु प्रत्यक्ष रूप से घड़े में परमाणु जाति का निषेध मानना पड़ता है। कारण यह है कि घड़े के परमाणु जाति का होने से उसका अदृश्य होना आवश्यक हो जाता है, परन्तु वह अदृश्य नहीं है। अतः परमाणु को जाति नहीं माना जा सकता है।

इसके विपरीत यदि पृथिवीत्व को 'पर' और परमाणु को 'अपर' माना जाय तो यह भी उचित नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि ऐसी दशा में (क) पृथिवीत्व की परिव्याप्ति परमाणुत्व में होगी और (ख) परमाणुत्व में पृथिवीत्व की परिव्याप्ति मानने से आकाश, वायु आदि में भी पृथिवीत्व मानना पड़ेगा, परन्तु ऐसा सम्भव न होने से परमाणु को किसी भी दशा में 'जाति' नहीं माना जा सकता है। यही वैशेषिक दर्शन का सिद्धान्त है।

---

१. व्यक्तेरभेदस्तुल्यत्वं संकरोऽप्यनवस्थितिः।
रूप हानि रसम्बन्धो जाति बाधक संग्रहः। उदयन।

मम्मट द्वारा इस मत का निराकरण—मम्मट ने इस विचार का खण्डन करते हुए कहा है कि (i) जाति के पर और अपर भेद को स्वीकार नहीं किया जा सकता है क्योंकि जिस प्रकार पर और अपर से सम्बन्धित दो जातियाँ एक वस्तु में रह सकती हैं, उसी प्रकार पर और अपर से असम्बद्ध दो जातियों की एक ही वस्तु में अवस्थिति भी सम्भव है। केवल दो विरोधी जातियाँ एक साथ एक ही वस्तु में नहीं रह सकती हैं जैसे मनुष्यत्व जाति के संग सिंहत्व जाति का एक ही आश्रय सम्भब नहीं है।

(ii) महाभाष्यकार ने परमाणु की परिभाषा में इसे गुण न मानकर जाति को ही माना हैं। अतः निर्णय देते हुये मम्मट ने कहा है कि वैशेषिक दर्शन में परमाणु का केवल पारिभाषिक 'गुणत्व' ही स्वीकार किया जा सकता है, वास्तविक गुणत्व नहीं। अर्थात जैसे 'गुण' और 'वृद्धि' शब्द का सामान्य अर्थ दूसरा होता है तथा वैयाकरणों का पारिभाषिक अर्थ इससे बिल्कुल विपरीत होता है उसी प्रकार परमाणु का पारिभाषिक अर्थ इससे बिलकुल विपरीत होता है, उसी प्रकार परमाणु का पारिभाषिक 'गुणत्व' ही स्वीकार किया जा सकता है, वास्तविक नहीं। वास्तव में तो इसे जाति ही कहेंगे, गुण नहीं।

गुण, क्रिया, यदृक्षा में संकेतग्रह की शंका और निवारण—यहीं पर पूर्वपक्षी के एक और शंका को उपस्थित करते हुए मम्मट ने उसका निराकरण किया है। पूर्वपक्षियों के कथन के अनुसार गुण, क्रिया और यदृक्षा में संकेत का ग्रहण करना ठीक नहीं होगा, क्योंकि गुणादि व्यक्तियों के समान अनन्त होते हैं तथा गुणों की स्थिति कभी किसी विशेष परिस्थिति में एक वस्तु में रहती है और दूसरी परिस्थिति में उसी वस्तु में नहीं भी रहती है। अतः सभी व्यक्तिपरक शुक्लादि गुणों में संकेत ग्रहण करने से पूर्व कथित 'आनन्त्य' और 'व्यभिचार' नामक दोष उत्पन्न हो जायेगा।

समाधान—मम्मट ने इसका समाधान अच्छी प्रकार किया है इनके विचार से गुण आदि में जो अनन्तता दीख पड़ती है, वह वास्तविक न होकर प्रातिभाषिक मात्र होती है। जिस प्रकार एक ही मुख को जल, तैल, मुकुर खड्ग आदि में हम विभिन्न रूप में देखते हैं अर्थात कभी वह समतल कभी उठा हुआ कभी नत दिखाई पड़ता है उसी प्रकार गुण, क्रिया यदृक्षा की भी स्थिति समझनी चाहिये अर्थात् आश्रयभेदसे जैसे मुख विभिन्न रूप में प्रतिभाषित होता है, उसी प्रकार आश्रय भेद से गुण, क्रिया, यदृक्षा आदि अलग-अलग प्रतिभाषित

होते हैं ।[1] उदाहरण के लिये शंख, सुक्ति रजत आदि में शुक्ल गुण की जो अलग-अलग सत्ता दीख पड़ती है, वह वास्तविक न होकर इन भिन्न-भिन्न वस्तुओं के आश्रय से ही भिन्न-भिन्न रूप में दिखाई पड़ती हैं । वास्तव में तो 'शुक्लत्व सामान्य' गुण की प्रतिष्ठा एक ही रूप में सभी पदार्थों में रहती हैं । अतः तात्विक दृष्टि से गुण, क्रिया यदृक्षा में आनन्त्य और व्यभिचार दोष नहीं माना जा सकता है, क्योंकि प्रतिभाषिकी सत्ता वास्तविक सत्ता कभी नहीं हो सकती है । अतः इन दोषों का समावेश नहीं माना जा सकता है तथा गुण, क्रिया और यदृक्षा में संकेत ग्रह मानना उचित है ।

मीमांसकों का 'जातिरेव वा' का स्पष्टीकरण—वैयाकरणों और आलंकारिकों ने 'संकेतितश्चतुर्भेदों' अर्थात् संकेतित अर्थ चार प्रकार का जाति, गुण, क्रिया और यदृक्षा रूप माना है जिसका प्रतिपादन ऊपर किया गया है, परन्तु मीमांसकों की दृष्टि में संकेतित अर्थ केवल 'जातिरूप' ही माना जाता है । इस प्रकार शब्दों की चतुर्विध प्रवृत्ति को न मानकर इन्होंने केवल जातिगत प्रवृत्ति को ही माना है । इसी से इन मीमांसकों ने गुण, क्रिया और यदृक्षा की जातिरूपता का समर्थन किया है । मीमांसकों की इस विचारधारा को मानने वालों के चार वर्ग किये जा सकते हैं—

१. भाट्ट मीमांसक
२. श्रीकर का मत
३. मण्डन मिश्र का मत
४. प्रभाकर का मत

(१) इनमें भाट्ट मीमांसकों के अनुसार अभिधा द्वारा 'जाति' में संकेत-ग्रह होता है । 'पदों से जाति का ही संकेत हो सकता है, व्यक्ति का नहीं ।'[2] इनके अनुसार '**व्यक्ति का ज्ञान आक्षेप से होता है** । और यह आक्षेप जाति द्वारा ही सम्भव है । आक्षेप से इन्होंने अनुमान अथवा अर्थापत्ति का अर्थ ग्रहण किया है । पार्थसारथि मिश्र ने भी इसका समर्थन किया है कि "शब्द से सर्वप्रथम जाति की ही प्रतीति होती है उसके बाद वह किसी व्यक्ति विशेष का

---

१. गुणक्रियायदृच्छानी वस्तुत एक रूपाणामप्याश्रयभेदाद्भेदश्च लक्ष्यते यथैकस्य मुखस्य खड्गमुकुरैतन्नाद्यालम्बनभेदात् । का० प्र० दूसरा उल्लास–वृत्ति भाग ।

२. मीमांसकास्तु गवादिपदानां जातिरेव वाच्य, न तु व्यक्तिः । 'शक्तिवाद' ।

आरोप कर लेती है।"[1] अर्थात् शब्द से पहले जाति का बोध होता है और बाद में जाति ही व्यक्ति का बोध करा देती है।

(२) श्रीकर के मत से भी पदों से जाति का ही बोध होता है और हम **व्यक्ति का बोध उपादान से करते हैं**। अर्थात जब आंशिक अर्थ बोध से हम पूरे अर्थ का बोध कर लेते हैं तो वहाँ उपादान कहा जायगा। इसी से उपादान लक्षणा प्रस्तुत किया जाता है, जैसे—'गो (गोत्व जाति-विशिष्ट) जाता है'—का अर्थ गो-जाति रूप व्यक्ति विशेष जाता है—होगा, इस प्रकार उपादान भी अर्थापत्ति का ही दूसरा रूप है।

(३) मंडन मिश्र ने पद से पहले जाति का बोध और बाद में व्यक्ति का बोध माना है। इस व्यक्ति बोध में उपादान **लक्षणा कार्य** करती है। अर्थात् पद से पहले जाति का बोध और **बाद में लक्षणा शक्ति से** व्यक्ति का बोध हो जाता है क्योंकि व्यक्ति ही प्रवृत्तिनिवृत्ति योग्य होता है, जाति नहीं, क्योंकि जब हम गो का प्रयोग करते हैं तो नित्य होने से जाति की सत्ता का ज्ञान यहाँ न होकर जातिगत संकेत से व्यक्ति का ही बोध माना जाता है। इसके समर्थन में कहा गया है कि वेद के विधि वाक्यों का व्यवहार में यदि जातिगत अर्थ लिया जाय तो वह उपयुक्त प्रतीत नहीं होता है, उदाहरण स्वरूप उन्होंने "गोरनुबन्ध्यः" 'गो' को मारना चाहिये वाक्य को प्रस्तुत किया है, यहाँ गो का शाब्दिक संकेत गोत्व जाति है, परन्तु गोत्व जाति का मारा जाना सम्भव नहीं है क्योंकि जाति एक सूक्ष्म भाव का द्योतक है। और वेद का आदेश होने से इस वाक्य को असत्य नहीं कहेंगे। अतः जाति से **लक्षणा के द्वारा व्यक्ति का आक्षेप** कर लिया जाता है। साक्षात् पद के द्वारा व्यक्ति का अभिधया बोधन कभी नहीं हो सकता है। क्योंकि जाति रूप विशेषण का बोध करा लेने के उपरान्त शक्ति के क्षीण हो जाने पर अभिधा विशेष्य रूप व्यक्ति तक नहीं जा सकती है। अतः "गोरनुबन्ध्यः" का अर्थ गायपन 'गोत्व' का वध करो और बाद में उपादान लक्षणा से इसका यह अर्थ होगा कि "गोत्व-विशिष्ट (गो जाति युक्त) गो-व्यक्ति का वध करो।"

मम्मट ने खंडन करते हुये इस विचार पर अपनी असहमति प्रकट की है। इसमें लक्षणा मानना उचित नहीं है, क्योंकि लक्षणा में सदैव रूढ़ि या

---

१. व्यक्तिप्रतीतिरस्माकं जातिरेव तु शब्दतः।
प्रथमावगता पश्चाद् व्यक्तिं यां कांचिदाक्षिपेत्। न्यायरत्नमाला, वाक्य निर्णय का० ५—३८

प्रयोजन में से अन्यतर का होना आवश्यक है। इसमें कोई भी नहीं है। अतः यहाँ उपादान लक्षणा से व्यक्ति का ग्रहण न होकर जाति के संग व्यक्ति के अविनाभाव सम्बन्ध से ही जाति से व्यक्ति का ग्रहण होता है। जैसे 'इस कार्य को करो' इसमें क्रिया के लिये 'तुम' कर्त्ता का अविनाभाव से बोध हो जाता है। उसी प्रकार गोत्व से गो व्यक्ति का बोध भी अविनाभाव द्वारा ही होगा। यही मम्मट ने बताया है और उपादानवाद का खण्डन किया है।

(४) प्रभाकर ने पद से जाति का ज्ञान तथा इस ज्ञान के साथ ही **स्मरण द्वारा व्यक्ति का बोध** माना है। पद द्वारा जाति का निर्विकल्पक ज्ञान होता है और उसके साथ ही स्मरण द्वारा पद के श्रवण से व्यक्ति के सम्बन्ध ज्ञान का स्मरण हो जाता है। अर्थात् जाति का विशेष्य होने के कारण ही व्यक्ति की स्मृति बिना सम्बन्ध ज्ञान के भी आसानी से हो जाती है।

संक्षेप से मीमांसकों के चार मतों की चर्चा की गई। इनमें सभी पद से 'जाति' का ही बोध मानते हैं। हाँ, व्यक्ति-बोध किस प्रकार होता है, इस सम्बन्ध में उनमें अवश्य ही कुछ मत वैभिन्य है। **भाट्ट मीमांसकों ने व्यक्ति का बोध आक्षेप से, श्रीकर ने उपादान से, मंडन मिश्र ने लक्षणा से, और प्रभाकर भट्ट ने स्मरण द्वारा माना है।** अतः व्यक्ति बोध के आधार के सम्बन्ध में मतभेद होते हुए भी सभी मीमांसक इस सम्बन्ध में एक मत हैं कि पद से जाति का ही बोध होता है अतः आवश्यक हो जाता है कि वैयाकरणों ने शब्द की जो चार प्रवृत्ति जाति, गुण, क्रिया, यदृच्छा माना है, उन सबका एक ही में अर्थात् जाति में ही समावेश कर दिया जाय। इसी से अब गुण, क्रिया और यदृच्छा की जातिरूपता का समर्थन मीमांसकों के अनुसार किया जायगा।

मीमांसक मत–'जातिरेव' का समर्थन:—

गुण की जातिरूपता—मीमांसकों ने केवल जाति में ही संकेतग्रह माना है इसके अनुसार जाति-शब्दों के समान ही गुण, क्रिया और यदृच्छात्मक शब्दों के भी जाति में ही संकेतग्रह मानना चाहिये। जाति का ही अन्य नाम 'सामान्य' है। सामान्य का लक्षण करते हुये कहा गया है कि अनुगत-प्रतीति का हेतु 'सामान्य' कहा जाता है। "अनुवृत्तिप्रत्ययहेतुः सामान्यम्।" जैसे दश घट व्यक्तियों में 'घट' की जो अनुवृत्ति होती है, उसका कारण घटत्व सामान्य ही है, इसी प्रकार यदि शुक्ल गुण विभिन्न स्थानों पर हो, तो भी 'शुक्लत्व' रूप सभी स्थानों पर सामान्य ही होगा। अनुभव द्वारा यह सिद्ध है कि भिन्न-भिन्न पदार्थों में रहने वाला जो 'शुक्ल' गुण है, उसकी प्रतीति में स्पष्ट अन्तर

रहता है, फिर भी उन पदार्थों को देखकर हम 'शुक्ल' शब्द का ही प्रयोग करते हैं इसका कारण यह है कि विभिन्न पदार्थों में रहने वाले शुक्ल गुण को हम इसी कारण शुक्ल कहते हैं कि उसमें 'शुक्लत्व सामान्य' रहता है। जिसके कारण हम उसे पहचान लेते हैं। यह सामान्य नित्य और अनेक में समवेतधर्म होता है। "नित्यत्वे सत्यनेक समवेतत्वं सामान्यम्"। अतः विभिन्न वस्तुओं में अवस्थित शुक्लत्व को जो भिन्न-भिन्न है, उसे सामान्य माना जा सकता है। अर्थात् शुक्लत्व के भिन्न रूप होने पर भी जो हम विभिन्न वस्तुओं को देखकर 'शुक्ल-शुक्ल' इस प्रकार का कथन करते हैं, उनका एकमात्र कारण यही शुक्लत्व सामान्य अथवा जाति है। इस प्रकार गुण में जातिरूपता का प्रतिपादन किया गया। उदाहरण के लिये बर्फ, दुग्ध, शंख आदि में रहने वाले शुक्ल गुण देखने से स्पष्ट रूप में भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हैं। फिर भी इन विभिन्न पदार्थों को देखकर शुक्ल-शुक्ल इस प्रकार एकाकार कथन होता है और उनकी प्रतीति भी शुक्लत्व रूप में ही होती है।[1] इस एकाकार कथन एवं प्रतीति का कारण 'शुक्लत्व सामान्य' ही माना जाता है। अतः स्पष्ट है कि गुणों में भी एक जातित्व अथवा सामान्य अनुगत प्रतीति होती है और उसे ही 'जाति' कहते हैं और गुणों की इस जाति में ही संकेत का ग्रहण होता है। कहने का भाव यह है कि हिम, पय, और शंख की श्वेतिमा में प्रत्यक्ष रूप से भेद प्रतीत होता है, किन्तु इन सभी पदार्थों में धवलता (सफेदी) नामक तत्व समान दिखाई पड़ता है। इन पदार्थों को देखकर धवलता के अतिरिक्त अन्य वर्ण की चर्चा कोई भी उनके सम्बन्ध में नहीं कर पाता है। अनेक पदार्थों में समान रूप से प्राप्त होने के कारण यह धवलता भी गुण न रह कर जाति ही हो जाता है और जब गुण भी जाति के लक्षणों से युक्त हो जाता है तो उसे 'जाति' मानना ही पड़ेगा, इस प्रकार गुणों की जातिरूपता का प्रतिपादन किया गया।

क्रिया की जातिरूपता—मीमांसक क्रिया को भी जातिरूप ही मानते हैं। क्योंकि सभी क्रियाओं में एक जातिरूपता पायी जाती है, उदाहरणस्वरूप गुड़ पकाना, तण्डुल पकाना आदि क्रियाएं विभिन्न हैं, परन्तु उन सबकी विभिन्नता में भी पकाना रूप क्रिया सबमें समान रूप से विद्यमान है साथ ही अनेक भी है अतः इस अनेकत्व एवं समानरूप के कारण यहाँ पकाना क्रिया भी

---

१. हिमपयशङ्खाद्याश्रयेषु परमार्थतो भिन्नेषु शुक्लादिषु, यद्वशेन, शुक्लः शुक्लः इत्याद्यभिन्नाभिधानप्रत्ययोत्पत्तितच्छुक्लत्वादि सामान्यम्। का० प्र० दूसरा उल्लास

'जाति' ही कही जायगी ।[1] इस प्रकार पकाना क्रिया सबमें समान रूप होने से क्रिया की जातिरूपता की भी सिद्धि हो जाती है ।

यदृक्षा शब्दों में जाति का प्रतिपादन—शंका–यदृक्षा शब्द में जाति का प्रतिपादन करने में कुछ कठिनाई हो सकती है, क्योंकि यह व्यक्ति विशेष का वाचक रूढ़ शब्द होता है, व्यक्तियों का वाचक नहीं । जाति के स्वरूप को बताते हुये कहा गया था कि अनेक में समवेत धर्म अर्थात् अनेक व्यक्तियों में रहने वाले धर्म को ही जाति कहेंगे, परन्तु यदृक्षा में 'अनेक–समवेतत्व' नहीं है अतः इसमें जातिरूपता कैसे सिद्ध की जा सकती है ।

समाधान—इस शंका का समाधान भी मीमांसकों ने करते हुए कहा है कि यदृक्षा के परिणामस्वरूप संज्ञाएँ जातिरूप हैं । मीमांसकों ने (i) उच्चारण करने वाले व्यक्तियों के भेद से यदृक्षात्मक शब्द में भी भेद माना है । (ii) जिस व्यक्ति का उच्चारण किया जाता है, वह व्यक्ति भी प्रतिक्षण परिवर्तनशील है क्योंकि वह सदैव बालक, युवा वृद्ध आदि रूपों में परिवर्तित होता रहता है । कहा भी गया है कि 'एक चेतनसत्ता को छोड़कर सारे पदार्थ परिवर्तन शील हैं ।" इसी प्रकार एक बालक जब डित्थ संज्ञा का उच्चारण करता है, अथवा वृद्ध या शुकादि द्वारा उच्चरित प्रतिक्षण भिद्यमान डित्थ के उच्चारण में जब हम एक ही डित्थ का बोध करते हैं तो इसका कारण 'डित्थत्व' सामान्य है अर्थात् बालक वृद्ध, शुकादि द्वारा उच्चरित डित्थ संज्ञा में भेद होता हुआ भी तथा बालक युवा और वृद्ध डित्थ में भेद होने पर भी सबके उच्चारण में डित्थत्व समान रूप से वर्तमान रहता है ।[2] अतः डित्थत्व की जातिरूपता सिद्ध हो जाती है और इस प्रकार मीमांसकों के अनुसार शब्द के चार प्रकार (जाति, गुण क्रिया और यदृक्षा) न होकर केवल 'जातिरूप' एक ही प्रकार होगा । इस प्रकार यहाँ तक मम्मट की कारिका "संकेतितश्चतुर्भेदो जात्यादि जातिरेव वा" की व्याख्या की गयी । मम्मट द्वारा इस मत का खंडन–मीमांसकों के केवल 'जाति' में संकेत मानने वाले इस मत का समर्थन मम्मट ने नहीं किया है । इसी से इस मत का खण्डन मम्मट ने किया है ।

---

१. गुडतण्डुलादिपाकादिष्वेबमेव पाकत्वादि (सामान्यं) ।" का प्र० दूसरा उ० ।

२. बालवृद्धशुकाद्युदीरितेषु डित्थादिशब्देषु च प्रतिक्षणं भिद्यमानेषु डित्थाद्यर्थेषु वा डित्थत्वाद्यस्तीति सर्वेषां शब्दानां जातिरेव प्रवृत्ति-निमित्तमित्यन्ये ।" का प्र० उ० २, पृ० ४८.

(१) जात्यादिवादी होने के कारण मम्मट ने मीमांसकों के 'जातिवादी मत का खण्डन करते हुये पूर्वपक्षियों की कई शंकाओं का खण्डन किया है। सर्वप्रथम मीमांसकों के द्वारा उठाये गये जाति, गुण, क्रिया, यदृक्षा में आनन्त्य और व्यभिचार दोषों का परिमार्जन किया गया है।

गुण की जातिवादिता का खण्डन

(२) मीमांसकों द्वारा दी गयी 'जाति' की परिभाषा पर भी आपत्ति उठाई गयी है। मीमांसकों के अनुसार "भिन्नेषु अभिन्नाभिधानप्रत्यय हेतुः जातिः" अर्थात् जाति वह विशेषता है जिसके द्वारा हमें अनेक वस्तुओं में एकतत्व का प्रत्यय अथवा विश्वास और एक अभिधान का आभास होता है। मम्मट ने कहा है कि ये परिभाषा केवल आश्रयों पर लागू होती है, आश्रितों पर नहीं। गुण क्रियादि के आश्रय सदैव दृश्य होते हैं अतः जाति केवल द्रव्य में रहती है। जहाँ पर भिन्न-भिन्न द्रव्यों में संस्थान अवस्थान परिमाण और वर्णगत भेद होगा, मूल दृश्यगत नहीं; वहाँ पर वे एक जाति के ही कहे जायेंगे। किन्तु जहाँ मूल द्रव्यगत भेद होगा उन्हें हम एक जाति का नहीं मानेंगे, उदाहरण के लिये गो का आकार परिमाण और वर्ण का भेद होते हुये मूल द्रव्य गोत्व के कारण वह जाति कहा जायेगा, किन्तु शुक्लत्व या पाकत्व आदि जिन भेदों की चर्चा मीमांसको के उपयुक्त मत में किया गया है, वे सहज नहीं है। भाव यह है कि पहले दिये गये हिम, पय, शंख आदि के उदाहरणों में संस्थान Arrangement of their parts. अवस्थान Position, परिमाण Size और वर्ण Colour में भेद के साथ ही साथ उन मूल द्रव्यों में भी भिन्नता रहती है। अतः इन सबको हम एक जाति का नहीं कह सकते हैं। फल यह निकला कि हिम, पय और शंख के समान द्रव्य न होने से तथा उनके मूल में भिन्नता होने के कारण उनमें वर्तमान धवलता को हम 'जाति' नहीं मान सकते हैं।

क्रिया की जातिरूपता का खण्डन—इसी प्रकार पाक क्रियाओं में भी 'पाकत्व क्रिया' को जाति नहीं कहा जा सकता है। सभी में पाक-क्रिया समान है, परन्तु पकाये जाने वाले गुड, तण्डुल, मांसादि द्रव्यों में भिन्नता है। अतः इसे भी जाति नहीं कहा जा सकता है। इसी प्रकार डित्थादि का उच्चारण करने वाले चाहे भिन्न हों पर डित्थ तो एक ही रहता है अतः डित्थत्व को भी जाति नहीं माना जा सकता है। इस आधार पर मीमांसकों द्वारा मान्य यह मत कि गुण, क्रिया और यदृक्षा जाति रूप है, खण्डित हो जाता है और जात्यादि शब्द के चार रूपों की स्थापना हो जाती है।

गो नैयायिकमत जातिविशिष्ट व्यक्ति में संकेत—नैयायिकों के अनुसार संकेत न तो जाति में होता है और न व्यक्ति में, अपि तु जाति-विशिष्ट व्यक्ति में संकेत माना जा सकता है। जाति में प्रवृत्ति निवृत्ति की योग्यता न होने से जीवन में इसका प्रत्यक्ष उपयोग नहीं होता। यथा यदि कोई जल पीना चाहे तो घटत्व से जल नहीं पी सकता है। अतः जाति में अर्थ क्रियाकारित्व का अभाव होने से केवल जाति में भी संकेत ग्रहण नहीं कर सकते। यदि इसके विपरीत केवल व्यक्ति में ही संकेत माने तो आनन्त्य और व्यभिचार तथा विषय विभाग दोष उत्पन्न हो जायेगा। अतः जातिविशिष्ट व्यक्ति में ही संकेत-ग्रह मानना चाहिये।

गोतम मुनि ने इसी मत का समर्थन इन शब्दों में किया है कि पद का अर्थ किसी वस्तु की जाति, व्यक्ति और आकृति के सम्मिलित तत्व में है।[1] अर्थात् व्यक्ति और जाति के सम्मिलित तत्व में ही संकेत हो सकता है। यदि केवल जाति में ही संकेत माने, तो व्यक्ति का मान होना संभव नहीं हो सकता है। अतः अर्थ का ज्ञान करते समय जाति से व्यक्ति का भी ग्रहण हो जाता है। क्योंकि जब भी हम किसी पद का प्रयोग करते हैं तो हमारा मूल उद्देश्य किसी व्यक्ति विशेष से ही रहता है। यह बात दूसरी है कि उस व्यक्ति में जाति अवश्य रहती है। उदाहरण के लिये मीमांसकों के अनुसार 'गाय जाति है' वाक्य में गाय का अर्थ 'गोत्व' है, जो जातिबोधक है। और जाति के सूक्ष्म भाव होने से उसमें जाना क्रिया का अन्वय घटित नहीं हो पाता है अतः नैयायिकों के अनुसार यह अर्थ होगा कि "गोत्व जाति युक्त गो व्यक्ति विशेष जाता है।" इसमें व्यक्ति में क्रिया का घटित होना भी सम्भव है तथा इसमें जातित्व का भी योग रहता है। अतः जातिविशिष्ट व्यक्ति में ही संकेत का ग्रहण मानना चाहिये, यही नैयायिकों के मत का सारांश है। इसी मत का संकेत मम्मट ने 'तद्वान्' शब्द द्वारा किया है।

(घ) **बौद्धों का अपोहवाद**—इस मत के लोगों ने बताया है कि व्यक्ति में आनन्त्य और व्यभिचार दोष के कारण संकेतग्रह नहीं हो सकता है और जाति में भी सम्भव नहीं है, क्योंकि बौद्धों ने 'सर्वं क्षणिकम्' के सिद्धान्त को माना है अतः जाति को भाव पदार्थ मानने से वह क्षणिक होता है और यदि अभाव पदार्थ मानते हैं तो संकेत का कोई प्रश्न ही नहीं उठता है, इस प्रकार बौद्धों द्वारा उच्चरित 'घट' पद का इतना ही अर्थ होगा कि यह एक क्षणिक

---

१. व्यक्त्याकृतिजातयस्तु पदार्थः। न्यायसूत्र गोतम।

पदार्थ है तथा यह घट के अतिरिक्त अन्य सभी पदार्थों से भिन्न है। यही बौद्धों का अपोह या 'अतद्व्यावृत्ति' कहा गया है। अर्थात् अन्य पदार्थों के निराकरण से बचे हुए पदार्थ में ही शब्द का संकेत ग्रहण हो सकता है। इसी का संकेत मम्मट ने 'अपोहो वा शब्दार्थः कैश्चिदुक्त इति' के द्वारा किया है।

मम्मट ने वैयाकरणों के विरोधी सभी संकेतग्रह विषयक मतों का खण्डन करके अपने जाति, गुण, क्रिया और यदृक्षात्मक चार प्रकार के शब्दों की प्रतीति का का समर्थन किया है और इन्हीं चारों की उपाधियों में संकेत-ग्रह माना है इसका वर्णन ऊपर किया जा चुका है। यहाँ पर संकेतग्रह के साधनों पर विचार किया जायगा।

शक्तिग्रह के साधन—सिद्धान्त मुक्तावली में संकेतग्रहों के आठ साधनों के सम्बन्ध में चर्चा की गयी है। ये साधन व्याकरण, कोष, आप्तवाक्य, व्यवहार, वाक्यशेष विवृत्ति, सिद्ध पद का सानिध्य और उपमान हैं।[1] इनमें से किसी भी एक साधन से शक्ति का ग्रहण हो सकता है।

व्याकरण—किसी भी वाक्य में जब पद का प्रयोग होता है तो उस पद के सुप्, तिङ् प्रत्यय प्रकृति आदि व्याकरणिक सम्बन्ध का ज्ञान व्याकरण के द्वारा ही होता है। जैसे कहा जाय कि 'वर्तमाने लट्' तो यहाँ वर्तमान में लट् का प्रयोग शक्तिग्राहक ही होगा।

उपमान—किसी ने गाय को देखा हो, पर नील गाय न देखा हो तो उपमान के आधार पर समझाया जा सकता है कि गोसदृशः गवयः अर्थात् गो के समान ही गवय होता है अतः यहां उपमान से ही शक्ति का ग्रहण होता है।

कोश—पद का विभिन्न अर्थ में प्रयोग कोश देखकर भी निश्चित किया जा सकता है।

आप्तवाक्य—आप्त लोगों के वचन से भी हम संकेत का ग्रहण कर लेते हैं। पारिभाषिक शब्दों का ज्ञान भी आप्तवचन से ही होता है। साथ ही किसी के लिये यदि कोई वृद्ध कोई विशेष नाम दे देता है, तो इसका प्रचार भी आप्तवाक्य होने से ही होता है और उस शब्द से किसी विशेष के ही संकेत का ग्रहण हो पाता है।

---

१. शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानः कोषाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च।
वाक्यस्य शेषाद् विवृतेर्वदन्ति सानिध्यते सिद्धपदस्य सिद्धाः॥
सि० मुक्तावली

वाक्य शेष—जहाँ किसी दूसरे वाक्य से एक वाक्य के अर्थ का ग्रहण हो अर्थात् यदि दो या अधिक वाक्य एक साथ प्रयुक्त हुए हों और उनमें से किसी पद का कई अर्थ होता है, तो ऐसी दशा में दूसरे वाक्य से उस पद का संकेतग्रह संदर्भ के अनुकूल उचित ढंग से हो जाता है।

विवृत्ति—जहाँ संकेतग्रह के लिये व्याख्या करने की आवश्यकता पड़ती हो और इस प्रकार अर्थ समझ में आ जाता है।

सिद्ध पद का सानिध्य—जहाँ एक पद की सिद्धि देखकर उसके संसर्ग से दूसरे पद के अर्थ का ग्रहण हो जाय। जैसे 'बसन्ते पिकः कूजति' में पिक शब्द का अर्थ कोयल ही होगा, क्योंकि सिद्ध पद 'बसन्ते' के संसर्ग से इसका यही अर्थ ग्रहण होगा, अन्य अर्थ नहीं।

व्यवहार—संकेतग्रह के साधनों में व्यवहार बहुत अधिक महत्व रखता है। प्रभाकर मीमांसकों ने इसी व्यवहार के आधार पर अपने 'अन्विताभिधान वाद' का मण्डन किया है। इनके अनुसार व्यवहार की यह क्रिया बालकों द्वारा पदों से अर्थ ज्ञान की प्रक्रिया में आसानी से देखी जा सकती है। कोई बालक द्वारा कहे गये वाक्य के अर्थ को समझकर अपने बड़े भाई को 'गाय' आदि पदार्थ लाते देखता है और उसके उस व्यवहार को देखकर उस वाक्य का अर्थ समझ लिया करता है। इसमें प्रत्यक्ष, अनुमान और अर्थापत्ति ये तीन प्रमाण कार्य करते हैं। यही बालकों द्वारा संकेत ग्रह का साधन है और इसे 'व्यवहार' की संज्ञा दी गई है।

लक्षणा विचार

लक्षणा स्वरूप—दैनिक जीवन में तथा साहित्य में भी हम ऐसे बहुत से शब्दों का प्रयोग करते हैं, जिनका मुख्यार्थ ठीक नहीं बैठ पाता है अर्थात् शब्दों के संग उसके प्रचलित अर्थ की संगति नहीं बैठ पाती है। वह साक्षात् संकेतिक अर्थ से असम्बद्ध प्रतीत होता है और उसका सीधा बोल-चाल या लोक में प्रचलित अर्थ का ग्रहण नहीं हो पाता है। अतः इस मुख्यार्थ या वाच्यार्थ से सम्बन्धित एक अन्य अर्थ को हम ग्रहण कर लेते हैं; जो प्रकरण सम्मत होता है। इस अर्थ को ग्रहण करने में या तो कोई लौकिक-व्यवहार रूढ़ि कारण होता है अथवा वक्ता अपने प्रयुक्त शब्दों द्वारा किसी प्रयोजन विशेष को व्यक्त करना चाहता है। इस प्रकार जो एक दूसरे अर्थ का बोध होता है, उसे ही हम लक्ष्यार्थ कहते हैं। इसका बोध कराने वाली शब्द की जो शक्ति है, उसे लक्षणा शक्ति कहते हैं और उस शब्द को लाक्षणिक शब्द कहा जाता है।

उदाहरण के लिये 'रणजीतसिंह पञ्जाब के शेर थे', वाक्य में एक मानव के संग शेर की संगति ठीक न बैठने के कारण इसका अभिधेयार्थ न ग्रहण करके लक्ष्यार्थ ही ग्रहण किया जाता है। इस वाक्य में लक्षणा नामक शक्ति से ही शेर की क्रूरता और शौर्य का ज्ञान हो जाता है, जो प्रस्तुत प्रसंग के अनुकूल है। ऐसे शब्दों का प्रयोग एक विशेष प्रयोजन से ही यहां किया गया है। इसी प्रकार 'वह मेरे अनुकूल हैं' वाक्य में अनुकूल शब्द का व्युत्पत्तिगत अर्थ यह है कि जो कूल के विपरीत न हो अर्थात् जलाशय की ऐसी लहर जो किनारे को न काटे। धीरे-धीरे यह अनुकूल शब्द किसी भी रुचिकर क्रिया या वस्तु का उपचार से बोधक हो गया और लोक व्यवहार में भी इसका प्रयोग इसी अर्थ में होने लगा। इसी प्रकार लावण्य और अनुलोम आदि शब्दों की दशा समझनी चाहिये। लक्ष्यार्थ का सम्बन्ध मुख्यार्थ से किसी न किसी रूप में अवश्य बना रहता है।

लक्षणा के तत्व—लक्षणा के कार्य-व्यापार के लिए उसमें तीन तत्वों का होना अनिवार्य माना जाता है।

१. मुख्यार्थ बाध—शब्द के साक्षात् संकेतित अर्थ का प्रयुक्त वाक्य में अन्वयानुपपत्ति का होना अर्थात् जिस शब्द से लक्ष्यार्थ का ज्ञान होता है, उस

शब्द की संगति प्रयुक्त अन्य शब्दों के साथ बैठ नहीं पाती। इससे सीधा अर्थ समझ में नहीं आता।

२. **तद्योग**—जब मुख्यार्थ का सम्बन्ध अन्य शब्दों के अर्थों से नहीं बैठता है, तब उसी से सम्बन्धित किसी अन्य अर्थ को हम ग्रहण कर लेते है। इसमें लक्ष्यार्थ का आधार वाच्यार्थ ही होता है। इस प्रकार लक्ष्यार्थ वाच्यार्थ की परम्परा से होकर ही ग्राहक बन पाता है।

३. **रूढ़ि का प्रयोजन**—जब वाक्य के शब्दों से हम किसी ऐसे अर्थ का ज्ञान कराना चाहते हैं जिसके अर्थ की संगति नहीं बैठती है तो इस प्रयोग की उपयोगिता सिद्ध करने के लिये ही कोई अन्य आधार ग्रहण करते हैं। प्रथम उस प्रयुक्त शब्द का किसी विशेष अर्थ में प्रसिद्ध हो जाना और द्वितीय उस शब्द के प्रयोग से वक्ता के किसी विशेष प्रयोजन का सिद्ध होना। आचार्य मम्मट ने इन तीनों हेतुओं का समर्थन करते हुए कहा है कि 'मुख्यार्थ बाध अर्थात् अन्वयानुपपत्ति अथवा तात्पर्यानुपपत्ति का होना उस मुख्यार्थ के साथ लक्ष्यार्थ का सम्बन्ध होना तथा रूढ़ि का प्रयोजन में से किसी एक का होना—इन तीनों से युक्त होकर जिस शब्द शक्ति द्वारा किसी अन्य अर्थ का लक्षित होना सम्भव होता है, उसे लक्षणा शक्ति कहते है।''[1] आचार्य विश्वनाथ ने भी इसका समर्थन करते हुए मुख्यार्थ बाध तद्योग और रूढ़ि या प्रयोजन में से किसी एक का होना आवश्यक माना है।[2] इस प्रकार यह व्यक्त हो जाता है कि लक्षणा के लिये इन तीनों तत्वों का होना अनिवार्य है। यदि इनमें से कोई भी एक न हो तो ऐसी दशा में लक्षणा शक्ति का व्यापार नही माना जायगा। इसीसे काव्यप्रकाश की बालबोधिनी टीका में इन तीनों के लिये एक वचन 'हेतुः' का प्रयोग किया गया है, ''हेतवः'' का नहीं। अतः अलग-अलग प्रतीत होने वाले ये तीनों ही तत्व वास्तव में एक ही उद्देश्य की सिद्धि के लिये मिलकर काम करते हैं। इनका सम्बन्ध ठीक उसी प्रकार का माना जायगा जो सम्बन्ध घट के निर्माण में दण्ड, सूत्र, कुम्हार और मिट्टी में है। जैसे एक के भी अभाव में घट-निर्माण सम्भव नहीं है, उसी प्रकार लक्षणा के लिये भी मुख्यार्थ बाध, तद्योग, रूढ़ि या प्रयोजन में से अन्यतर का होना आवश्यक है।

---

१. मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढ़ितोऽथप्रयोजनात्।
अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत् सा लक्षणारोपिता क्रिया॥ काव्य प्रकाश २/९ पृष्ट ५१

२. मुख्यार्थबाधे तद्युक्तो यथान्योऽर्थः प्रतीयते।
रूढ़ेः प्रयोजनाद्वासौ लक्षणा शक्तिरर्पिता॥ साहित्य दर्पण परि० २

लक्षणा के सम्बन्ध में **वृत्तिवार्तिककार** का भी लगभग यही मत है। इसमें मुख्यार्थ के सम्बन्ध में शब्द के प्रतिपादकत्व का समर्थन किया गया है।[1] परन्तु श्लोकवार्तिक में कुमारिल भट्ट ने लक्ष । सम्बन्ध में एक दूसरी ही बात कही है। उनके अनुसार अभिधेय से अविनाभू जो प्रतीति हो, उसे ही लक्षणा कहा जा सकता है।[2] मीमांसक कुमारि भट्ट के इस विचार में 'प्रतीति' को लक्षणा कहा गया है, परन्तु मम्मट के अनुसार प्रतीति अथवा किसी प्रकार की प्रतिपत्ति (ज्ञान) लक्षणा नहीं हो सकती है। लक्षणा तो शब्द का एक व्यापार है। कुछ लोगों ने कुमारिल भट्ट की परिभाषा में भी शब्द के व्यापार का होना सिद्ध किया है। ऐसे लोगों के अनुसार 'प्रतीति' का अर्थ 'प्रतीति का कारण भूत' व्यापार माना गया है। इस शब्द का विग्रह करते हुए कारण में 'क्तिन्' प्रत्यय लगाकर "प्रतीयतेऽर्थोऽनया इति प्रतीतिः," इस प्रकार कहा गया है। अतः इस विग्रह में स्पष्ट रूप से शब्द व्यापार का ही संकेत मिलता है।

मुख्यार्थ-बाध के रूप—अन्वयानुपत्ति–ऊपर की पंक्तियों में मुख्यार्थ-बाध की जो चर्चा की गई है, उस सम्बन्ध में दो मत हैं—

१. काव्य-प्रकाश के टीकाकारों का मत—इनके अनुसार प्रयुक्त शब्दों से जहाँ अन्वय की अनुपपत्ति हो अर्थात् जिन शब्दों का प्रयोग किया जाता है, उनके साक्षात् संकेतित अर्थ को ग्रहण करने से उस वाक्य का अन्वय ठीक नहीं बैठ पाता है वहीं मुख्यार्थ का बाध माना जायगा। उदाहरण के लिये "गंगायां घोसः" वाक्यांश में गङ्गायांपद का अर्थ 'गङ्गा की धारा और 'घोस' पद का अर्थ घोसियों की बस्ती है। वाक्यांश में गङ्गा की धारा में जिन घोसियों की बस्ती की बात कही गई है, उनका धारा में आधार बनने की क्षमता नहीं हैं। अतः अन्वय ठीक-ठाक नहीं बैठ पाता है अर्थात् प्रयुक्त शब्दों द्वारा जिन अर्थों का ग्रहण होता है, वे अर्थ मिलकर अपने अभिधेय रूप में अन्वित नहीं हो पाते हैं। और मुख्यार्थ का बाध हो जाता है इसी से सम्बन्धित हम एक दूसरे अर्थ को ग्रहण कर लेते हैं, जो अन्वय के उपयुक्त होता है। यहाँ 'गङ्गायां पद' से 'गङ्गातीर' का अर्थ लेते है। तीर में बस्ती के आधार बनने की क्षमता रहती ही है। अतः अन्वय भी ठीक बैठ जाता है।

---

१. सा च मुख्यार्थसम्बन्धेन शब्दस्य प्रतिपादकत्वम्। वृत्तिवर्तिक १५

२. अभिधेयविनाभूत प्रतीतिर्लक्षणोच्यते।
लक्षमाणगुणैर्योगाद् वृत्तिरिष्टा तु गौणता।। कुमारिल भट्ट

नागेशभट्ट का मत—तात्पर्यानुपपत्ति—नागेश भट्ट ने इस अन्वयानुपपत्ति को लक्षणा का बीज नहीं माना है। उन्होंने तात्पर्यानुपपत्ति को लक्षणा का प्रमुख तत्व माना है। अपने मत के समर्थन में उन्होंने कहा है कि यदि कोई बाहर जाने वाला व्यक्ति घर पर रखे हुए दही के सम्बन्ध में किसी मित्र से यह कहें कि "काकेभ्यो दधि रक्षताम्" (कौए से दही को बचाना), तो इस कथन का एकमात्र उद्देश्य केवल कौए से ही दही को बचाने का नहीं है अपितु दही को नष्ट करने वाले किसी भी प्राणी या जीव, जन्तु से वक्ता का अभिप्राय है। अतः वक्ता के तात्पर्य को समझकर ही प्रयुक्त वाक्य को अर्थ-ग्रहण होना चाहिये। यदि तात्पर्यानुपपत्ति के स्थान पर अन्वयानुपपत्ति को लक्षणा का बीज मानें, तो ऐसी दशा में इस वाक्य से लक्षणा नहीं हो सकेगी, क्योंकि यहाँ पर प्रयुक्त शब्दों का अन्वय ठीक बैठ जाता हैं और तात्पर्यानुपपत्ति मानने से 'दही को बिगाड़ने वाले' किसी भी प्राणी के अर्थ में लक्षणा हो जाती है। अतः नागेश भट्ट के मत से तात्पर्यानुपपत्ति को ही लक्षणा का बीज मानना चाहिये, अन्वयानुपपत्ति को नहीं।

तद्योग—मुख्यार्थ-बाध के साथ मुख्यार्थ के योग को भी स्वीकार किया गया है। जैसे "कुन्ता प्रविशन्ति" वाक्य में अचेतन रूप भाले में प्रवेश क्रिया सम्भव नहीं है इससे मुख्य अर्थ की संगति ठीक नहीं बैठती है। इस बाधा को दूर करने के लिये उससे सम्बन्धित एक अन्य अर्थ का आक्षेप से बोध कर लिया जाता है। यहाँ भाले का तात्पर्य भाले से युक्त पुरुष से लगाना ही समीचीन है। इस प्रकार मुख्यार्थ से सम्बन्धित किसी अन्य आक्षेप से ग्रहण किये गये अर्थ में ही लक्षणा होगी।

मुख्यार्थ योग का यह सम्बन्ध आचार्य भर्तृहरि ने पाँच प्रकार का बताया है इसे क्रमशः अभिधेय, सादृश्य, समवाय, वैपरीत्य और क्रिया योग कहते हैं—

> अभिधेय सम्बन्धात् सादृश्यात् समवायतः।
> वैपरीत्यात् क्रियायोगोल्लक्षणा पञ्चधा मता ॥

रूढ़ि—के माध्यम से भी लक्षणा का प्रयोग होता है। जैसे "कर्मणि कुशलः" का अर्थ है 'कार्य में दक्ष'। कुशल पद का व्युत्पत्तिगत अर्थ इससे भिन्न होता है। 'कुशान्लाति आदत्ते वा इति कुशलः अर्थात् जो कुशा ले आये, वह कुशल होगा। कुशा के ले आने में भी किसी न किसी प्रकार की दक्षता रहती ही है। उसी दक्षता का ध्यान रखकर 'कुशल' का अर्थ उपचार द्वारा

'दक्ष' माना जाने लगा है। इस पद में दक्ष शब्द से इसका कोई सम्बन्ध न होने से हम इसे व्युत्पत्तिगत मुख्यार्थ-बाध मानेंगे। यह भी ध्यान रखना होगा कि कुशल पद इस दक्ष अर्थ में रूढ़ या प्रसिद्ध हो गया हैं। अतः यहाँ रूढ़ि या प्रसिद्धि के कारण मुख्य अर्थ से भिन्न जो एक अमुख्य अर्थ की प्रतीति होती है, उसकी प्रतीति में शब्द का लाक्षणिक व्यापार ही माना जायगा और उस शब्द का व्यवहितार्थ-विषयक आरोपित शब्द का व्यापार लक्षणा माना जायगा अर्थात् मम्मट ने लक्षणा को जो सान्तरार्थ निष्ठ शब्द व्यापार माना है, उसका अर्थ यह है कि शब्द और लक्ष्यार्थ के बीच में आने के कारण वाच्यार्थ को सान्तर (स + अन्तर) कहा गया है अर्थात् पहले हम शब्द का प्रयोग करते हैं, उससे वाच्यार्थ की प्रतीति, बाद में लक्ष्यार्थ का ग्रहण और इस ज्ञान में शब्द का लक्षणा व्यापार काम करता है। इस प्रकार वाच्यार्थ, शब्द और लक्ष्यार्थ के बीच का अर्थ हुआ और उसे 'सान्तर' कहा गया है तथा लक्षणा-व्यापार इसी वाच्यार्थ पर अवलम्बित रहता है। भाव यह है कि अभिधा की भाँति लक्षणा शब्द का स्वाभाविक व्यापार नहीं है, क्योंकि इसके स्वाभाविक अर्थ का तो बाध हो जाता है, और मुख्यार्थ के सहारे लक्षणा द्वारा एक नवीन अर्थ ज्ञात हो जाता है। इसी से मम्मट ने लक्षणा को आरोपित व्यापार या सान्तरार्थनिष्ठ कहा है। इसका आशय यह है कि मुख्य अर्थ शब्द और लक्ष्यार्थ के बीच में रहने वाला अर्थ है। मुकुल भट्ट ने भी बताया है कि हमें लक्ष्यार्थ का बोध मुख्यार्थ के माध्यम से होता है और मम्मट के शब्दों में लक्षणा को इसी कारण सान्तरार्थनिष्ठ शब्द-व्यापार कहा गया है।[1]

प्रयोजन—यदि रूढ़ि नहीं होगा तो शब्द का कोई न कोई प्रयोजन अवश्य होना चाहिए। जैसे 'गङ्गायां घोष.' वाक्य में 'गङ्गायां' का शाब्दिक अर्थ 'गंगा में' होगा। परन्तु गंगा की धारा में आधारत्व की क्षमता नहीं है। अतः यहां मुख्यार्थ का बाध होगा और इस प्रकार के वाक्य के प्रयोग का कोई न कोई प्रयोजन अवश्य होगा। इससे सामिप्यादि या शैत्य-पावनत्वादि का बोध माना जायगा। यदि गंगायां के स्थान पर 'गंगातीरे' का प्रयोग करें तो प्रथम गंगा की जलधारा में जो शैत्य-पावनत्वादि धर्म है, उनका बोध नहीं हो पाता

---

१. "...........तथा गंगातटे घोष इत्यादेः प्रयोगात् येषां न तथा प्रतिपत्तिः, तेषां पावनत्वादीनां धर्माणां तथा प्रतिपादनात्मनः प्रयोजनाच्च मुख्येन अमुख्योऽर्थो लक्षते यत् स आरोपितः शब्दव्यापारः सान्तरार्थनिष्टो लक्षणा।"—काव्य-प्रकाश-उल्लास २ पृष्ठ ५२

है और वक्ता के प्रयोजन शैत्यादि के प्रति हम अज्ञान में ही रह जाते हैं। दूसरी बात यह है कि गंगा तट कहने से उसके दूर के भाग का भी अर्थ ज्ञात होता है, जहाँ पर जल की शीतलता का कोई प्रभाव नहीं हो सकता है। अतः सिद्ध हुआ कि शैत्य-पावनत्व रूप विशेष प्रयोजन का बोध कराने के लिए ही इस प्रकार के शब्द का प्रयोग किया गया है। इसमें मुख्य अर्थ गंगा की धारा के भिन्न दूसरे अमुख्य अर्थ गंगा तीर की प्रतीति, एक विशेष प्रयोजन शैत्यादि के बोध के लिए ही होती है। स्पष्ट है कि एक विशेष प्रयोजन के लिए ही ऐसे शब्दों का प्रयोग करते हैं। यहां जिस अमुख्य अर्थ का ज्ञान होता है, वह शब्द का व्यवहितार्थ विषयक आरोपित व्यापार ही है और इसे ही लक्षणा कहते हैं।

लक्षणा-भेद—लक्षणा के स्वरूप का निर्धारण हो जाने के बाद उसके भेदों को भी समझ लेना चाहिए। आलंकारिकों में उसके भेदों के सम्बन्ध में मतैक्य नहीं है। काव्य-प्रकाश के टीकाकारों ने भी भिन्न-भिन्न प्रकार से अपने विचार व्यक्त किये हैं। लक्षणा-भेद को बताते हुए आचार्य मम्मट ने उसके छः भेद, वेदान्त में तीन भेद (जहल्लक्षणा, अजहल्लक्षणा और जहदजहल्लक्षणा) किसी ने तेरह भेद (रुढ़ा १, गौणी ४, शुद्धा तथा प्रयोजनवती के ८ भेद); वृत्तिवार्तिककार ने प्रयोजनवती के ७ भेद, विश्वनाथ के मत से १६ भेद हैं। यहाँ पर केवल आचार्य मम्मट के भेदों पर ही विचार किया जायगा।

लक्षणा के आवश्यक तत्वों में रूढ़ि या प्रयोजन में अन्यतर का होना अनिवार्य है। इस आधार पर लक्षणा के रूढ़ि और प्रयोजन ये दो मुख्य भेद हो जाते हैं।

रूढ़ालक्षणा पर विचार—रूढ़ा के उदाहरण में 'कर्मणि कुशलः' वाक्य का प्रयोग किया गया है। आचार्य मम्मट के अनुसार इस उदाहरण में लक्षणा के तीनों ही तत्व आ जाते हैं। इससे लक्षणा वृत्ति से ही इस वाक्य का अर्थ बोध होता है। इस वाक्य में प्रयुक्त 'कुशल' पद का व्युत्पत्ति मूलक अर्थ कुशा को लाने वाले का कार्य करने वाले से हैं। यहाँ मुख्यार्थ-बाध स्पष्ट रूप से है।

दूसरी शर्त यह है कि लक्षणा से प्राप्त अर्थ का सम्बन्ध किसी न किसी रूप में अवश्य होना चाहिए। 'कुशलः' पद में कुश लाने की क्रिया में भी किसी प्रकार की पटुता अवश्य रहती है। इसी आधार पर कुशल पद का दक्ष अर्थ प्रसिद्धि के कारण हो जाता है। इस प्रकार यहाँ मुख्यार्थ का सम्बन्ध भी लक्ष्यार्थ से हो जाता है। तीसरी बात रूढ़ि या प्रयोजन में से अन्यतर का होना

है। यहाँ यही कहा जायगा कि परम्परा से इस शब्द का प्रयोग होता आया है। इस प्रकार तीनों तत्वों के हो जाने से यहाँ इसे रूढ़ा लक्षणा का उदाहरण मानेंगे।

विश्वनाथ और हेमचन्द्र का मत – इन दोनों आचार्यों ने इसे रूढ़ा लक्षणा का उदाहरण नहीं माना है। इसे वे रूढ़ि से रहित होने के कारण 'निरूढ़ा लक्षणा' मानते हैं। 'कर्मणि कुशलः' में कुशल पद का दक्ष अर्थ मुख्य अर्थ है, आरोपित या गौण अर्थ नहीं है।[1] जो लोग (मम्मट) इसे गौण मानते हैं, उसका यही कारण हो सकता है कि इसका व्युत्पत्ति मूलक अर्थ दक्ष या पटु शब्द के अर्थ से भिन्न होता है, किन्तु व्युत्पत्तिमूलक अर्थ मुख्य अर्थ नहीं माना जा सकता है। जैसे 'गो शेते' वाक्य में इनके मत से 'जो चलता है, वह सोता है', यह मुख्यार्थ हुआ, परन्तु इस वाक्य में स्पष्ट विरोध है, क्योंकि जो चलता है वह सो नहीं सकता। अतः इस अर्थ के प्रसंगानुकूल न होने से इससे गो नामक पशु विशेष का ही अर्थ ग्रहण किया जायगा। इस प्रकार व्युत्पत्ति मूलक अर्थ मुख्य अर्थ नहीं होता और मम्मट का यह उदाहरण रूढ़ा का न होकर निरूढ़ा लक्षणा का ही माना जायगा।

निरूढ़ा लक्षणा—का स्पष्टीकरण जैमिनीय सूत्र के भाष्य में शबर स्वामी ने तथा तन्त्रवार्तिक में कुमारिल भट्ट[2] ने किया है। शबर स्वामी के अनुसार लक्षणा लोक-व्यवहार पर आधारित रहती है। इस शक्ति द्वारा समाज के आरोपित और स्वीकृत अर्थ का ज्ञान होता है। यह अर्थ कभी-कभी इतना प्रबल हो जाता है कि लोग मुख्यार्थ को भूल जाते हैं, ऐसी स्थिति में लक्षणा शक्ति का व्यापार होता है, उसे निरूढ़ा लक्षणा कहते हैं। इसका अर्थ मुख्यार्थ न होकर रूढ़ार्थ होता है और इसे ही निरूढ़ा कहते हैं।

हेमचन्द्र का वर्गीकरण—आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार सभी रूढ़ार्थ मुख्यार्थ होता है। कुमारिल भट्ट ने निरूढ़ा के तीन भेदों को बताया है। १. प्राचीन निरूढ़ा २. नवीन सम्भवा ३. नवीन असम्भवा निरूढ़ा। अन्तिम

---

१. केचित्तु कर्मणि कुशल इति रूढ़ावुदाहरन्ति। तदन्ये न मन्यन्ते। कुशाग्राहि रूपार्थस्य व्युत्पत्तिलभत्वेऽपि दक्षरूपस्यैव मुख्यार्थत्वात्। साहित्य दर्पण-परि० २ पृ० ५१

२. निरूढ़ा लक्षणाः काश्चित् सामर्थ्यादभिधानवत्।
क्रियन्ते साम्प्रतं काश्चिद् नैवत्वशक्तिः॥ कुमारिल भट्ट

दो भेदों के उदाहरण में "गङ्गायां घोषः" और "कर्मणि कुशलः" बनाया गया है। भट्ट सोमेश्वर के काव्य-प्रकाश की काव्यादर्श टीका में 'निरूढ़ा इति भ्रष्टोपचार प्रतीतयः' कहा है।[1] आचार्य मम्मट ने भी इसका कुछ संकेत तो कर ही दिया है।[2] हेमचन्द्र ने सभी रूढ़ार्थ को मुख्यार्थ माना है।

प्रयोजनवती लक्षणा—जहाँ पर लाक्षणिक शब्द का प्रयोग किसी विशेष अभिप्राय से किया जाता है, वहाँ प्रयोजनवती लक्षणा होती है। आचार्य मम्मट ने उदाहरण के लिये 'गङ्गायां घोषः' वाक्य का प्रयोग किया है। इस वाक्य में लक्षणा के तीनों ही अंगों का प्रयोग किया गया है।'गङ्गा की धारा में' वाक्यांश में मुख्यार्थ बाध है। इससे इसका अर्थ गङ्गा का तट ग्रहण किया जाता है। इसका सम्बन्ध गङ्गा की धारा से भी बना रहता है। अतः 'तद्योग' भी हो जाता है। दूसरे गङ्गा से गङ्गा तट का ही अर्थ ग्रहण किया जायगा यमुना तट का नहीं। यहाँ समीप-समीपि भाव भी हैं, वक्ता का प्रयोजन शैत्य पावनत्व को बताना है इस प्रकार प्रयोजन की तीसरी शर्त भी पूरी हो जाने से इसे लक्षणा का उदाहरण मानेंगे। कुछ लोगों ने इसे नवीन सम्भवा निरूढ़ा का उदाहरण माना है।

लक्षणा का शुद्धामूलक भेद—आचार्य मम्मट ने शुद्धा लक्षणा के दो भेद माने है प्रथम शुद्धा उपादान लक्षणा और द्वितीय शुद्धा लक्षण-लक्षणा।[3] जहाँ अपने अर्थ की सिद्धि के लिये किसी दूसरे अर्थ का आक्षेप करा लिया जाता है अथवा दूसरे अर्थ की सिद्धि के लिये अपने अर्थ का त्याग किया जाता है, वहाँ क्रमशः उपादान और लक्षण-लक्षणा समझना चाहिये। यहाँ मुख्यार्थ का त्याग केवल इसीलिये होता है कि मुख्यार्थ से सम्बन्धित दूसरे अर्थ की तर्क पूर्ण संगति बैठाई जा सके। वेदान्त में इसी उपादान लक्षणा का दूसरा नाम अजहत्स्वार्था लक्षणा बताया गया है तथा लक्षण-लक्षणा को जहत्स्वार्था।

उदाहरण—'कुन्ता-प्रविशन्ति', 'यष्टयः प्रविशन्ति' इन दोनों ही वाक्यों में भाले और लाठियाँ दोनों ही अचतेन पदार्थं हैं, इससे उनमें अपनी ही

---

१. राजस्थान-प्राच्य-विद्या संस्थान से प्रकाशित सन् १९५९ संस्करण।

२. निरूढ़ा काचिद्नान्या तु कार्या सा काचिदन्यथा-शब्द- व्यापार-मम्मट।

३. स्वसिद्धये पराक्षेपः परार्थं स्वसमर्पणम्।
उपादानं लक्षणं चैव शुद्धा द्विधा मता ।। काव्य प्रकाश ।२।१०

शक्ति से प्रवेश क्रिया सम्भव नहीं हो सकती है। यहाँ पर प्रवेश क्रिया की सार्थकता सिद्ध करने के लिये 'भालेधारी' तथा 'लाठी को धारण करने वाले पुरुष प्रवेश कर रहे हैं; यह अर्थ लिया जायगा। इस प्रकार दोनों उदाहरणों में मुख्यार्थ भी बना हुआ है तथा इनसे सम्बन्धित 'व्यक्ति' का आक्षेप से ग्रहण कर लिया जाता है। इसलिये यहाँ उपादान लक्षणा है।[1]

मुकुलभट्ट का उदाहरण और मम्मट का विचार—मुकुलभट्ट ने उपादान लक्षणा को स्पष्ट करने के लिये दो उदाहरण दिये है। प्रथम "गौरनुबन्ध्य:" और द्वितीय "पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते।" प्रश्न यह है कि ये उदाहरण उपादान लक्षणा में उपयुक्त हो सकते हैं या नहीं। आचार्य मम्मट ने इन दोनों उदाहरणों का खण्डन किया है। पहले मुकुल भट्ट के मत को समझ लेना आवश्यक है।

मुकुल भट्ट का मत—मीमांसक होने के कारण इन्होंने सभी उदाहरण मीमांसाशास्त्र से लिया है। 'गौरनुबन्ध्य:' 'गौ को मारना चाहिये', इस विधि-वाक्य में इसी लक्षणा का समर्थन किया गया है। मीमांसकों के अनुसार 'गौ' शब्द का मुख्यार्थ 'गोत्व जाति' होता है "गो शब्द व्यापाराद् गोत्व लक्षणा जातिरेवावगम्यते। स एव मुख्योऽर्थ:," किन्तु समस्त गो जाति को मारना सम्भव नहीं है। इसलिये इन दोनों की तर्क पूर्ण संगति बैठाने के लिये लक्षणा शक्ति का सहारा लेना पड़ता है और इसका अर्थ गो-जाति न लेकर गोत्व विशिष्ट गो व्यक्ति से लेंगे। इस प्रकार गो जाति से गो व्यक्ति का बोध करा लेंगे और गो शब्द के मुख्य अर्थ गौ जाति अथवा गोत्व से सम्बन्ध गो व्यक्ति का अर्थ ग्रहण होगा तथा वह जाति व्यक्ति का वाचक बन जाती है।

मुकुल भट्ट द्वारा पूर्व पक्षियों का खण्डन—मुकुल भट्ट ने यहीं पर अपने मत की स्थापना करते हुए पूर्व पक्षियों का खण्डन करते हुए कहा है कि यदि पूर्वपक्षी यह कहे कि गो शब्द पहले गो जाति का अर्थ देगा और बाद में गो व्यक्ति का अर्थ सिद्ध होगा। इन दोनों ही अर्थों को व्यक्त करने में शब्द की अभिधा शक्ति ही काम करती है। ऐसी स्थिति में यह कहना ठीक नहीं होगा, क्योंकि मीमांसकों के अनुसार अभिधा एक बार जब विशेषण को प्रकट कर लेती

---

१. 'कुन्ता प्रविशन्ति, यष्टय: प्रविशन्ति' इत्यादौ कुन्तादिभिरात्मन: प्रवेशसिद्ध्यर्थं स्वसंयोगिनं पुरुषा: आक्षिप्यन्ते। तत उपादानेनैयं लक्षणा। का० प्र० २रा उल्लास।

हैं, तो उसकी शक्ति क्षीण हो जाने के कारण वह विशेष्य को प्रकट नहीं कर सकेगी।[१] 'गौरनुबन्ध्यः' वाक्य में गौ का मुख्य अर्थ गोत्व जाति उसके लाक्षणिक अर्थ गो व्यक्ति का विशेषण होगा और गो व्यक्ति विशेष्य कहा जायगा, तो जब गो से जाति का बोध हो गया तो पुनः उससे व्यक्ति का बोध नहीं हो सकता है। अतः जाति से व्यक्ति का बोध आक्षेप से ही माना जायगा, साक्षात् शब्द से उसका बोध नहीं हो सकता है। इस प्रकार मुकुल भट्ट के अनुसार अभिधा के सहारे गो से गो जाति का अर्थ ज्ञान होगा, विशेष्य रूप गो व्यक्ति का अर्थ बोध नही हो सकता है। निष्कर्ष यह निकला कि अभिधा से अर्थ का ज्ञान न होने से उपादान लक्षणा के द्वारा ही अर्थ का ग्रहण हो सकेगा।

आचार्य मम्मट द्वारा इस मत का खण्डन—मम्मट ने 'गोरनुबन्ध्यः' वाक्य में उपादान लक्षणा नहीं माना है, क्योंकि इसमें लक्षणा के केवल दो शर्तों की ही पूर्ति होती है, तीसरी रुढ़ि या प्रयोजन में से अन्यतर वाली शर्त पूरी नहीं हो पाती है, क्योंकि इन दोनों में से यहाँ कोई भी एक नहीं है। ऐसी दशा में गो से गो व्यक्ति का ज्ञान कैसे हो सकता है। मम्मट का मत है कि जाति से व्यक्ति का अविनाभाव सम्बन्ध[२] रहता है। इसलिये गो जाति से गो व्यक्ति का अर्थ अविनाभाव के कारण ही सम्भव होता है, गो से आक्षेप द्वारा गो व्यक्ति का बोध नहीं होता, जैसा कि मीमांसक मानते हैं। इस प्रकार अविनाभाव द्वारा जाति से व्यक्ति का जो बोध होता है, वह वाक्य की आकांक्षा को पूर्ण करने के लिये ही होता है। इसके समर्थन में मम्मट ने कई उदाहरण दिये हैं यथा 'क्रियताम्' क्रिया की आकांक्षा की पूर्ति के लिये कर्ता 'त्वं' का स्वयमेव बोध हो जाता है, जिसका प्रयोग स्पष्टतः नहीं किया गया है। इसी प्रकार 'कुरु' कर्म की आकांक्षा रूप में कर्म का आक्षेप कर लिया जाता है; इसी प्रकार 'गौरनुबन्ध्यः' वाक्य में गौ शब्द की आकांक्षा के रूप में गोत्व का आक्षेप कर लिया जाता है। आचार्य मम्मट का इस सम्बन्ध में यही विचार है।

बहुत से विद्वान् मम्मट के इस विचार से सहमत नहीं हैं। नागोजी भट्ट ने अनुमान का सहारा लिया है। आचार्य मम्मट के द्वारा प्रयुक्त 'आक्षेप' के लिये कुमारिल और प्रभाकर भट्ट ने 'अध्याहार' का प्रयोग किया है। गो में गो व्यक्ति का जो आक्षेप होता है, उसे प्रभाकर ने 'अर्थाध्याहार' कहा है। कुमारिल भट्ट का यह विचार है कि जिस प्रकार 'प्रविश' क्रिया की पूर्ति के लिये 'गृहं'

१. विशेष्यं नाभिधा गच्छेत् क्षीण शक्तिर्विशेषणे।

२. व्यक्त्यविनाभावित्वात्तु व्यक्तिराक्षिप्यते। का० प्र०

का और 'पिण्डिम्' शब्द की आकांक्षा पूर्ति के लिये 'भक्षय' शब्द आक्षिप्त कर लिये जाते हैं, उसी प्रकार गो शब्द से गो व्यक्ति का आक्षेप कर लिया जाता है। अतः कुमारिल के मत से इसे 'शब्दाध्याहार' कहा है, क्योंकि गो शब्द के स्थान पर गो व्यक्ति शब्द की स्थापना करके ही इस अर्थ का ग्रहण हो पाता है। आचार्य मम्मट द्वारा जो इस मत का खण्डन किया गया है, उसके मूल विचारक के सम्बन्ध में भी मतभेद है। उद्योग टीका के अनुसार 'गौरनुबन्ध्यः' द्वारा कहा गया मत मण्डन मिश्र का है, किन्तु माणिक्यचन्द्र ने इसे मुकुल भट्ट का सिद्धान्त माना है। यह मत चाहे जिसका हो, परन्तु मम्मट के मत से उसका मेल नहीं बैठता है।

मुकुल भट्ट का दूसरा उदाहरण और उसका खण्डन—मुकुल भट्ट ने वाक्य लक्षणा का दूसरा उदाहरण दिया है। 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते'. देवदत्त मोटा है, परन्तु दिन में नहीं खाता।' इस वाक्य में देवदत्त के पीनत्व की सार्थकता सिद्ध करने के लिये 'रात्रि' में खाता है, इस अर्थ का उपादान से ग्रहण करना पड़ता है। इसलिये यहाँ उपादान लक्षणा होगी।

आचार्य मम्मट ने इस मत का खण्डन करते हुए कहा है कि यहाँ पर लक्षणा न होकर अर्थापत्ति प्रमाण है, जो लक्षण के अन्तर्गत नहीं आता है। मीमांसकों के अनुसार किसी अनुपपद्यमान अर्थ को देखकर उसके उपपाद की भूत अर्थान्तर की कल्पना करना अर्थापत्ति प्रमाण कहा जाता है।[1] यहाँ पर पीनत्व अनुपद्यमान अर्थ है क्योंकि दिन में न खाने वाले का पीनत्व सम्भव ही नहीं है, यदि वह रात्रि में भी भोजन न करें। इसलिए इस वाक्य में रात्रि भोजन उसका उपपादकीभूत अर्थ है। इस प्रकार अनुपपद्यमान अर्थ दिन में न खाने वाले का मोटापन देखकर उसके उपपादक रात्रि भोजन की कल्पना अर्थापत्ति प्रमाण से ही सम्भव है। यदि कोई व्यक्ति रात या दिन दोनों ही समयों में नहीं खाता हैं तो उसका पीनत्व सम्भव ही नहीं है। इस प्रकार पीनत्व का अनुपपद्यमान अर्थ की सिद्धि रात्रि भोजन से ही हो सकती है। अतः यहाँ लक्षणा न होकर अर्थापत्ति प्रमाण ही है।

लक्षण-लक्षणा—इसके उदाहरण में "गंगाया घोषः" वाक्य दिया गया है। लक्षणा के ये दोनो ही भेद शुद्धा के अन्तर्गत हैं क्योंकि इनमें उपचार (सादृश्य) नहीं है। दो अत्यन्त सदृश पदार्थो का सादृश्य के कारण भेद का अलग

---

१ अनुपपद्यमानार्थदर्शनात् तदुपपादकीभूतार्थान्तरकल्पनं अर्थापत्तिः

ज्ञान होना जहाँ स्थगित हो जाता है, वहीं पर उपचार माना जाता है।[1] इस सम्बन्ध में मतभेद भी दीख पड़ता है। प्रदीपकार ने सादृश्य सम्बन्ध पर इसे आधारित बताया है। मम्मट इसमें तादर्थ्य सम्बन्ध मानते हैं, गौतम के अनुसार यह शब्द-प्रयोग है। इसीलिए सभी प्रकार की लक्षणाओं को उपचार द्वारा ही स्पष्ट किया गया है। कुन्तक उपचार को सादृश्य मूलक सारोपा लक्षणा का कारण मानते हैं। इनके मत से उपचार का प्रयोग अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार में प्रतीयमान के अर्थ में होता है। महिमभट्ट ने इससे अनुमिति अर्थ ग्रहण किया है। इसी से रस के प्रसार को उन्होंने अनुमान द्वारा ही सिद्ध किया है। मुकुलभट्ट न इसे लक्षणा का आधार कहा है, जो कार्य कारण भाव पर अथवा सादृश्य पर आधारित है।

कार्य कारण भाव पर आधारित लक्षणा को शुद्धोपचार और दूसरी को गौणोपचार कहते हैं। मम्मट ने इसका स्पष्टीकरण नहीं किया है। इसी से टीकाकारो में इस भेद के सम्बन्ध में मत-भेद है। परन्तु अधिकांश लोग इसे सादृश्यमूलक ही मानते हैं। कुछ लोगों ने तादर्थ्य के चार सम्बन्धों में से उपचार को एक पर आधारित माना है।

मुकुलभट्ट का मत—मुकुल के मत से उपचार का मिश्रण गौणी और शुद्धा दोनो में होता हैं। इसी से उन्होंने पहले शुद्धोपचार और गौणोपचार दो भेद किये हैं फिर दोनों के सारोपा और साध्यवसाना दो-दो भेद किये गये हैं। इस प्रकार उपचार मिश्रा के चार भेद और शुद्धा के दो भेद किये गये हैं। अन्य के लिए अन्य शब्द के प्रयोग को ही इन्होंने उपचार माना है। जहाँ सादृश्य के आधार पर अन्य के लिए अन्य शब्द का प्रयोग होता है, वहाँ गौणोपचार और जहाँ यह प्रयोग कार्य कारण भाव पर आधारित होता है, वहाँ शुद्धोपचार होता है। इस प्रकार उपचार के भी दो भेद होने पर मम्मट ने इन दोनों को अलग-अलग माना है; परन्तु मुकुलभट्ट इस भेद को उचित नहीं मानते हैं। अतः मुकुलभट्ट ने अपने ताटस्थ्य सिद्धान्त की पुष्टि की है।

मुकुलभट्ट का ताटस्थ्य सिद्धान्त—ताटस्थ्य सिद्धान्त अर्थात् लक्ष्य अर्थ और लक्षक अर्थ के भेद को ही शुद्धा और गौणी का भेदक धर्म माना गया है। गौणी का लक्षणा में सादृश्यातिशय के कारण लक्ष्य और लक्षक का अभेद प्रतीत होता है। यथा, 'गौर्वाहोकः" "पंजाबी बैल है," वाक्य में जड़ता, मन्दता आदि

---

१. अत्यन्तं विशकलितयोः सादृश्यातिशयमहिम्नाभेदप्रतीतिस्थगनं उपचारः॥

गुणों का पंजाबी और बैल में सादृश्य होने के कारण गौ और वाहीक अर्थ में अभेद की प्रतीति होती है। इसके विपरीत शुद्धा लक्षणा (उपादान और लक्षण) में लक्ष्य और लक्षक अर्थ का अभेद नहीं होता, अपितु भेद रूप ताटस्थ्य बना रहता है। यही इसका ताटस्थ्य सिद्धान्त है। इसके अनुसार 'कुन्ता प्रविशन्ति' और 'गंगायां घोषः' इन दोनों उदाहरणों में लक्ष्य और लक्षक अर्थ का अभेद नहीं है अपितु भेद रूप ताटस्थ्य बना रहता है। अतः ताटस्थ में ही शुद्धा लक्षणा होती है अर्थात् शुद्धा लक्षणा में लक्ष्य और लक्षक अर्थों में भेद बना रहता है और गौणी लक्षणा में दोनों अर्थों में अभेद रहता है।

मम्मट द्वारा ताटस्थ्य सिद्धान्त का खण्डन—आचार्य मम्मट ने मुकुलभट्ट के इस सिद्धान्त का खण्डन किया है। इसके अनुसार शुद्धा लक्षणा के दो भेदों उपादान और लक्षण में लक्ष्यार्थ (तीर रूप) और लक्ष कार्थ (गङ्गा का जल प्रवाहरूप) में भेट प्रतीति नहीं होने से इनमें ताटस्थ्य सिद्धान्त नहीं माना जा सकता है, क्योंकि 'गङ्गायां घोषः' वाक्य में गङ्गा का अर्थ तट होता है। ऐसी दशा में इसके प्रयोग का प्रयोजन शीतलता और पावनता को प्रकट करना ही होता है। इस प्रयोजन की सिद्धि तभी होती है, जब हम गङ्गा को तट समझ लें और ऐसा होने में आरोप का भाव आ जाता है। अतः मुकुलभट्ट के सिद्धान्त का निराकरण हो जाता है। यदि पूर्व पक्षी यह कहे कि गंगा से तट का भाव लेने में गंगा और तट में भी एक सम्बन्ध दिखाई पड़ता है, तो कहा जा सकता है कि यह अर्थ अभिधा से भी सिद्ध हो सकता है; तो फिर लक्षणा का प्रयोग ही व्यर्थ है।[1]

सारोपा लक्षणा—जहाँ विषयी के द्वारा विषय आरोपित किया जाता है, उसके लिए तीन बातों की आवश्यकता होती है।

(१) लक्ष्यार्थ और मुख्यार्थ (विषय और विषयी) दोनो का समानाधिकरण करते हुए एक साथ उनका निर्देश होना चाहिए।

(२) रूपक अलंकार का मूल यही गौणी सारोपा लक्षणा होती है।

---

१. अनयोर्लक्ष्यस्य लक्षकस्य च न भेदरूपं ताटस्थ्यम्। तटादीनांहि गंगाःदिशब्दैः प्रतिपादने तत्वप्रतिपत्तो हि प्रतिपिपादयिषित प्रयोजन सम्प्रत्ययः। गंगा सम्बन्ध मात्र प्रतीतौ तु गंगातटै घोषः इति मुख्यशब्दाभिधानाल्लक्षणायाः को भेदः। काव्यप्रकाश। द्वि० उ० पृष्ट ६१

(३) इसमें विषयी के द्वारा विषय आरोपित होता है।

(४) दोनो एक ही कारक या विभक्ति में लिखे जाते हैं। जैसे गौर्वाहीक: (पंजाबी बैल है)

इस उदाहरण में सभी बातें मिल जाती हैं। गौ और वाहीक का स्पष्ट निर्देश भी किया गया है। दोनों एक ही विभक्ति में होने के कारण समानाधिकरण की विशेषता से भी युक्त है। समानाधिकरण से गौ को वाहीक का अर्थ भी प्रकट करना चाहिये, यह कार्य अभिधा द्वारा सम्भव नहीं है। अत: लक्षणा से काम लेना पड़ता है। यहां अतिशय मूर्खता को व्यक्त करना ही ध्येय है। इस स्थान पर वाच्यार्थ (बैल) और लक्ष्यार्थ (पंजाबी) में समान गुण मूर्खता है। अत: समान गुणों के साहृश्य के कारण बैल का लाक्षणिक प्रयोग किया गया है।

साध्यवसाना लक्षणा—जब विषयी (आरोप्यमाण या उपमान) के द्वारा दूसरे का (उपमेय रूप आरोप विषय) अपने भीतर अन्तर्भाव कर लिया जाता है, तो वहाँ साध्यवसानिका लक्षणा होगी। जैसे "गौरयम्" या 'गौर्जल्पति' में आरोप विषय वाहीक का शब्दत: उपादान नहीं है, फिर भी इसमें एक साहृश्य है। अत: साहृश्यमूलक होने के कारण ये दोनों गौणी लक्षणा के उदाहरण हैं। यहां पर गौ शब्द वाहीक की प्रतीति कैसे कराता है, इस सम्बन्ध में कई मत हैं अर्थात् गौणी साध्यवसाना लक्षणा में लक्षणा वृत्ति से बोध्य लक्ष्य अर्थ क्या है, इस सम्बन्ध में तीन मत हैं:—

(१) यहाँ गो शब्द के अपने अर्थ के सहचारी जाड्य मान्द्य आदि गुण लक्षणा द्वारा बोधित होकर गो शब्द के द्वारा दूसरे अर्थ (वाहीक रूप को) अभिधा से बोधित करने में प्रवृत्ति निमित्त बन जाते हैं, "अत्र हि स्वार्थ सहचारिणो गुण जाड्यमान्द्यादयो लक्ष्यमाणा अपि गौ: शब्दस्य परार्थाभिधाने प्रवृत्ति निमित्तमुपयान्ति इति केचित्।"[१] इस लक्ष्यार्थ को बोधित करने में दो सरणियां कार्य करती हैं। (क) गौ शब्द लक्षणा के सहारे पहले जाड्य मान्द्यादि गुणों का संकेत करता है (ख) पुन: अभिधा के द्वारा वाहीक अर्थ देता है। इससे स्पष्ट है कि गौ शब्द का मुख्यार्थ बैल है, वाहीक नहीं है। इसके औचित्य को सिद्ध करने के लिये हमें लक्षणा शक्ति लानी पड़ेगी। लक्षणा के सहारे जाड्यमान्द्यदि—जो कि मुख्य अर्थ से सम्बद्ध है, प्रयोजन मूलक है

---

१. काव्य-प्रकाश-उ० पृ० ६२ आ० विश्वेश्वर

और मुख्यार्थ नहीं है--का बोध होता है इसलिये गौ का दूसरा अर्थ वाहीक अभिधा के सहारे समझना चाहिए अर्थात् "गौर्वाहीक:" में (१) पहले अभिधा से गौ का बैल अर्थ होता है (२) फिर वाच्यार्थ से सम्बद्ध उसके सहचारी गुण जड़ता, मन्दता आदि का बोध लक्षणा से होता है, क्योंकि बैल में ये गुण वर्तमान रहते हैं, इस प्रकार ये गुण स्वार्थ सहचारी हैं। (३) ये गुण (जड़तादि) वाहीक में भी पाये जाते हैं। अत: वाहीक को व्यक्त करने में पुन: अभिधा शक्ति कार्य करती है। इस प्रकार अभिधा, लक्षणा और अभिधा के क्रम से शब्द की शक्तियाँ गौ शब्द से वाहीक अर्थ की सिद्धि करती हैं।

उपर्युक्त मत का खण्डन:--इस मत में स्पष्टत: तीन दोष दीख पड़ते हैं:--(क) गौ शब्द का संकेत वाहीक में नहीं हो सकता, क्योंकि इसका क्रम अभिधा, लक्षणा, अभिधा बताया गया है इसमें दूसरी बार अभिधा व्यापार का होना सम्भव नहीं है। इससे यह मत मान्य नहीं कहा जायगा।

(ख) जब एक बार लक्षणा द्वारा गो-गत जाड्य मान्द्यादि का बोध हो गया, तो पुन: अभिधा से वाहीक अर्थ की प्रतीति कैसे हो सकती है, क्योंकि किसी भी शब्द का व्यापार एक ही बार होता है।

(ग) यहाँ लक्ष्यार्थ को प्रवृत्ति रूप माना गया है, परन्तु सिद्धान्त के अनुसार वाच्यार्थ ही प्रवृत्ति रूप हो सकता है, लक्ष्यार्थ नहीं। अत: यह मत दोषपूर्ण माना जायगा।

२. **दूसरा-मत**:--इस मत के अनुसार गुण से गुणी के बोध कराने का प्रयास है। गौ का लक्ष्यार्थ गोत्वगुण है और अपने गुणी वाहीक का संकेत कर रहा है। गौ तथा वाहीक दोनों में ही एक ही प्रकार के गुण जड़ता मन्दता आदि पाये जाते हैं। गुण की दृष्टि से दोनों में कोई भेद नहीं है। अत: गौ शब्द का मुख्य अर्थ बैल है और उसमें पायें जाने वाले जड़तादि गुणों के अभेद के कारण लक्षणा शक्ति से वाहीक गत जड़ता मूर्खता गुण भी लक्षित होते हैं। वाहीक अर्थ के अभिधा से बोध कराने में प्रवृत्ति निमित्त नहीं होते हैं।

निराकरण:--(क) गौ ओर वाहीक में पाये जाने वाले गुणों में अभेद है। जड़तादि गुण एक ही है, परन्तु उनका गुणी गौ और वाहीक अलग-अलग है। अत: गौ के मुख्यार्थवाची शब्द से वाहीक में पाये जाने वाले गुणों का लक्षणा से बोध हो, यह विचार अनुचित है, क्योंकि धर्मी (गौ और वाहीक) इन दोनों की अलग-अलग सत्ता है।

(ख) यदि लक्ष्यार्थ के जाड्य-मान्द्यादि गुणों का बोध मान भी लिया

जाय, तो गुणी और गुण का सहप्रयोग कैसे सिद्ध हो सकता है ? इसे मानने पर 'जाड्य मान्द्यादि गुण पञ्जाब के रहने वाले हैं,' यह अनुचित अर्थ होगा। अत: गौ और वाहीक का सहप्रयोग अनुचित होने से लक्षणा का प्रयोग किया गया है। इस लक्षणा मूलक अर्थ को ग्रहण करने पर भी सहप्रयोग सम्भव न हो, तो लक्षणा को मानना भी अनावश्यक होगा। ऐसी स्थिति में आक्षेप से काम लेना पड़ेगा। इससे गौरव-दोष आ जाता है। अतः यह मत भी मान्य नहीं हो सकता है।[1]

३ **तीसरा-मत**—गौ में तथा वाहीक में पाये जाने वाले गुणों में साम्य है। इन समान गुणों के आश्रय से गौ का अर्थ लक्षणा से वाहीक ही लेना चाहिए। तन्त्र-वार्तिक में इसका समर्थन किया गया है कि मुख्यार्थ का अन्य-प्रमाणों से बाधित होने पर मुख्यार्थ से सम्बन्ध अन्य अर्थ लक्षणा से प्रतीत होता है तथा लक्ष्यमाण गुणों के योग से लक्षणा वृत्ति की गौणता हो जायगी। लक्षणा की क्रिया जब मुख्यार्थ और गौणार्थ के सम्बन्ध पर होती है, तो उसे गौणार्थ कहते हैं। यहाँ गौ से वाहीक अर्थ लेने में मुख्यार्थ-बाध है ही, सादृश्य सम्बन्ध के कारण तद्योग भी है। समान मूर्खता का बताना यहाँ प्रयोजन है। इस प्रकार समान जड़ता और मूर्खता के कारण गो के मुख्यार्थ बैल और वाहीक में सादृश्य सम्बन्ध स्थापित होने पर गौ शब्द ही लक्षणा व्यापार से वाहीक को लक्षित कर देता है। अतः यह मत अधिक समीचीन है। गौड़ी लक्षणा भी वहीं होती है, जहाँ लक्षित गुणों के सम्बन्ध के द्वारा लक्ष्यार्थ की प्रतीति हो। मम्मट ने इसी मत का समर्थन करते हुए तन्त्र-वार्तिक के एक श्लोक को उद्धृत किया है। इस प्रकार गौणी लक्षणा के सारोपा और साध्यवसाना लक्षणा का वर्णन किया गया। निम्नलिखित पंक्तियों में शुद्धा के दोनों भेद सारोपा और साध्य-वसाना का विचार किया जायगा।

शुद्धा लक्षणा—जहाँ सादृश्य सम्बन्ध से भिन्न किसी अन्य सम्बन्ध से आरोप और अध्यवसान होता है, वहाँ शुद्धा लक्षणा का भेद माना जाता है। 'आयुर्घृतम्' (घी आयु है) वाक्य में सादृश्य से भिन्न कारण कार्य भाव लक्षणा के प्रयोजक हैं। इस वाक्य में आरोप्यमाण आयु और आरोप विषय घृत है। दोनों का शब्दतः कथन भी हुआ है। इससे यह शुद्ध सारोपा नामक भेद हैं क्योंकि सारोपा में विषयी तथा विषय का स्पष्ट कथन होता है और शुद्धा में

---

१. स्वार्थसहचारिगुणाभेदेन परार्थगता गुण एव लक्ष्यन्ते न परार्थोऽभिधीयत इत्यन्ये। काव्य-प्रकाश-पृ० ६३ आ० विश्वेश्वर

सादृश्य भिन्न सम्बन्ध पर लक्षणा आधारित रहती है इस उदाहरण में घृत और आयु में कारण कार्यभाव सम्बन्ध है। घृत को आयु-वर्द्धक माना गया हैं अर्थात् आयु के बढ़ाने का यह एक कारण है।

शुद्धा साध्यवसाना में आरोप विषय का शब्दतः कथन नहीं होता है। वह विषयी में ही अन्तर्हित रहता है। उदाहरणार्थ घृत के लिये प्रयुक्त वाक्य 'आयुःपिवामि' (जीवन ही पीता हूँ) में जीवन के कारण भूत घृत का शब्दतः कथन नहीं हुआ है, वह आयु रूप विषयी में ही छिपा रह जाता है। अतः आरोप विषय घृत का शब्दतः कथन न होने से यह शुद्धा साध्यवसाना का भेद होगा।

उपर्युक्त विचारों से स्पष्ट हो जाता है कि गौणी-लक्षणा के दोनों भेदों में आरोप्यमाण (गौ) और आरोप विषय (वाहीक) में वस्तुतः भेद होने पर भी उन दोनों के तादात्म्य की प्रतीति लक्षणा द्वारा होती है। इसी अभेद की प्रतीति कराना इस लक्षणा का प्रयोजन माना जाता है। इसके सारोपा भेद में रूपक अलंकार और साध्यवसाना भेद में रूपकातिशयोक्ति अलंकार कार्य करता है।

शुद्धा लक्षणा के प्रयोजक हेतु—गौणी लक्षणा सादृश्य सम्बन्ध पर और शुद्धा सादृश्येतर सम्बन्ध पर आधारित रहता है। इसे कई प्रकार से स्पष्ट किया गया है—

(१) कार्य कारण भाव—का उदाहरण ऊपर दिया जा चुका है। शुद्धा सारोपा का 'आयुर्घृतम्' और शुद्धा साध्यवसाना का 'आयुःपिवामि,' उदाहरण है।

(२) तादर्थ्य सम्बन्ध से भी शुद्धा लक्षणा को स्पष्ट किया गया है। तादर्थ्य में अन्य के लिए अन्य का वाचक शब्द प्रयोग किया जाता है। जैसे इन्द्र के लिये बनाई गई स्थूणा भी तादर्थ्य सम्बन्ध से इन्द्र कही जाती है।

(३) स्व स्वामिभाव से अन्य शब्द का अन्यत्र प्रयोग होता है। जैसे राजा का विशेष कृपा पात्र व्यक्ति भी 'राजा' नाम से सम्बोधित होता है।

(४) अवयव-अवयवि भाव सम्बन्ध से भी लक्षणा का निर्णय किया जाता है। जैसे हाथ के अग्रभाग के लिए भी 'हस्त' शब्द का ही प्रयोग किया गया है।

(५) तात्कर्म्य से भी उपचार का प्रयोग होता है अर्थात् अन्य के लिये अन्य का प्रयोग किया जाता है। जैसे बढ़ई का काम करने वाले ब्राह्मण को भी बढ़ई कह जाता है। ऐसा तात्कर्म्य (उस कार्य को करने के सम्बन्ध से ही) किया

जाता है। गौणी और शुद्धाविषक विभिन्न मत—बताया जा चुका है कि सम्बन्धों के आधार पर लक्षणा की दो कोटियाँ होती हैं—

(क) सादृश्य सम्बन्ध को लेकर चलने वाली लक्षणा को गौणी नाम दिया गया है। इसमें विषय और विषयी के समान गुणों का आधार बनाया जाता है। यह मुख्यार्थ और लक्ष्यार्थ दोनों में ही रहता है। गुणों के इसी आधार के कारण इसका नाम गौणी रखा गया है।

(ख) सादृश्य से भिन्न अन्य सम्बन्धों पर आधारित लक्षणा शुद्धा कही जाती है। यह सम्बन्ध कार्य कारण भाव, तादर्थ्य भाव सम्बन्ध, स्व. स्वामिभाव सम्बन्ध, अवयवावयविभाव, तथा तात्कर्म्यभाव सम्बन्ध से कई प्रकार का हो जाता है। इनमें गूणों का मिश्रण नहीं है। इससे इसे शुद्धा कहते हैं।

प्रभाकर के अनुयायी मीमांसकों के अनुसार गौणी और लक्षणा दोनों अलग-अलग शक्तियाँ हैं। विद्यानाथ ने दोनों की भिन्नता वाली यह बात स्वीकार नहीं की हैं। अपि तु मम्मट के समान ही अपना विचार व्यक्त किया है। मम्मट ने लक्षणा के छः भेद किये हैं, परन्तु इन भेदों के सम्बन्ध में मत-भेद है। विचारकों में माणिक्य चन्द्र, जयन्त, हरदत्त शर्मा का प्रथम वर्ग है। इनके अनुसार निम्नलिखित भेद है।
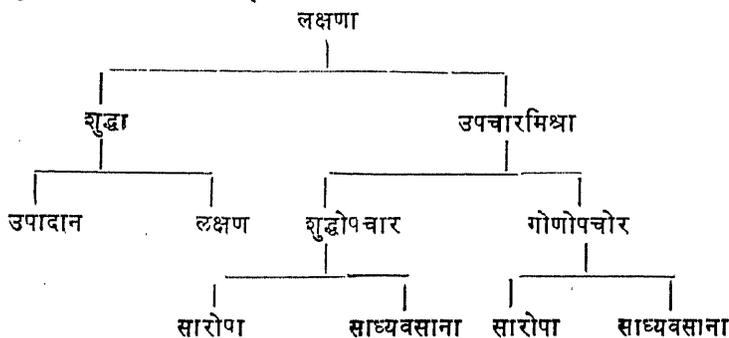
इस वर्गीकरण का समर्थन माणिक्म चन्द्र ने संकेत टीका में किया है।[१] जयन्त ने भी शुद्धा लक्षणा को दो प्रकार का माना है और उपचार मिश्रा के चार भेद करने को कहा है।[२] चन्दोरकर न अपने मत की पुष्टि में निम्नलिखित तर्क दिये हैं—

---

१. सा च द्विधा। शुद्धोपचार मिश्रा च। शुद्धा द्विधा; द्विधोपचार मिश्रा इति उपचार मिश्रा द्विधा।" संकेत टीका माणिक्यचन्द्र।

२. शुद्धा लक्षणा द्विप्रकार मुक्ता। इदानीं उपचार मिश्रा चतुर्भेदत्वेन निरुपयितुमाह.........जयन्त।

(१) आचार्य मम्मट ने[1] स्पष्ट रूप से उल्लेख किया है कि उपादान और लक्षण ये दोनों शुद्धा लक्षणा के ही भेद हैं, क्योंकि इनमें उपचार का मिश्रण नहीं है।

(२) उपचार मिश्रा लक्षणा का संकेत काव्य-प्रकाश के द्वितीय उल्लास में ११वीं कारिका में कर दिया गया है "सारोपान्यतु·······साध्यवसानिका।"

(३) इस कारिका में 'तु' का प्रयोग व्यक्त करता है कि उपचार मिश्रा ही सारोपा लक्षणा होती है वह शुद्धा नहीं हो सकती है।

(४) मुकुलभट्ट[2] का वर्गीकरण भी इसी प्रकार का है। मम्मट ने भी इन्हीं का अनुसरण किया है। आचार्य विश्वेश्वर ने भी इसका समर्थन करते हुए कहा है कि 'शब्द-विचार-व्यापार' नामक ग्रन्थ में मम्मट मुकुलभट्ट के मत से जिन अंशों से सहमत नहीं थे, उनका उन्होंने खण्डन किया था, शेष जिन अंशों में उनका मतभेद नहीं है, उनका विवेचन मुकुल भट्ट के आधार पर कर दिया गया है।····इसलिये लक्षण के इस विवेचन में भी काव्य-प्रकाश पर मुकुल भट्ट की छाया पड़ी है।[3] अतः स्पष्ट है कि मुकुल भट्ट ने भी लक्षणा के ये ही छः भेद किये हैं।

(५) प्राचीन टीकाकारों ने माणिक्य चन्द्र और जयन्त ने भी इसी का समर्थन किया है। इसी से छः भेदों वाले इस वर्गीकरण को ठीक माना गया है।

(ख) इस मत को न मानने वालों का वर्गीकरण दूसरे प्रकार का है। वेलाङ्कर महोदय का मत है कि काव्य प्रकाश की कारिका और वृत्ति के शब्दों का विश्लेषण करने से स्पष्ट है कि मम्मट ने कहीं पर भी उपचार मिश्रा लक्षणा का संकेत नहीं किया है, अपि तु स्पष्ट रूप से गौणी और शुद्धा लक्षणा का अलग

---

१. उभय रुपाचेयं शुद्धा उपचारेणामिश्रितत्वात्।
   का० प्र० दूसरा उल्लास।

२. द्विविधः उपचारः। शुद्धो गौणश्च······ तस्माच्छुद्धोऽयमुपचारः।
   ·······अत्रहि गोगत जाड्यमान्द्यादिगुण सदृशजाड्यमान्द्यादियोगाद् वाहीके गोशब्द गोत्वयोरुपचारः। केचित्तु उपचारे शाब्दोपचामेव-मन्यन्ते नार्थोपचारम्। तदयुक्तमम्। शब्दोपेचारस्यार्थोपचाराविना भावित्वात्। एवमुपचारः शुद्ध गौणभेदे द्विविधोऽभिहितः॥
   मुकुल भट्ट।

३. काव्य प्रकाश दीपिका—हिन्दी टीका पृष्ठ ६३

अलग उल्लेख किया है ।[1] ऐसी दशा में इसका अर्थ गौणोपचार और शुद्धोपचार लेना उचित नहीं कहा जा सकता है ।

(i) मम्मट की वृत्ति में 'उभयरूपा चेयं शुद्धा उपचारेणामिश्रितत्वात्' वाक्य में उपचार के चार अन्य भेदों का संकेत कहीं पर भी नहीं मिलता है। उपचार शब्द से सादृश्य की प्रतीति भी यहाँ पर नहीं हो पाती है। "आयुरेवाघृतम्" में आयु और घृत में सादृश्य सम्बन्ध का आभास तक नहीं है।

(ii) 'सारोपान्या तु यत्रोक्तौ विषयी विषयस्तथा,' कारिका में 'अन्या' का अर्थ शुद्धा बताया गया है, परन्तु इसका वास्तविक अर्थ उपादान लक्षणा और लक्षण-लक्षणा का होना चाहिये। वृत्ति में भी उपचार लक्षणा का संकेत नहीं है। अतः अन्या शब्द से उस अर्थ का ग्रहण करना समीचीन नहीं हो सकता है।

(iii) 'तु' का प्रयोग पद की पूर्ति के लिये माना जा सकता है।

(iv) सिद्धान्त सम्बन्धी अन्तर होने से मम्मट के विचारों को मुकुल भट्ट का अनुकरण मानना ही अनुचित है। अतः ऊपर जो वर्गीकरण दिया गया है, उसे अनुचित कहते हुए वेलाङ्कर महोदय ने उसे निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत किया है:—
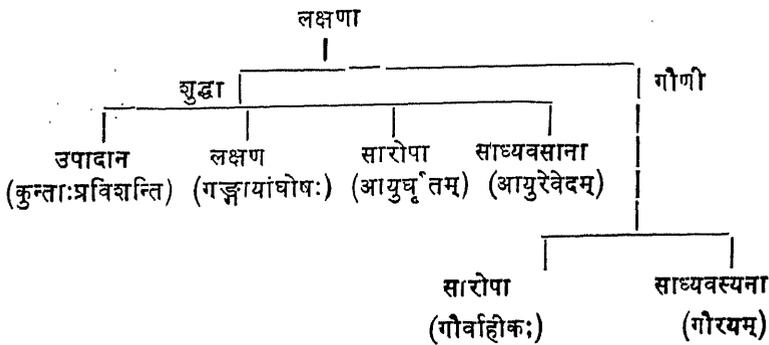
डा० सत्यव्रतसिंह का विभाजन इससे कुछ भिन्न है। इस मत में शुद्धा के उपादान और लक्षण-लक्षणा ये दो भेद हैं। पुनः प्रत्येक के सारोपा पौर साध्यवसाना दो-दो भेद हैं। इस प्रकार शुद्धा के चार और गौणी के दो भेद मिलकर कुल छः भेद हो जाते हैं।

---

१. भेदाविमौ च सादृश्यात् सम्बन्धान्तरतस्तथा। गौणौ शुद्धौ च विज्ञेयौ·······२ १२ का० प्र०
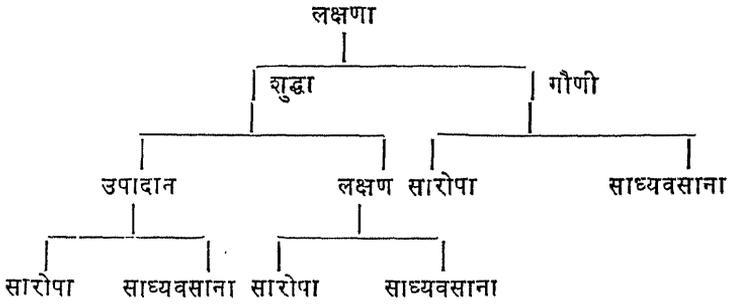
इस प्रकार लक्षणा के छ: भेद हो जाते हैं। ये सभी भेद प्रयोजनवती लक्षणा के हैं, रूढ़ा के नहीं। मेरे विचार से मम्मट के लक्षणा का वर्गीकरण निम्नलिखित प्रकार से होता है:—
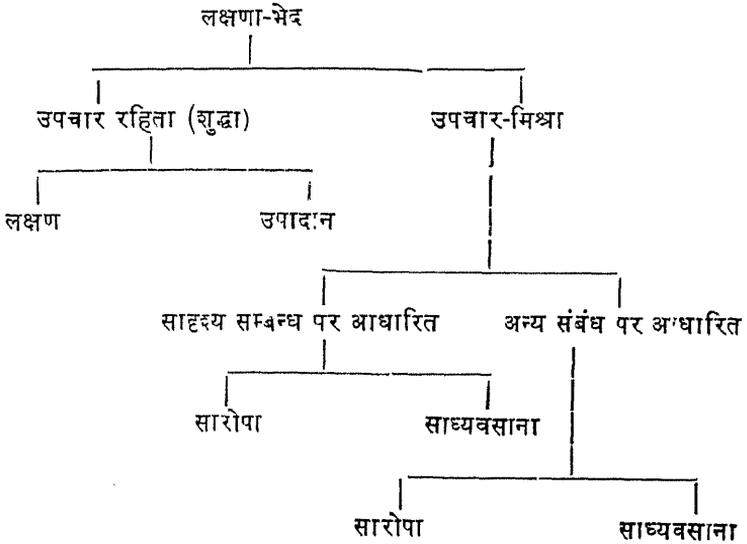
इस वर्गीकरण के सम्बन्ध में निम्नलिखित तर्क दिये जा सकते हैं:—

१. शुद्धा लक्षणा के दो भेद करने के उपरान्त उस प्रसंग के अन्त में मम्मट ने कहा है कि ये दोनों भेद (उपादान और लक्षण) शुद्धा के ही हैं,[1] क्योंकि इनमें उपचार (सादृश्यातिशय के कारण भेद प्रतीति का स्थगन हो जाना) का मिश्रण नहीं है। इस वृत्ति भाग द्वारा दो बातें ज्ञात होती हैं:—

क) लक्षणा के भेद के लिये उपचार का मिश्रण या अमिश्रण का होना

१. काव्य प्रकाश २।११

आवश्यक हैं। यदि ऐसा न हो तो 'उपचारेणामिश्रितत्वात्' का महत्व नहीं रहेगा।

(ख) इस वाक्यांश से यह भी स्पष्ट है कि उपचार होने पर लक्षणा का दूसरा भेद होगा।

२. "सारोपान्या तु यत्रोक्तौ विषयीविषयस्तथा" कारिका में अन्य का प्रयोग सभी टीकाकारों के अनुसार शुद्धालक्षणा के लिये ही माना गया है। 'तु' शब्द निश्चयात्मक है। इसके प्रयोग से सन्देह का स्थान नहीं रह जाता है। इसी के दो भेद सारोपा और साध्यवसाना हैं।

३. इस प्रसंग पर मम्मट ने कहा है कि सादृश्य सम्बन्ध पर और सादृश्येतर सम्बन्ध पर क्रमशः लक्षणा के गौणी और शुद्धा भेद समझना चाहिए। यहाँ यथाक्रम अलंकार द्वारा यह व्यक्त होता है कि सादृश्य सम्बन्ध पर आधारित लक्षणा के दोनों भेद गौणी और अन्य सम्बन्ध पर आधारित लक्षणा के दोनों भेद शुद्धा कहे जाते हैं।

४. इसी कारिका में 'गौणौ' तथा 'शुद्धौ' का प्रयोग हुआ है।[1] ये दोनों दो वचन में प्रयुक्त हुए हैं और इसके पूर्व सारोपा और साध्यवसाना भेद किया जा चुका है। इससे स्पष्ट है कि गौणी और शुद्धा दोनों के ही ये दोनों भेद हैं। इस प्रकार दो भेद पहले के और चार इन भेदों को मिलाकर कुल लक्षणा के छः भेद हो जाते हैं।

५. मम्मट ने लक्षणा के ६ भेदों का स्पष्ट निर्देश किया है। अतः लक्षणा का यह भेद अधिक समीचीन है।

६. लक्षणा के जो उदाहरण दिये गये हैं, उनसे भी उपचार मिश्रा और उपचार रहिता वाली भावना पुष्ट होती है, क्योंकि वहाँ पर भी कहीं सादृश्य संबंध की और कहीं अन्य संबंध की चर्चा की गई है।

अतः स्पष्ट हो जाता है कि लक्षणा के छः भेद होते हैं। इनमें शुद्धा के दो भेद लक्षण और उपादान तथा उपचार मिश्रा के चार मेद होते हैं। यह भेद अधिक तर्क सम्मत भी हैं। ये सभी भेद प्रयोजनवती लक्षणा के हैं। इस प्रयोजन का बोध शब्द की जिस शक्ति द्वारा होता है, उसे व्यञ्जना-व्यापार कहते हैं। इसका बोध अभिधा, लक्षणा, तात्पर्या अथवा विशिष्ट लक्षणा में से किसी के द्वारा नहीं हो सकता है। इस विचार का निराकरण आचार्य मम्मट ने द्वितीय उल्लास की कारिका १४ से १८ तक में किया है और प्रयोजन-बोध में व्यञ्जना-व्यापार की स्थापना की गई है।

---

१. भेदाविमौ च सादृश्यात् सम्बन्धान्तरतस्तथा।
गौणौ शुद्धौ च विज्ञेयौ लक्षणा तेन षडविधा॥ २।१२

व्यंजना विचार

व्यञ्जना का स्वरूप

व्यञ्जना का सर्वप्रथम उल्लेख अपनी सम्पूर्ण प्रधानता के साथ ध्वन्यालोककार ने किया है। उन्होंने इसे समझाने के लिये उत्तम काव्य में एक प्रतीयमान अर्थ का होना आवश्यक माना है। 'प्रतीयमान अर्थ कुछ अन्य ही होता है, जो महाकवियों की वाणी में पाया जाता है। किसी तरुणी का सौंदर्य जैसे उसके अवयवों से भिन्न एक अलग सत्ता वाला ही होता है, उसी प्रकार प्रतीयमान अर्थ भी स्वतन्त्र सत्ता वाला होता है।'[1] ऐसा प्रतीत होता है कि परम्परा से इस प्रतीयमान अर्थ पर विचार होता रहा है, क्योंकि बिना मौखिक अथवा संकेतात्मक लिखित आधार के ध्वन्यालोककार को भी इसकी प्रेरणा का न मिलना ही सम्भव माना जायगा। ध्वन्यालोक की प्रथम कारिका में ही आनन्दवर्धन ने बतलाया है कि "काव्य की आत्मा ध्वनि है ऐसा विद्वानों के द्वारा कहा गया है।"[2] इस कारिका में "सूरिभिः कथितः" इस वाक्यांश का प्रयोग है। प्रश्न है कि ये कौन थे? तथा इस वाक्यांश से किनकी ओर संकेत है।

इसी कारिका की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि वैयाकरणों ने इस ध्वन्यात्मकता की ओर सर्वप्रथम ध्यान आकर्षित किया है तथा व्याकरण सब विद्याओं का मूल है। अतः इस ध्वनि मार्ग का प्रचार यों ही नहीं किया जा रहा है, अपि तु परम्परा से इसको प्रकट किया गया है। वैयाकरणों का यही सिद्धान्त 'स्फोटवाद' के नाम से प्रसिद्ध है। मम्मट ने भी प्रथम उल्लास में कहा है कि "बुध अर्थात् वैयाकरणों ने प्रधानभूत स्फोट रूप व्यंग्य की अभिव्यक्ति

---

१. प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवांगनासु॥
ध्वन्यालोकप्रउद्योत १/४

२. काव्यस्यात्माध्वनिरितिबुधैर्यः समाम्नातपूर्वः १/१ ध्वन्यालोक

कराने में समर्थ शब्द के लिये ध्वनि का व्यवहार किया है। तदनन्तर उनके मत का अनुसरण करने वाले अन्य साहित्य-शास्त्र के आचार्यों ने भी वाच्यार्थ को गौण बना देने वाले तथा व्यंग्यार्थ की अभिव्यक्ति कराने में समर्थ शब्द और अर्थ दोनों के लिये ध्वनि शब्द का प्रयोग किया है।[1] महाभाष्यकार ने भी इस ध्वनि पद का प्रयोग किया है" ....अथवा प्रतीतपदार्थ को लोके ध्वनि: शब्द इत्युच्यते। तद्यथा शब्दं मा कुरु, शब्द या कार्षी:, शब्दकार्ययं माणवक: इति। ध्वनि कुर्वन्नेवमुच्यते। तस्माद् ध्वनि: शब्द:"[2]

अत: स्पष्ट है कि स्फोट सिद्धान्त से ही इसको मूल प्रेरणा प्राप्त हुई है। "स्फुटति अर्थ: वस्मात् स: स्फोट:" जिससे अर्थ का स्फुरण प्रतीति हो, वह स्फोट कहा जाता है। व्याकरण में नित्य व अखण्ड शब्द के रूप में स्फोट की कल्पना की गई है। वर्ण, पद, वाक्य आदि स्फोट रूप इसी व्यंग्य के व्यञ्जक हैं। वैयाकरणों ने शब्द के वर्णनात्मक और ध्वन्यात्मक ये दो भेद किये हैं। इन पूर्व पूर्व ध्वनि के उच्चारण के साथ वर्णनात्मक ध्वनि तो नष्ट हो जाती है, परन्तु ध्वन्यात्मक शब्द ही अखण्ड रूप में पद वाक्यादि का ज्ञान कराता है। इसी ध्वनि से व्यञ्जित होने वाला अखण्ड तत्व 'स्फोट' कहा जाता है। साहित्यकारों का भी प्रतीयमान अर्थ पद पद्यांश अर्थ आदि से अभिव्यञ्जित होता है। अत: व्यञ्जना की कल्पना का मूल इन्हीं वैयाकरणों में ही पाया जाता है। जैसे अखण्ड और नित्य रूप स्फोट पहले से ही वर्तमान रहता है और वर्ण, पद, वाक्य आदि दीपक द्वारा घट की व्याप्ति के समान उसे व्यञ्जित कर देते हैं। उसी प्रकार सहृदय के हृदय में वर्तमान व्यंग्यार्थ की प्रतीति व्यञ्जना व्यापार युक्त शब्द या अर्थ अभिव्यञ्जित कर देता है।

ऊपर मम्मट की पंक्ति को उद्धृत करते हुए कहा गया था कि "तन्मतानुसारिभिरन्यैरपि" अर्थात उन वैयाकरणों के मत का अनुसरण करने वाले अन्यों के द्वारा भी इस ध्वनि की चर्चा की गई है। इन अन्यों में विशेषत: भामह और उद्भट का नाम लिया जा सकता है। इन दोनों ने ध्वनि मार्ग का संकेत अवश्य किया है, परन्तु उसका लक्षण नहीं किया। इनके मत से 'गुण-वृत्ति' ही ध्वनि है। ध्वनिकार ने भी इसका समर्थन करते हुए कहा है कि

---

१. बुधैर्वैयाकरणै: प्रधानभूतस्फोटरूप व्यंग्यव्यञ्जकस्य शब्दस्य ध्वनिरिति व्यवहार: कृत: ! ततस्तन्मतानुसारिभिरन्यैरपि न्यग्भावित वाच्यव्यंग्यव्यञ्जनक्षमस्य शब्दार्थयुगलस्य।"

२. 'महाभाष्य' पतञ्जलि। का० प्र० पृष्ठ २९

"अन्ये तं ध्वनिसंज्ञितं काव्यात्मानं गुणवृत्तिरित्याहुः"[1] अर्थात दूसरे लोग काव्यात्मा उस ध्वनि को गुणवृत्ति कहते हैं।

इसी ध्वनि की चर्चा करते हुए भामह ने इसे अभिधानपद से स्पष्ट किया है।[2] उद्भट के अनुसार यही 'गुणवृत्ति' है।[3] तथा वामन ने 'साहश्यात् लक्षणा वक्रोक्तिः' वाक्य में लक्षणा द्वारा ध्वनि मार्ग का स्पर्श किया है। इस प्रकार भामह के काव्यालंकार में और उद्भट के विवरण में 'गुणवृत्ति' प्रयोग को देखकर ध्वनिकार ने 'भाक्तमाहुस्तमन्ये" लिखा है। इस भक्ति का स्पष्टीकरण तीन रूपों में किया गया है। (१) **मुख्यार्थवाधरूप में** "मुख्यार्थस्य भंगने भक्तिः" (२) **सामिप्यादि सम्बन्ध रूप में**—भज्यते सेव्यते पदार्थेन इति सामिप्यादि धर्मो भक्तिः। (३) **प्रयोजन रूप में**–प्रतिपाद्यते शैत्य पावनत्वाद्वै श्रद्धाविशयो भक्तिः–नत् आगतः भाक्तः। अतः स्पष्ट हुआ कि मुख्यार्थ वाधादि तीनों मूल तत्वों से जिस अर्थ की प्रतीति होती है। उस लक्ष्यार्थ को ही 'भाक्त' कहते हैं। इस प्रकार इस ध्वनि का प्रयोग परम्परा सम्मत है और इसे प्रवाद मात्रत्व नहीं कहा जा सकता है; क्योंकि यह ध्वनि केवल लक्षणकर्ताओं को ही ज्ञात नहीं है, लक्ष्य ग्रन्थों में तो सर्वत्र यही सहृदय–आल्हादक काव्य तत्व प्राप्त हो सकेगा।[4] अतः ध्वनि की स्थिति परम्परा सम्मत है।

इस प्रकार मुख्यार्थ और लक्षार्थ से भिन्न एक व्यङ्गयार्थ की सत्ता माननी पड़ती है। इस व्यङ्गयार्थ की प्रधानता से ही ध्वनि हो सकती है। स्मरण रहे कि यह व्यंग्यार्थ, वाच्यार्थ की अपेक्षा अधिक चमत्कार युक्त होता है और इसी को विद्वानों ने ध्वनि कहा है।[5] वैयाकरणों के अनुसार स्फोट रूप शब्द ब्रह्म को व्यञ्जित करने वाला और अखण्ड शब्द और अर्थ ही ध्वनि है, साहित्यकारों ने इसी ध्वनि का आधार लेकर व्यञ्जना-व्यापार के द्वारा प्रतीयमान अर्थ को व्यक्त करने वाले काव्यादि को ध्वनि कहा है। अतः प्रकट है कि जिसमें प्रतीयमान

---

१. ध्वन्यालोक पृष्ठ १२

२. शब्दाश्छन्दोऽभिधानार्था इतिहासाश्रयाः कथाः। काव्यालंकार।

३. "शब्दानामभिधानं अभिधाव्यापारो मुख्यो गुणवृत्तिश्च।
"विवरण–उद्भट।

४ "यतोलक्षणकृतामेव स केवलं न प्रसिद्धः लक्ष्येतु परिक्ष्यमाणे स एव सहृदयह्लादकारिकाव्यतत्वम्।" ध्वन्यालोक–पृष्ठ ५४.

५. इदं उत्तमतिशायिनीव्यंग्ये वाच्याद् ध्वनिबुधैः कथितः का० प्र० १।४

अर्थ हो, उस काव्य को ध्वनि कहना चाहिए, परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है; अपितु जहाँ पर प्रतीयमान अर्थ की प्रधानता हो तथा जहाँ शब्द अपने अर्थ को तथा अर्थ अपने आपको गौण करके प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति कराते हैं वहीं ध्वनि होगी[१] इस परिभाषा से तीन बातें प्रतीत हुई (१) शब्द और अर्थ दोनों का ध्वनि हो सकना (२) **मुख्यार्थ का अप्रधान होना** (३) प्रतीयमान अर्थ की मुख्यता। इस प्रकार ध्वनि में एक प्रतीयमान अर्थ की मुख्यता होती है, जिसे 'काव्यात्मा' कहते हैं। इस ध्वनि का बोध जिस वृत्ति द्वारा सम्भव है, उसे शब्द का व्यञ्जना व्यापार कहते हैं, अर्थात् "अभिधाशक्ति के द्वारा प्रतीत अर्थ सहृदय श्रोता की प्रतिभा की सहायता से एक नवीन अर्थ को द्योतित करता है, इस नवीन अर्थ को द्योतित करने वाली शक्ति व्यञ्जना है[२] इससे काव्य के वास्तविक सौन्दर्य का ज्ञान सहृदयों को व्यक्त होता रहता है। अतः काव्य में मुख्यार्थ के अतिरिक्त एक अन्य गुरुष अर्थ को व्यक्त करने वाला शब्द का व्यापार व्यञ्जना कहा जाता है। मम्मट ने संपूर्ण रूप में व्यञ्जना की कोई परिभाषा नहीं बताई है, अपि तु अभिधामूला[3] और लक्षणा मूला व्यञ्जना के स्वरूप का निर्धारण अलग-अलग किया है। आचार्य विश्वनाथ का लक्षण अधिक समुचित है। इसके अनुसार "अभिधा और लक्षणा द्वारा कार्य सम्पन्न करके शान्त हो जाने पर, जिस स्थान से किसी व्यापार द्वारा दूसरे अर्थ की प्रतीति होती है, वहाँ व्यञ्जना शक्ति ही मानी जायगी।[४]

ध्वनि और व्यंग—ध्वनि होने पर व्यंग्य अवश्य होगा अर्थात् ध्वनि महाविषय और व्यंग्य लघु विषय है। जहाँ व्यंग्य होगा वहाँ ध्वनि अवश्य होगी ऐसा नहीं कहा जा सकता और ध्वनि की स्थिति से व्यंग्य का होना अनिवार्य है। इस व्यग्य का बोध जिस शक्ति (शब्द की) द्वारा होता है, उसे व्यञ्जना-व्यापार कहते हैं इस प्रकार व्यंग्य की यह सत्ता सतत प्रवाहित होती रही है।

---

१. यथार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनी कृत स्वार्थौ व्यङ्क्तः काव्य विशेषः सध्वनिरिति सूरिभिः कथितः ध्वन्या० १/१३

२. तच्छ्वत्युपजनितार्थावगमपवित्रित प्रतिपद्य प्रतिभासहायार्थ द्योतन शक्तिर्व्यञ्जकत्वम्—काव्यानुशासन १/२० पृष्ठ ५६, आचार्य हेमचन्द सूरि।

३. का० प्र० द्वि० उ०—पृष्ठ ५८, ६३

४. विरतास्वभिधायास्तु यथार्थो बोध्यते परः। सा वृत्तिव्यञ्जनानाम् सा० द० परि० २ पृष्ठ ७३

वैयाकरणों के स्फोट बाद से आरम्भ करके आनन्दवर्धन अभिनवगुप्त और मम्मट जैसे विद्वानों का समर्थन ध्वनि को प्राप्त रहा हैं। इन्होंने ध्वनि को व्यक्त करने वाली उसकी हेतुभूत शक्ति व्यञ्जना का प्रतिपादन किया है। यों तो कुंतक, महिमभट्ट आदि विद्वानों ने भी प्रतीयमान अर्थ को स्वीकार किया है, परन्तु वे इसका बोध ध्वनिवादियों की व्यञ्जना शक्ति से न मानकर अभिधा आदि अन्य शक्तियों से मानते हैं, बाद के समर्थकों में विश्वनाथ, पण्डितराज जयदेव और अप्पय दीक्षित का भी नाम लिया जा सकता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि वैयाकरणों के स्फोट के बाद से ही इसकी प्रेरणा ग्रहण करके आलंकारिकों और साहित्यकारों ने 'व्यञ्जना' का समर्थन किया है, और इस नाम से उसकी सिद्धि की गयी है। इतने पर भी यह व्यञ्जना कुछ आचार्यों के विरोध का कारण रही है, व्यञ्जना शक्ति की स्थिति अवश्य रही है, परन्तु इस नाम से प्राचीन व्याकरण ग्रन्थों में इसके प्रयोग का प्रमाण नहीं मिलता है, नव्य व्याकरण में इसे एक स्वतंत्र शक्ति के रूप में मान लिया गया है, इनमें नागेश का नाम विशेष प्रसिद्ध है। प्राचीन व्याकरण में भर्तृहरि के वाक्यप्रदीप में 'स्फोट' रूप से ही व्यञ्जना का बीज है। कोण्डभट्ट ने भी अपने 'वैयाकरण-भूषणसागर' में इसी का समर्थन किया है। मम्मट का उल्लेख करते हुए इसका समर्थन भी किया गया है।[1]

नागेश—नव्य वैयाकरणों में नागेश ने व्यञ्जना का समर्थन किया है, इनके अनुसार किसी वाक्य में जब मुख्यार्थ ग्रहण के उपरान्त अन्य अर्थ की प्रतीति होती है तो जिस शक्ति के द्वारा यह अर्थ बुद्धिस्थ होता है, वही शक्ति, व्यञ्जना कही जाती है,[2] इस प्रकार व्यक्त है कि मुख्यार्थ की सम्बद्धता के साथ अभिधामूला और असम्बद्धता के साथ लक्षणामूला व्यञ्जना का संकेत कर दिया गया है।

पद, निपात उपसर्ग भी व्यंजक होते हैं। शब्द, अर्थ, पद, पदैक देह, वर्ण, रचना, चेष्टा आदि से भी इस व्यञ्जना का बोध होता है, वक्तृबोधव्य आदि के

---

१. उक्तं हि काव्यप्रकाशे, बुधैर्वैयाकरणैः प्रधानभूतस्फोटव्यंग्य व्यञ्जकशब्दस्य ध्वनिरिति व्यवहारः कृत इति।" वैयाकरण-भूषणसागर पृ० २८४

२. मुख्यार्थ ग्संबद्धासंबद्धसाधारणमुख्यार्थबाध ग्रहादिप्रयोज्यप्रसिद्धा प्रसिद्धार्थविषयकधीजनकत्वं व्यञ्जना—'वैयाकरण सिद्धान्त-मन्जूषा-नागेश

ज्ञान द्वारा व्यंग्यार्थ का बोध होता है, इसमें प्रतिभा के साहाय्य की आवश्यकता मानी गयी है। इस प्रकार जन्मान्तर के संस्कार का भी संकेत प्राप्त होता है।[1]

गदाधर—गदाधर ने अपने 'शक्तिवाद' में केवल अभिधा और लक्षणा का ही उल्लेख किया है। परन्तु जहाँ उनके टीकाकारों में कृष्णभट्ट, गौणी और व्यञ्जना का अन्तर्भाव लक्षणा में करते हैं।[2] वहीं पर माधवी टीका में व्यञ्जना को एक अलग शक्ति के रूप में स्वीकार किया गया है।[3] और कृष्ण-भट्ट के शक्ति विभाग का खण्डन किया गया है। परन्तु सिद्धान्तपक्षी इसको न मानते हुए व्यंग्यार्थ ज्ञान भी पदों की अभिधा शक्ति के ज्ञान से ही मानता है, अर्थात् वाच्यार्थ ज्ञान ही व्यंग्यार्थ का कारण है। अतः सिद्ध हुआ कि जब अभिधा से अलग किसी अन्य वृत्ति से प्रतीयमान अर्थ का बोध हो ही नहीं सकता है, और अभिधा ही सारे व्यापारों में रहती है, तो व्यञ्जना का अलग अस्तित्व मानना उचित नहीं है।[4] सहृदयों ने अभिधा के आधार पर व्यञ्जना को माना है, परन्तु नैयायिकों के अनुसार प्रतीयमान अर्थ का बोध व्यञ्जना नामक शक्ति से न होकर सहृदय के मन की कल्पना से होता है।[5]

इस प्रकार प्रकट हो गया कि व्यञ्जना के सम्बन्ध में दो विचारधारायें हैं। (१) नैयायिकों या मीमांसकों द्वारा उसे न मानना। (२) साहित्यिकों या आलंकारियों द्वारा उसकी सिद्धि। स्पष्ट है कि साहित्यिक का साक्षात्-सम्बन्ध भावजगत से है और शब्द भावों के प्रतीक बनकर ही हमारे समक्ष आते हैं। अतः शब्द द्वारा भावों का मानस बोध साहित्यिकों का अनिवार्य अंग है। उत्तम काव्य की कसौटी भी साहित्यिकों के मत से व्यञ्जना की

---

१. एवं च शक्तिरेतज्जन्म गृहीतैवार्थ बोधिका, व्यञ्जना तु जन्मान्तर गृहिता, इत्यपि शक्तिरस्या भेदकम्। वै० सि० मं---

२. एवं च गौणीव्यञ्जनयोः पृथग्वृत्तित्वमयुक्तं तयोर्लक्षणायामन्तर्भावसम्भवात् (शब्द शक्ति टीका: मञ्जूषा) पृ० १

३. एतद्विभाजनमनुपपन्नं, व्यञ्जनाया अतिरिक्तवृत्तित्वात्। शक्तिवाद माधवी टीका पृ० २

४. व्यञ्जनावृत्यत्रन्यशाब्दत्वेप्यस्य कार्यतावच्छेदककोटौ गौरवात्। माधवी टीका पृ० २.

५. मनसैव तादृशबोध स्वीकारात्। माधवी टीका पृ० ३

प्रधानता में ही है।[1] दार्शनिकों का काम तो केवल प्रमाण की सिद्धि में ही है। अतः उनका काम व्यञ्जना के बिना भी चल सकता है, परन्तु साहित्यिक के लिये इसकी अनिवार्यता स्वयं सिद्ध है। नैयायिकों के मत से श्लेष द्वारा जहाँ दूसरे अर्थ की प्रतीति होती है, उसका ज्ञान भी अभिधा द्वारा ही होता है। अतः प्रतीयमान अर्थ के लिये अभिधामूला व्यञ्जना की आवश्यकता नहीं है, परन्तु सहृदयों के अनुभवों से प्रतीयमान अर्थ की सिद्धि अपने आप ही हो जाती है। भेद केवल इतना ही है कि आलंकारिक इसकी प्रतीति व्यञ्जना नामक वृत्ति से मानता है, परन्तु नैयायिक प्रतीयमान अर्थ का बोध मन द्वारा मानता है और सहृदय के मन की कल्पना को ही प्रधान मानता है। "मनसैव तादृशबोध स्वीकारातम्।"[2] इस प्रकार मानस बोध का बहुत अधिक महत्व होता है।

साहित्यशास्त्रियों के अनुसार शब्द और अर्थ दोनों के गौण हो जाने पर प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति शब्द के जिस व्यापार द्वारा होती है, उसी को व्यञ्जना माना गया है, वस्तुतः इस शक्ति द्वारा एक गूढ़ अर्थ का ज्ञान सहृदय को हो जाता है। जो मुख्यार्थ और लक्ष्यार्थ में ही छिपा रहता है। वह अर्थ सहृदय के अन्वेषण का विषय होता है। इस प्रकार अभिधा और लक्षणा द्वारा जिस अर्थ का प्रकाशन नहीं हो पाता है उसी का प्रकाशन व्यञ्जना द्वारा होता है। हेमचन्द सूरि ने कहा है कि "अभिधाशक्ति के द्वारा प्रतीत अर्थ सहृदय श्रोता की प्रतिभा की सहायता से एक नवीन अर्थ को द्योतित करता है, इसी नवीन अर्थ को बताने वाली शक्ति व्यञ्जना है।[3] इस परिभाषा से कई बातें ज्ञात होती हैं :—(१) अभिधाशक्ति का साहाय्य (२) सहृदय की प्रतिभा का साहाय्य (३) वाक्य भिन्न एक नवीन अर्थ की अभिव्यक्ति (४) इसी नवीन अर्थ को द्योतित करने वाली शक्ति को व्यञ्जना कहते हैं। (५) वाच्य अर्थ व्यंग्यार्थ प्रतीति का साधन हुआ।

व्यञ्जना की स्थापना करने वाले मम्मट के काव्य प्रकाश का अध्ययन करने से मुझे ज्ञात हुआ कि इन्होंने व्यञ्जना के स्वरूप का निर्धारण कहीं पर

---

१. "इदमुत्तममतिशायिनि व्यंग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधैः कथितः;—"
काव्य प्रकाश प्र० उ०।

२. माधवी टीका पृ० ३

३. तच्छक्त्युपजनितार्थावगमपवित्रितप्रतिपत्तृप्रतिभा सहायार्थद्योतनशक्तिर्व्यञ्जकत्वम्। काव्यानुशासन १/२० पृ० ५९

भी नहीं किया है। यह बड़े आश्चर्य की बात है कि समास शैली में अपने ग्रन्थ का निर्माण करने वाला आचार्य, जो सभी व्यञ्जना विरोधी मतों का खण्डन एवं निराकरण करने में प्रबलतम तर्कों को दे सकने में समर्थ हो सका है, उसी की दृष्टि से व्यञ्जना की परिभाषा कैसे छूट गयी ? उन्होंने व्यञ्जना के स्वरूप का निर्धारण न करते हुए केवल शाब्दी-व्यंञ्जना के भेदों का ही वर्णन किया है और इस सम्बन्ध में निम्नलिखित बातें बतलाई गयी हैं :—

(१) अभिधामूला शाब्दी व्यञ्जना में संयोगादि नियामक हेतुओं की महत्ता होती है।

(२ इनके द्वारा मुख्यार्थ के एक अर्थ में नियन्त्रित हो जाने पर ही एक दूसरे अमुख्यार्थ अर्थ की प्रतीति होती है।

(३) लक्षणा में प्रयोजन का बोध कराने में व्यञ्जना व्यापार ही रहता है, शब्द की अन्य वृत्ति द्वारा यह कार्य सम्भव नहीं है।[1]

(४) व्यञ्जनावृत्ति, अभिधा आदि से पूर्णतः भिन्न एक दूसरी ही वृत्ति है और इसका समावेश अन्य वृत्तियों में नहीं हो सकता है।

(५) कोई भी शक्ति अभिधा, व्यञ्जना या तात्पर्या एक से अधिक अर्थों की प्रतीति कराने में समर्थ नहीं हो सकती है, क्योंकि उसकी शक्ति एक अर्थ का बोधन करा देने के उपरान्त क्षीण हो जाती है अतः दूसरे या तीसरे अर्थ का बोधन कराने के लिये अन्य शक्तियों को मानना ही पड़ता है।

(६) व्यंग्यार्थ की प्रतीति वाच्यार्थ के बाद अथवा लक्ष्यार्थ के बाद भी हो सकती है। यह आवश्यक नहीं कि लक्षणा के बाद ही व्यंग्यार्थ की प्रतीति हो।

(७) व्यञ्जना के द्वारा अर्थ का बोध होने में शब्द और अर्थ दोनों का साहचर्य बना रहता है। अथात् शाब्दी व्यञ्जना में अर्थ की सहकारिता और आर्थी व्यञ्जना में शब्द की सहकारिता बनी रहती है।

(८) व्यञ्जना शब्द की ही शक्ति है, अर्थ की नहीं; फिर भी जिस काव्य में शब्द प्रमाण से संवेद्य कोई अर्थ पुनः किसी अन्य अर्थ को व्यञ्जित करता है, वहाँ अर्थ व्यञ्जक है और शब्द उसका केवल सहायक मात्र है।[2] अर्थात् शब्द से प्रतीत होने वाला अर्थ ही व्यञ्जक होगा।

---

१. का० प्र० द्वि० उ० 'यस्य प्रतीति...................."

२. का० प्र० तृ० उ– ३/२३ पृ ८९।

(९) व्यञ्जना शक्ति में प्रकरण का बहुत अधिक महत्व होता है।

इन सभी बातों में व्यञ्जना की परिभाषा तो कहीं भी नहीं है। परन्तु उसके स्वरूप का ज्ञान अवश्य हो जाता है कि अभिधा और लक्षणा के अतिरिक्त व्यंग्यार्थ रूप प्रयोजन का बोध शब्द की जिस अन्य शक्ति से होता है, शब्द के उस व्यापार को व्यञ्जना व्यापार कहते हैं, परन्तु इसे शास्त्रीय परिभाषा की संज्ञा नहीं दी जा सकती है; क्योंकि स्पष्ट शब्दों में व्यञ्जना के रूप का निर्धारण मम्मट के काव्य प्रकाश में नहीं मिलता है, फिर भी उसका संकेत अवश्य ही प्राप्त हो जाता है, जिससे उसके स्वरूप का ज्ञान होता रहता है।

व्यंजना-भेद

व्यंजना का स्वरूप निर्धारित हो जाने के उपरान्त उसके भेदों का प्रश्न हमारे समक्ष आता है। आचार्य मम्मट के काव्य प्रकाश में इसके प्रमुख दो भेदों का ज्ञान होता है। (१) शाब्दी-व्यंजना और (२) आर्थी-व्यंजना। क्रमशः इन दोनों पर विचार किया जायगा।

शाब्दी-व्यंजना शाब्दी-व्यंजना के दो भेद किये गये हैं। इन दोनों में प्रथम शब्द का आधार ग्रहण करता है और दूसरे का रूप लक्षक शब्द पर निर्भर रहता है। वाच्यार्थ को बताने में शब्द की अभिधा शक्ति एवं लक्ष्यार्थ को बताने में लक्षणा शक्ति अपना कार्य करती है। इन्हीं दो शक्तियों के आधार पर शाब्दी-व्यंजना के दो भेद अभिधामूला और लक्षणामूला शाब्दी-व्यंजना किया गया है।

अभिधामूला शाब्दी-व्यंजना – व्यंजना के इस भेद में सदैव ही दो अर्थ वाले शब्द का प्रयोग होता है अर्थात् प्रयुक्त शब्दों में श्लेष का होना अनिवार्य है। इसी श्लेष के आधार पर दो अर्थ अपने आप प्रकट हो जाते हैं। इन दो अर्थों में एक अर्थ कवि या वक्ता का अभिप्रेत होता है और वही प्रस्तुत अथवा प्रकरण सम्मत अर्थ माना जाता है। यहाँ पर संयोग, विप्रयोगादि नियामक हेतुओं के कारण अभिधा एक अर्थ में नियन्त्रित हो जाती है और इसी नियन्त्रित अर्थ को वाच्यार्थ कहा जाता है। अभिधा के एकार्थ में नियन्त्रित हो जाने के उपरान्त भी शब्द के द्व्यर्थक होने के कारण एक अन्य अर्थ की प्रतीति भी सहृदय विज्ञ को होती रहती है। यह दूसरा अर्थ अप्राकरणिक अथवा प्रस्तुत प्रसंग के अनुकूल न होने से कवि का अभिप्रेत अर्थ नहीं होता है, फिर भी उसकी प्रतीति होती रहती है। इस प्रकार प्रकट हो जाता है कि संयोगादि नियामक हेतुओं के द्वारा अभिधा के एकार्थ में नियन्त्रित हो जाने पर भी अप्राकरणिक जिस दूसरे अर्थ का ज्ञान होता रहता है, उसमें शब्द की अभिधा शक्ति काम नहीं कर सकती है, क्योंकि उसका एकार्थ में नियन्त्रण हो चुका है। अतः यहाँ पर अभिधामूला शाब्दी-व्यंजना

का ही व्यापार माना जायगा। आचार्य मम्मट ने भी कहा है कि "अनेकार्थक शब्द के वाचकत्व के एक अर्थ में संयोगादि नियामक हेतुओं द्वारा नियन्त्रित हो जाने पर भी जब दूसरे अर्थ का ज्ञान होता है, तो उसमें व्यंजना का ही व्यापार माना जाता है।[1] इस प्रकार व्यक्त हो जाता है कि व्यंजना के इस भेद में मुख्यार्थ से अतिरिक्त एक अमुख्यार्थ का होना आवश्यक है और इसमें जब अभिधा और लक्षणा अपना कार्य समाप्त करके शान्त हो जाती हैं, तभी व्यंजना शक्ति का व्यापार होता है।

यहाँ यह समझ लेना आवश्यक है कि किसी भी शक्ति द्वारा एक से अधिक अर्थों का ज्ञान नहीं हो सकता है। अत: एक ही शब्द द्वारा दो या अधिक अर्थों के ज्ञान के लिए व्यंजना जैसी शक्ति को मानना पड़ता है। इसमें वाच्यार्थ के ठीक बाद अभिधामूला शाब्दी-व्यंजना से व्यंग्यार्थ का बोध हो जाता है। इसमें अभिधा और व्यंजना केवल दो शक्तियों का ही व्यापार रहता है।

व्यंजना द्वारा इस व्यंग्यार्थ के बोध के लिए शाब्दी और आर्थी दो भेद मान लिए जाने पर एक प्रश्न यह उपस्थित होता है कि व्यंजना तो शब्द की शक्ति है तो उसका भेद केवल शाब्दी ही होना चाहिए, आर्थी नहीं? यदि आर्थी भेद मानें, तो इसे शब्द की शक्ति नहीं कहेंगे, अपितु अर्थ की ही शक्ति उसे माननी चाहिए। इस शंका का समाधान आचार्य मम्मट ने करते हुए कहा है कि "शब्द प्रमाण से गम्य अर्थ जहाँ अर्थान्तर को व्यक्त करता है, वहाँ अर्थ का व्यंजकत्व होते हुए भी शब्द का सहकारित्व रहता है[2] और इसी प्रकार शब्द के व्यंजकत्व के संग अर्थ का सहकारित्व रहता है। भाव यह है कि जहाँ अर्थ-व्यंजक होता है, वहाँ शब्द का सहकारित्व और जहाँ शब्द-व्यंजक हो वहाँ अर्थ का सहकारित्व बना रहता है। इस प्रकार शाब्दी या आर्थी किसी भी भेद में शब्द और अर्थ दोनों का सहकारित्व बना रहता है।

अभी बताया गया है कि अभिधामूला शाब्दी-व्यंजना में शब्द का द्व्यर्थक होना आवश्यक है, परन्तु लक्षणामूला शाब्दी व्यंजना में उसका द्व्यर्थक

---

१. अनेकार्थस्य शब्दस्य वाचकत्वे नियन्त्रिते।
संयोगाद्यैरवाच्यार्थधीकृद् व्यापृतिरञ्जनम्। का० प्रकाश

२. शब्दप्रमाणवेद्योऽर्थो व्यनक्त्यर्थान्तरं यतः।
अर्थस्य व्यंजकत्वे तत् शब्दस्य सहकारिता॥
—का० प्र० तीसरा उल्लास

होना आवश्यक नहीं है। अभिधामूला के दो अर्थों में एक वाच्य अर्थ होता है और दूसरा व्यंग्य अर्थ होता है। इसमें शब्द का अधिक महत्व होने के कारण ही इसे शाब्दी-व्यंजना कहा गया है। अभिधामूला शाब्दी व्यंजना में कुछ आवश्यक तत्व होते हैं, उन्हें भी समझ लेना समीचीन होगा।

तत्व— व्यंजना के अभिधामूला शाब्दी-भेद के तीन आवश्यक तत्व हैं। (१) शब्द को अनेकार्थक होना चाहिए। (२) उस शब्द की अभिधाशक्ति प्रकरणादि के कारण एक अर्थ में नियन्त्रित हो जानी चाहिए। (३) उसके नियन्त्रित हो जाने पर भी सहृदयों को अपनी प्रतिभा के कारण एक अन्य अर्थ-अप्राकरणिक अर्थ का ज्ञान होना चाहिए। यदि दोनों ही अर्थ प्रकरण सम्मत हो जाय, तो वहाँ व्यंजना न होकर श्लेष अलंकार माना जाता है और यह व्यंग्य रूप न होकर वाच्यरूप ही होगा। ध्यान देने की बात यह है कि अभिधामूला शाब्दी-व्यंजना में एक अर्थ प्राकरणिक और अन्य अर्थ अप्राकरणिक होना चाहिए। मम्मट द्वारा दिये गये उदाहरण से इसका स्पष्टीकरण किया जायगा।

इस उदाहरण[1] में अर्थ स्पष्ट दीख पड़ते हैं। इनमें पहला अर्थ-राजा-परक-प्रकरण सम्मत अर्थ है और इसी अर्थ को व्यक्त करना कवि का अभिप्रेत अर्थ है। यह अर्थ शब्द की अभिधाशक्ति द्वारा हमें प्राप्त हो जाता है। अभिधा द्वारा इस राजा परक अर्थ का ज्ञान हो जाने पर भी एक दूसरा अप्राकरणिक अर्थ हाथी-परक-प्रतीत होता है। इस अर्थ का बताना कवि का उद्देश्य नहीं है, फिर भी शब्दों के श्लेषात्मक होने से एक दूसरे अर्थ का ग्रहण अपने आप हो जाता है। यहाँ पर अभिधाशक्ति द्वारा राजा परक अर्थ में जब प्रयुक्त शब्दों का नियन्त्रण हो जाता है, तो हस्ति-परक दूसरे अर्थ का ज्ञान पुनः इसी शक्ति द्वारा सम्भव नहीं हो सकता है। साथ ही यहाँ श्लेष भी नहीं माना जा सकता है, क्योंकि श्लेष में दोनों ही अर्थ प्राकरणिक होते हैं। इस उदाहरण में प्रथम अर्थ प्राकरणिक और द्वितीय अर्थ अप्राकरणिक है। अतः इस द्वितीय अर्थ को बताने में निस्सन्देह शब्द की अभिधाशक्ति न होकर व्यंजना शक्ति ही होगी। इन दोनों अर्थों का स्पष्टीकरण निम्नलिखित रूप में किया जा सकता है।

राजापरक-अर्थ—"वह राजा भद्र आत्मा वाला था, उस पर आक्रमण करना कठिन था। विशाल शरीर वाला उन्नत वंश में उत्पन्न तथा उसने वाणों

---

१. भद्रात्मनो दुरधिरोहतनोर्विशालवंशोन्नतेः कृत शिलीमुखसंग्रहस्य।
यस्यानुपप्लुतगते परवारणस्य, दानाम्बुसेक सुभगः सततं करोऽभूत्॥

का संग्रह अथवा अभ्यास कर रखा था। जिसकी गति अप्रतिहत थी। शत्रुओं को रोकने वाला था। उसका हाथ दान के जल से सदैव अभिषिक्त रहता था।"

'राजापरक' इसी अर्थ को बताना कवि का उद्देश्य है अर्थात् राज-विषयक रति का वर्णन ही कवि करना चाहता है और यही प्राकरणिक अर्थ भी है, फिर भी एक दूसरे हस्तिपरक अर्थ का भी जो अप्राकरणिक है—ज्ञान होता है।

हस्तिपरक-अर्थ—वह हाथी अच्छी जाति का था, उस पर चढ़ने में कठिनाई होती थी। शरीर विशाल एवं बाँस के समान उन्नत था। उसने भ्रमरों का संग्रह कर रखा था अर्थात् भौंरे उसके मस्तक पर मंडराया करते थे। उसकी मन्द-मन्थर गति थी तथा उसका सूँड सदैव मद-जल के सेक से सुशोभित होता रहता था।

इस उदाहरण से प्राप्त दोनों ही अर्थों में सार्थकता प्रतीत होती है, परन्तु 'भद्रात्मा, दुरधिरोह, वंशोन्नते, कृत शिलीमुख संग्रहस्य' आदि प्रयुक्त शब्दों का नियन्त्रण राजापरक एकार्थ में हो जाता है, फिर भी हस्तिपरक दूसरे अर्थ की प्रतीति भी होती रहती है। इसी से यहाँ व्यंजना का व्यापार माना जाता है।

प्रकरण की महत्ता—उपर्युक्त पंक्तियों में अभिधामूला व्यंजना की द्व्यर्थकता का समर्थन किया गया है। साथ ही प्राकरणिक एवं अप्राकरणिक अर्थ का भी संकेत किया गया है। यहाँ यह प्रश्न हैं कि व्यंजना शक्ति द्वारा अर्थ का ज्ञान होने में क्या प्रकरण का भी महत्व है? विचार करने से ज्ञात होता है कि वक्ता, बौद्धा, देश, काल, काकु, वाक्य, वाच्य, अन्य सन्निधि आदि का अत्यधिक महत्व रहता है और व्यंजना बोध में इनकी सहायता अनिवार्य मानी जाती है। आचार्य मम्मट ने भी इसका समर्थन आर्थी-व्यंजना के प्रकरण में किया है[1] और इस सम्बन्ध में एक सम्पूर्ण उल्लास ही अलग से लिखा गया है।

इस प्रकार सिद्ध हो जाता है कि प्रकरण का ज्ञान होने पर ही सहृदय जब उससे सम्मत अभिधाशक्ति द्वारा मुख्यार्थ की संगति बैठा लेता है, तभी उसे व्यंग्यार्थ का भी ज्ञान होता है।

---

१. वक्तृ बोधव्य-काकूनां वाक्यवाच्यान्न सन्निधे,
प्रस्ताव देश कालादेर्वैशिष्ट्यात् प्रतिभाजुषाम्।
योऽर्थस्यान्यर्थधीर्हेतुः व्यापारो व्यक्तिरेवसा। काव्य प्रकाश

आचार्य मम्मट ने वक्तृ बोधव्य आदि का वर्णन आर्थी व्यञ्जना के प्रसंग में किया है। विश्वनाथ ने भी इसका समर्थन किया है, तो क्या शाब्दी-व्यञ्जना में इसकी महत्ता नहीं है ? प्रदीप टीका कार गोविन्द ठाकुर ने बताया है कि आर्थी व्यञ्जना में तो इसकी अपेक्षा रहती ही है, परन्तु शाब्दी व्यञ्जना में भी कभी-कभी इसकी आवश्यकता प्रतीत होती है। श्री भोलाशंकर व्यास ने अपने शोध-ग्रन्थ में लिखा है कि, "हमारे मतानुसार किसी भी प्रकार की व्यंग्यार्थ प्रतीति में प्रकरण की महत्ता माननी ही पड़ेगी। व्यंग्यार्थ प्रतीति सहृदय की प्रतिभा के कारण होती है। इस प्रतिभा को उद्बुद्ध करने वाले प्रकरण ही हैं। अतः प्रकरण ज्ञान के बाद ही व्यंग्यार्थ प्रतीति हो सकती है।"[१]

आचार्य मम्मट ने भी इस प्रकरण को स्वीकार किया है, परन्तु स्पष्ट शब्दों में इसका उल्लेख न करके उन्होंने केवल इसका संकेत मात्र कर दिया है। अभिधामूलाशाब्दी व्यञ्जना के प्रसंग में उन्होंने बताया है कि अभिधा का नियन्त्रण प्रकरणादि के कारण वाच्यार्थ में हो जाता है। अतः व्यञ्जना की प्रतीति में प्रकरणादि सहायक होते हैं और शाब्दी व्यञ्जना में भी वे प्रकरण का महत्व मानते हैं। इसी का उल्लेख उन्होंने किया भी है[२] और इन्हें ही अभिधामूला व्यञ्जना के नियामक हेतु कहते हैं।

नियामक हेतु—अनेक अर्थ वाले किसी शब्द का एक निश्चित अर्थ दूसरे शब्दों के संयोग से होता है। जैसे 'सशंखचक्रो हरि।" इसमें हरि के इन्द्र, सिंह, बन्दर, घोड़ा आदि अनेक अर्थों में से शंख के संयोग से इसका अर्थ विष्णु से ही लगाया जाता है।

(२) **विप्रयोग**—यह संयोग का विलोम है। जैसे अशंखचक्रो हरि। यहाँ शंख के वियोग से भी हरि (विष्णु) का ही अर्थ मान्य होगा।

(३) **साहचर्य**—कभी-कभी दो वस्तुओं के साथ-साथ रहने की पर-

---

१. ध्वनि सम्प्रदाय और उसके बाद। भोलाशंकर व्यास पृ० १८९

२. संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता।
अर्थः प्रकरणं लिंग शब्दस्यान्यस्य संन्निधिः।
सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः।
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेष स्मृतिहेतवः। काव्यप्रकाश दूसरा उल्लास

म्परा से भी किसी शब्द का एक ही अर्थ में नियन्त्रण हो जाता है। जैसे "राम लक्ष्मणौ" में राम का अर्थ दाशरथि राम ही है।

(४) **विरोध**—एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति के विरोध को समझ कर प्रकरणादि के द्वारा किसी शब्द का एक निश्चित अर्थ ग्रहण कर लेते हैं। "रामार्जुन गतिस्तयोः" में राम के विरोध के कारण अर्जुन का अर्थ कार्तवीर्य से लगाया जायगा और इसी विरोध के कारण राम का अर्थ परशुराम होगा।

(६) **अर्थ**—जहाँ अनेकार्थक शब्द को एक अर्थ में नियन्त्रित करने वाला दूसरा अर्थ हो, तो वहाँ अर्थ ही नियामक हेतु होता है। "स्थाणुं भव भवच्छिदे" में स्थाणु का अर्थ ठूँठ न होकर शिव से लगाया जायगा, क्योंकि संसार का दुःख मिटाने का ठीक अर्थ शिव से ही लगेगा ठूँठ से नहीं।

प्रकरण—जहाँ प्रकरण या प्रसंग के आधार पर अर्थ का निश्चय होता है। जैसे "सैन्धवमानय" का रसोईघर में अर्थ नमक और बाहर जाने को तैयार व्यक्ति द्वारा कहे जाने पर 'घोड़ा' होगा।

(७) **लिंग**—जब किसी चिन्ह को देखकर अनेकार्थवाची शब्द का कोई विशेष अर्थ लिया जाता हो, तो वहाँ लिंग ही उसका नियामक हेतु होता है। जैसे 'कुपितो मकरध्वज' में क्रुद्ध होना चिन्ह है। इससे 'कामदेव' अर्थ ही होगा समुद्र या औषधि विशेष नहीं।

(८) **सामर्थ्य** जब एक शब्द के सामर्थ्य के आधार पर एक विशिष्ट अर्थ लिया जाता है, तो भी इसे नियामक कहते हैं, जैसे 'मधुना मत्तः कोकिल" वाक्य में मधु (बसंत) में ही कोकिल को मत्त करने का सामर्थ्य है। मधु के अन्य अर्थ, पराग, शराब, शहद आदि भी होते हैं।

(९) **अन्य शब्द की सन्निधि**—जब एक शब्द के सांनिध्य पर अर्थ का नियमन होता हो तो भी वह नियामक हेतु हो जाता है। जैसे 'पुराराति' में त्रिपुरा के शत्रु रूप में महादेव का ही अर्थ ग्रहण होगा।

(१०) **औचित्य**—के आधार पर अर्थ का नियमन होता है। जैसे 'अर्कः भाति' में अर्क का अर्थ सूर्य ही होगा, क्योंकि वही दिन में चमकता है।

(११) **देश**—के आधार पर भी अर्थ का नियन्त्रण होता है "भात्यत्र परमेश्वरः" वाक्य का प्रयोग राजधानी में करने का इसका अर्थ राजा से लगाया जायगा। अन्य स्थानों पर परमेश्वर का अर्थ 'ईश्वर' से होगा।

(१२) **काल**—के आधार पर रात्रि में प्रयुक्त "चित्रभानुर्विभाति" में चित्रभानु का अर्थ अग्नि, और दिन में प्रयुक्त होने पर सूर्य होगा।

(१३) **व्यक्ति**— में लिंग को नियामक हेतु मानते हैं। जैसे मित्रं भाति में मित्रं नपुंसक लिंग है। अतः इसका अर्थ सुहृद् होगा और "मित्रो भाति" वाक्य में मित्र के पुलिंग होने से इसका अर्थ सूर्य होगा।

(१४) **स्वर**—द्वारा काकु के प्रयोग से अर्थ बदल जाता है। स्वरों का महत्व वेद में ही अधिक माना गया है और इसका उदाहरण "इन्द्रशत्रु" दिया गया है।

(१५) **चेष्टा**—से हस्तादि के संकेत का अर्थ ग्रहण होता है अर्थात् अभिनय से भी अर्थ एक ही में नियन्त्रित हो जाते है।

इस प्रकार अनेकार्थक शब्दों को एकार्थ में नियन्त्रित करने के उपर्युक्त पन्द्रह नियामक हेतु कहे गये है और इनका बड़ा महत्व होता है। इसी प्रकार व्यञ्जनादि-बोध के लिए अभिधा नामक शब्द शक्ति का भी अधिक महत्व माना गया है।

लक्षणामूला-शाब्दी-व्यंजना—पहले बताया जा चुका है कि लक्षक शब्द के आधार पर होने वाले व्यञ्जना को लक्षणामूला कहते हैं। इसमें किसी प्रयोजन विशेष की प्रतीति के लिये ही लाक्षणिक पद का प्रयोग किया जाता है। यह दो प्रकार का हो सकता है। कभी तो यह गूढ़-व्यंग्या और कभी अगूढ़-व्यंग्या होता है। गूढ-व्यंग्या का निम्नलिखित उदाहरण आचार्य मम्मट ने दिया है—

> मुखं विकसित स्मितं वशित वक्रिम प्रेक्षितं
> समुच्छलितविभ्रमा गतिरपास्त संस्था मतिः।
> उरो मुकिलितस्तनं जघनमंशबन्धोद्धुरं
> बतेन्दु बदनातनौ तरुणिमोद्गमो मोदते ॥

इसमें स्मित का विकसित होना, प्रेक्षण में वशीकरण होना, विभ्रम का छलकना आदि प्रयोगों में अन्वयानुपपत्ति है। अतः सहृदय ही इसके वास्तविक अर्थ विकास में उन्मुक्तता, वशीकरण में स्वभाव-सिद्धता, समुच्छलन में प्रचुरता—आदि का बोध करते हैं। यह अर्थ गूढ़ है और जल्दी म स फ में नहीं आता है। इसी से इसे गूढ़ व्यंग्या लक्षणामूला शाब्दी व्यञ्जना कहते हैं। यहाँ पर अन्वयानुपपत्ति से प्रयुक्त शब्द अर्थान्तर में लक्षणा द्वारा संक्रमित हो जाते हैं।

अगूढ़ व्यंग्या—इसमें व्यंग्यार्थ का ज्ञान बिना किसी परिचय के ही सहृदयों को हो जाता है अर्थात् इसमें गूढ़ार्थ न होने से अगूढ़ स्पष्ट होता है। यथा—

"श्री परिचयाज्जडा अपि भवन्त्यभिज्ञा विदग्धचरितानाम् ।
उपदिशति कामिनीनां यौवनमद एव ललितानि ।।"

इसमें प्रयुक्त 'उपदिशति' पद यौवनमद के साथ उपदेश कार्य का वहन करने में असमर्थ होने से अर्थान्तर का बोध करता है। इससे 'आविष्कार' अथवा 'प्रकाशन' रूप अभिप्राय लक्षित हो जाता है।

लक्षणामूला शाब्दी-व्यंजना में भी प्रकरण का महत्व होता है। दिये गये उदाहरण में वक्ता और बोद्धादि का महत्व अवश्य है। यहाँ पर जो व्यक्ति प्रकरण के ज्ञान से युक्त है, वही व्यंग्यार्थ का ज्ञान प्राप्त कर सकता है तथा लक्षणामूला में प्रयोजन रूप व्यंग्य, शब्द से ही निकलता है। शब्द का महत्व यहाँ पर भी रहता है और इस शब्द से ही अर्थ का ज्ञान होता है।

आर्थी व्यंजना—व्यञ्जना युक्त शब्द या अर्थ व्यञ्जक कहा जाता है और इससे व्यक्त होने वाले अर्थ को व्यंग्यार्थ कहते हैं। इस व्यंग्यार्थ का ज्ञान कराने की शक्ति शब्द और अर्थ दोनों में रहती है। इसी से शब्द और अर्थ दोनों के ध्वनित्व को स्वीकार किया गया है। इसमें जब शब्द के आधार से व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है, तो शाब्दी-व्यञ्जना और जब अर्थ के आधार पर व्यंग्यार्थ का बोध होता है, तो आर्थी-व्यञ्जना कहा जाता है। कुछ लोगों ने तो केवल आर्थी-व्यञ्जना को ही स्वीकार किया है और शाब्दी व्यञ्जना को नहीं माना है।

ध्वनिकार ने बताया है कि आर्थी-व्यञ्जना में भी शब्द का सहकारित्व अवश्य रहता है मम्मट के अनुसार आर्थी-व्यञ्जना में व्यंग्यार्थ रूप दूसरे अर्थ की प्रतीति का साधन भी कोई न कोई विशेष शब्द ही होता है। इस प्रकार आर्थी-व्यञ्जना में शब्द का सहकारित्व बना रहता है।[1] ध्वनिवादी ने भी जो पद्य, पद्यांश आदि का भेदोपभेद किया है, इससे भी शब्द की महत्ता स्पष्ट हो जाती है। आचार्य विश्वनाथ ने भी इस सहकारित्व को स्वीकार किया है।[2]

---

१. शब्दप्रमाणवेद्योऽर्थो व्यनक्त्यर्थान्तरं यतः। अर्थस्य व्यञ्जकत्वेऽपि शब्दस्य सहकारिता। काव्यप्रकाश ३/२३

२. शब्दबोध्यो व्यनक्त्यर्थः शब्दोऽप्यर्थान्तराश्रयः। एकस्य व्यञ्जकत्वे स्यादनस्य सहकारिता। साहित्य दर्पण उ० २
यत्सोऽर्थान्तरयुक्तथा। अर्थोऽपि व्यञ्जकस्तत्र सहकारितया मतः। काव्यप्रकाश २/२०

अतः आर्थी-व्यञ्जना में शब्द की अवहेलना नहीं की जा सकती है। फिर भी शब्द की अपेक्षा इसमें अर्थ की प्रधानता अधिक रहती है। विश्वनाथ के अनुसार "व्यञ्जना में शब्द और अर्थ में से एक के व्यञ्जक होने पर दूसरा भी सहकारी व्यञ्जक अवश्य होता है। शाब्दी में दूसरे अर्थ का आश्रय लेकर ही शब्द व्यंग्यार्थ प्रतीति कराता है; आर्थी में व्यंग्यार्थ प्रतीति कराने वाला व्यंजक अर्थ भी किसी शब्द से ही प्रतीत होता है। इस तरह दोनों दशाओं में दोनों ही एक दूसरे के सहायक होते हैं।"

विभाजन के आधार—आर्थी-व्यञ्जना में व्यंग्यार्थ का बोध कराने में अर्थ की ही महत्ता रहती है। अर्थ तीन प्रकार के—वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य कहे जाते हैं। आचार्य मम्मट ने इन तीनों प्रकार के अर्थों में व्यञ्जना वृत्ति को स्वीकार किया है और कहा है कि प्रायः सारे अर्थों में व्यञ्जकत्व पाया जाता है।[1] इन तीन प्रकार के अर्थों में व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है। इस दृष्टि से आर्थी-व्यञ्जना के तीन भेद हो जाते हैं अर्थात् एक अर्थ से व्यंग्यार्थ रूप दूसरे अर्थ का ज्ञान होने में उसके तीन भेद किये जा सकते हैं।

(१) वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ की प्रतीति (वाच्य सम्भवा व्यंग्यार्थ)

(२) लक्ष्यार्थ से व्यंग्यार्थ की प्रतीति (लक्ष्य सम्भवा व्यंग्यार्थ)

(३) एक व्यंग्यार्थ से दूसरे व्यंग्यार्थ की प्रतीति (व्यंग्य सम्भवा व्यंग्यार्थ)

क्रमशः इन तीनों का वर्णन किया जायगा।

वाच्यार्थ-सम्भवा आर्थी-व्यञ्जना—किसी काव्य में प्रयुक्त शब्दों से जब साक्षात् संकेतित अर्थ का ज्ञान होता है, तो उसे वाच्यार्थ कहते हैं और वही मुख्य अर्थ भी कहा जाता है। इस मुख्यार्थ से जहाँ अन्य अर्थ की प्रतीति होती हो, वहाँ वाच्य-सम्भवा आर्थी-व्यञ्जना कही जाती है यथा—

मार्तगृहोपकरणमद्य खलु नास्तीति साधितं त्वया।
तद् भण किं करणीमेवमेव न वासरो स्थायी॥

इस उद्धरण से साधारण रूप में सर्वप्रथम मुख्यार्थ की प्रतीति होती है। इसे ही वाच्यार्थ कहते हैं। इस वाच्यार्थ के ज्ञान के साथ वक्त्री आदि के प्रकरण से एक दूसरे अर्थ का और ज्ञान हो जाता है। सामान्य अर्थ तो यह है कि

---

१. सर्वेषां प्रायशोऽर्थानां व्यञ्जकत्वमपीष्यते। काव्यप्रकाश २/७

"हे माता, आपने पहले ही कह दिया है कि गृह के उपकरण नहीं हैं। अतः क्या करना चाहिए ? कहो क्योंकि समय तो ऐसा ही न रहेगा।" इस अर्थ ज्ञान के उपरान्त दूसरा अर्थ यह प्रतीत होता है कि बोलने वाली 'वह स्त्री स्वैर-विहार करना चाहती है।' इस व्यंग्य वस्तु की प्रतीति व्यंग्यार्थ रूप में ही हो जाती है, जो वाच्यार्थ की प्रतीति के उपरान्त ही होती है। इसी से इसे वाच्य-सम्भवा आर्थी-व्यञ्जना कहते हैं।

लक्ष्य-सम्भवा-आर्थी-व्यंजना—इसमें सर्वप्रथम प्रयुक्त शब्दों के द्वारा साक्षात् संकेतित अर्थ का ज्ञान होता है, परन्तु इस अर्थ की संगति ठीक नहीं बैठती है और मुख्यार्थ का बाध हो जाता है। अतः इसी वाच्य अर्थ से सम्बन्धित लक्ष्यार्थ रूप दूसरे अर्थ की प्रतीति हो जाती है। इस स्थान पर प्रयोजनवती लक्षणा का भेद माना जाता है और इस प्रयोजन का बोध कराना ही उद्देश्य होता है। प्रयोजन रूप इस लक्ष्यार्थ का ज्ञान शब्द की व्यञ्जना नामक शक्ति से होता है। इस लक्ष्यार्थ के प्रयोजन रूप व्यंग्यार्थ के साथ ही एक अन्य व्यंग्यार्थ का भी ज्ञान होता है। इस प्रकार लक्ष्य सम्भवा में तीन अर्थों की प्रतीति होती है। प्रथम क्षण में मुख्यार्थ की प्रतीति, द्वितीय क्षण में मुख्यार्थ बाध होने पर तत्सम्बन्ध से लक्ष्यार्थ का ज्ञान और तृतीय क्षण में प्रकरण आदि के द्वारा वक्ता, बोद्धा आदि के ज्ञान के साथ व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है। यथा :—

साधयन्ती सखि ! सुभगं क्षणे-क्षणे दूनासि मत्कृते।
सद्भाव स्नेह करणीय सदृशकं तावद्विरचित त्वया॥

इस उद्धरण का मुख्यार्थ यह है कि "हे सखि, तू मे प्रिय की साधना करती हुई मेरे लिये क्षण-क्षण में दुःखी होती हो। सद्भाव तथा स्नेह के युक्त तूझे जैसा करना चाहिये था, तूने वैसा ही आचरण मेरे संग किया है।"

लक्ष्यार्थ—वाच्यार्थ का ज्ञान हो जाने के उपरान्त लक्ष्यार्थ रूप दूसरे अर्थ का ज्ञान हो जाता है कि "हे प्रिय सखि ! तूने मेरे प्रिय को अपने पक्ष में साध कर मेरे स्नेह और सद्भाव के उपयुक्त आचरण नहीं किया है और शत्रुवत् व्यवहार किया है।" इस द्वितीय अर्थ का ज्ञान हो जाने के उपरान्त प्रयोजन रूप इस व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है कि "तूने शत्रुता की हद कर दी है" और इसीसे एक अपर व्यंग्यार्थ भी व्यक्त होता है कि 'तूने तथा नायक ने मिलकर मेरे प्रति घोर अन्यायपूर्ण आचरण को व्यक्त किया है, जो किसी भी दशा में क्षन्तव्य नहीं है।

यहाँ पर मुख्यार्थ-बाघ होने पर विपरीत लक्षणा से लक्ष्यार्थ का ज्ञान हो जाता है और इस लक्ष्यार्थ के बाद 'तुम दोनों की सापराघता' रूप व्यंग्यार्थ का ज्ञान होता है अर्थात् शत्रुत्वातिशय का बोध कराना ही इसका उद्देश्य रहा है। ध्यान देने की यह बात है कि शाब्दी-व्यञ्जना में व्यंग्यार्थ की प्रतीति शब्द के कारण ही होती है और लक्ष्य-सम्भवा आर्थी-व्यञ्जना में व्यंग्यार्थ की प्रतीति अर्थ के कारण होती है। इसमें व्यंग्यार्थ का ज्ञान लक्ष्यार्थ के ज्ञान के साथ ही होता है। प्रयोजन रूप व्यंग्यार्थ की प्रतीति भी उसी शब्द से होती है, जिससे मुख्यार्थ अथवा लक्ष्यार्थ का ज्ञान होता है। अर्थात् लक्षणा पर आश्रित शाब्दी-व्यञ्जना से ही व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है।

व्यंग्य सम्भवा आर्थी व्यंजना—इसमें मुख्यार्थ प्रतीति के बाद प्रकरणादि के द्वारा व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है। इस व्यंग्यार्थ से पुनः एक अन्य व्यंग्यार्थ की प्रतीति हो जाती है। इस प्रकार एक व्यंग्य से दूसरे व्यंग्यार्थ की प्रतीति होने पर इसे व्यंग्य-सम्भवा-आर्थी व्यञ्जना कहते हैं। यथाः—

पश्य-निश्चल-निष्पन्दा बिसिनी पत्रे राजते बलाका।
निर्मल-मरकत-भाजन परिस्थिता शंखसुक्तिरिव ॥

इस उद्धरण में अन्तिम व्यंग्यार्थ का ज्ञान चतुर्थ क्षण में होता है। इसका मुख्यार्थ यह है कि देखो, कमल पत्र पर निश्चल और निष्पन्द बलाका स्वच्छ मरकत मणि के पात्र में रखी हुई शंख सुक्ति के समान शोभित हो रही है।

इस मुख्यार्थ से व्यंग्यार्थ की यह प्रतीति होती है कि बगुला पूर्णरूप से निर्भर और आश्वस्त है। इस व्यंग्यार्थ से दूसरे व्यंग्यार्थ की यह प्रतीति होती है कि निर्जनता के कारण से ही ये बगुले आश्वस्त हैं। अतः यह संकेत-स्थल है। अथवा तुम झूठ बोलते हो, यहाँ नहीं आये थे, अन्यथा यह बगुला इतना आश्वस्त न रहता। इसमें 'निर्भरता' का ज्ञान निष्पन्द से होता है, इससे निर्जनता की प्रतीति और संकेत स्थल का ज्ञान होता है। पुनः प्रकरण से नायक द्वारा वहाँ न आने पर भी उससे बहाना बताने का ज्ञान हो जाता है।

अर्थ व्यंजकता के साधन—पहले यह बताया जा चुका है कि व्यंग्यार्थ बोध के लिये प्रकरणादि की बहुत अधिक महत्ता रहती है। इस प्रकरण ज्ञान को ही अर्थ व्यंजकता का साधन मान सकते हैं। आचार्य मम्मट ने कहा है कि

वक्ता, बोद्धा, काकु, वाक्य, वाच्य, अन्य सन्निधि प्रस्ताव, देश, काल और आदि (चेष्टा) के वैशिष्ट्य से प्रतिभाशाली व्यक्तियों को व्यंग्यार्थ की प्रतीति कराने वाला शब्द का व्यापार व्यञ्जना व्यापार कहा जाता है।[1] यहाँ पर आदि शब्द से चेष्टा का ग्रहण किया गया है और प्रतिभा का अर्थ पूर्व जन्म का संस्कार विशेष है, जिनके कारण काव्य की रचना एवं अनुशीलन होता है। सहृदय का अर्थ काव्यानुशीलन से स्वच्छ बने मन वाले व्यक्ति से है।[2] ऐसे ही सहृदयों को वक्तादि के वैशिष्ट्य से व्यंग्यार्थ का बोध हो जाता है।

१. **वक्तृबोधव्य**— यहाँ वक्ता के स्वभाव से उसके कथन का मेल न बैठने के कारण व्यंग्यार्थ का ग्रहण करते हुए एक दूसरे अर्थ को प्राप्त कर लेते हैं। और इस प्रकार कथन की संगति बैठ जाती है। यथा—

अति पृथुलं जलकुम्भं गृहीत्वा समागताऽस्मि सखि त्वरितम्।
श्रवस्वेदसलिलनिःश्वासनिः सहाविघाम्यामि क्षणम्॥

यहाँ कहने वाली स्त्री के चरित्र का ज्ञान होने पर ही ज्ञात होता है कि वह स्त्री उपपति के पास रमण करने गई थी।

२. **बोधव्य वैशिष्ट्य**—जहाँ बोधव्य (जिससे कहा जा रहा है) के स्वभाव के अनुकूल व्यंग्यार्थ की प्रतीति सहृदय कर लेता है, वहाँ बोधव्य (जिससे कोई कथन किया गया है) वैशिष्ट्य ही व्यंग्यार्थ प्रतीति का कारण होता है। यथा:—

औनिन्द्र्यं द्रौर्बल्यं चितालसत्वं सनिःश्वासितम्।
मम मन्दभागिन्याः कृते त्वामपि अहह परिभवति।

इसमें नायिका के विरुद्ध आचरण करने वाली सखी ही बोधव्य है। उसके स्वभाव के कुलटा पन से ही यह दोषता व्यञ्जित हो जाती है।

३. **काकु वैशिष्ट्य**—जहाँ पर कण्ठ की ध्वनि से व्यंग्यार्थ की प्रतीति हो जाती हो, वहाँ काकु-वैशिष्ट्य मानते हैं। यथा:—

---

१. वक्तृ बोधव्य काकूनां वाक्य वाच्यान्य सन्निधेः।
प्रस्ताव देशकालादेवैशिष्ट्यात् प्रतिभाजुषाम्॥
योऽर्थस्यान्यर्थ धीर्हेतुर्व्यापारो व्यक्तिरेवसा॥ काव्य प्रकाश

२. येषां काव्यानुशीलनवशाद् विशदीभूते मनोमुकुरे·················
ते सहृदया संवादभाजा।

तथाभूतं दृष्ट्वा नृपसदसि पाञ्चालतनयां
वने व्याधैः सार्धंसुचिरमुषितं बल्कलधरैः।
विराटस्यावासे स्थितमनुचितारम्भनिभृतं,
गुरुः खेदं खिन्नमपि भजति नाद्यापि कुरुषु ॥

यहाँ पर न के प्रयोग में काकु है और वाक्य में किये गये प्रश्न का ज्ञान इससे हो जाता है। इससे प्रश्न रूप वाच्यार्थ से यह अर्थ बोधित होता है कि "युधिष्ठिर को मेरे प्रति क्रोध करना अनुचित है और कौरवों के प्रति क्रोध करना ही उचित है। अतः उनका यह आचरण विपरीत है।"

४. **वाक्य-वैशिष्ट्य**—प्रयुक्त वाक्य की विशिष्टता से जब व्यंग्यार्थ की प्रतीति हो जाती है। यथाः—

तदा मम गण्डस्थलनिमग्नाँ दृष्टि नानैषीरन्यत्र ।
इदानीं सैवाहं तौ च कपोलौ न सा दृष्टिः ॥

इसमें "मेरे कपोलों पर प्रतिबिम्बित सखी के बिम्ब पर तुम्हारी दृष्टि लगी हुई थी, उसके चले जाने पर तुम्हारी दृष्टि और ही हो गई। अतः इससे नायक का कामुकत्व व्यक्त हो जाता है।

५. **वाच्य-वैशिष्ट्य**—कहीं पर मुख्यार्थ की विशिष्टता से ही अर्थ-बोध होता है।

उद्देशोऽयं सरसकदलीश्रेणि शोभतिशायी,
कुंजोत्कर्शांकुरितरमणी विभ्रमो नर्मदायाः।
किं चैतस्मिन् सुरतसुहृदस्तन्वि ते वान्ति वाता,
येषामग्रे सरति, कलिता काण्डकोपो मनोभूः ॥

यहाँ नर्मदा के आकर्षक तीर को देखकर विलासिनियो में विलास अंकुरित हो जाता है। सुरत-क्रीडा का सहायक वायु प्रवाहित होता रहता है। और इनके आगे क्रुद्ध कामदेव चल रहा है। इस वाक्य द्वारा नायक की केलि-सम्बन्धिनी अभिलाषा व्यक्त हो जाती हैं। इसमें स्थान का भी वैशिष्ट्य है।

६. **अन्य सन्निधि-वैशिष्ट्य**—जब अन्य व्यक्ति के पास में रहने से व्यंग्यार्थ की प्रतीति सहृदय को हो जाय। यथाः—

नुदत्यनाद्रमना श्मश्रूर्मां गृहभरे सकले।
क्षणमात्रं यदि सन्धायां भवति न वा भवति विश्रामः ॥

यहाँ सखी से कथित इस वाक्य का उद्देश्य पास जाते हुए उपनायक को सुनाकर यह बताना है कि सन्ध्याकाल में ही मुझे कभी-कभी समय मिलता है। अतः यही संकेत काल हैं।

७. **प्रस्ताव वैशिष्ट्य**—वक्ता के प्रस्ताव से भी व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है:—

"श्रूयते समागमिष्यति तव प्रियोऽद्य प्रहरमात्रेण।
एवमेव किमिति तिष्ठसि तत्सखि ! सज्जय करणीयम्।"

यहाँ वक्ता के कथन से ही प्रकट होता है कि यह अभिसरण करने का उचित समय नहीं है, क्योंकि तुम्हारे पति प्रहर मात्र में आने वाले है।

८. **देश वैशिष्ट्य**—जब देश या स्थान-विशषसे व्यंग्यार्थ की प्रतीति हो जाय:—

अन्यत्र यूयं कुसुमावचाप कुरुध्व मत्रास्मि करोमि सख्यः।
नाहं हि दूरं भ्रमितुं समर्था प्रसीदतायं रचितोज्जलिर्षः।

यहाँ 'इस स्थान' विशेष से ध्वनित होता है कि उपनायक को तुम यहीं भेज दो।

९. **काल वैशिष्ट्य**—काल के ज्ञान से भी व्यंग्यार्थ का ज्ञान हो जाता है।

गुरु जन पर वश प्रिय ! किं भणामि तव मन्दभगिनी अहम्।
अद्य प्रवासं ब्रजसि व्रज स्वयमेव श्रोष्यसि करणीयम्।

'यहाँ यह व्यंग्यार्थ है कि यदि आज मधुमास में तुम विदेश जावोगे, तो मेरी मृत्यु अवश्य होगी और तुम्हारी क्या गति होगी, मैं नहीं जानती।"

१०. **चेष्टा**—द्वारा भी व्यंग्यार्थ की प्रतीति हो जाती है। यथा:—

द्वारो पान्तनिरन्तरे मयि तया सौन्दर्य सारश्रिया,
प्रोल्लास्योरुयुगं परस्पंर समासक्तं समासादितम्॥
आनीतं पुरतः शिरोंशुकमधः क्षिप्ते तले लोचने,
वाचस्तत्र निवारितं प्रसरणं संकोचिते दोर्लते॥

"मेरे उस सुन्दरी के द्वार से निकलने पर उसने अपनी जाघों को फैलाकर एक दूसरे से मिला लिया, सिर के वस्त्र को खींच लिया, चंचल नेत्र स्थिर कर लिये, बोलना बन्द कर दिया और हाथों को एक दूसरे से समेट लिया।"

इस उदाहरण में शारीरिक चेष्टाओं जांघो का सिकोड़ना, घूंघट का खींचना आदि से व्यंग्यार्थ की प्रतीति हो जाती है कि "नीरव सान्ध्यवेला में शान्ति-पूर्वक आजाना।" इन चेष्टाओं को देखकर ही इसके गूढ़ अर्थ रूप व्यंग्यार्थ का ज्ञान हो जाता है।

इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि ऊपर कहे गये दश प्रकार भेदों से आर्थी-व्यञ्जना का ज्ञान हो जाता है और इस ज्ञान में वक्ता बोद्धादि तथा प्रकरण आदि का बहुत अधिक महत्व होता है। इन दश तत्वों में से किसी एक ज्ञान से भी व्यंग्यार्थ की प्रतीति हो जाती है। कभी-कभी कई एक तत्व मिल-कर भी व्यञ्जक बन जाते हैं। इन सभी तत्वों में निहित व्यंग्यार्थ की अव-स्थिति सहृदयों को होती रहती है।

व्यजंना की स्थापना

आनन्दवर्द्धन ने ध्वन्यालोक के प्रथम उद्योत में ध्वनि की स्थापना करने के हेतु ध्वनि विरोधी तीन पक्षों की कल्पना की है। आरम्भ में उन्होंने 'काव्यास्यात्मा ध्वनिः' ऐसा मान लिया है। इस विचार का समर्थन पूर्व विद्वानों ने भी किया है, फिर भी प्राप्य-ग्रन्थों के आधार पर ध्वनि के अस्तित्व को न मानने वालों के तीन वर्गों की कल्पना की गई है।

(१) अभाववादी मत—इनके मत से ध्वनि है ही नहीं। इस विचार उद्बोधक भामह, भट्टोद्भट्ट आदि हैं। यह एक विपर्यय-मूलक पक्ष है। इससे इसे ध्वनि की दृष्टि से निकृष्ट पक्ष का माना गया है।

(२) भाक्तवादी पक्ष—यह सन्देहमूलक होने से मध्यम पक्ष का माना गया है।

(३) अलक्षणीयतावादी पक्ष– इस पक्ष के लोग ध्वनि के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं, परन्तु इसका लक्षण कर सकना वे सम्भव नहीं मानते हैं। इस दृष्टि से यह एक अज्ञानमूलक पक्ष है और उपर्युक्त दो विचारों की अपेक्षा कम दूषित है, क्योंकि इसमें ध्वनि का स्पष्ट रूप से निषेध नहीं किया गया है।

ध्वनिकार का दो मन्तव्य स्पष्ट रूप से दीख पड़ता है। प्रथम–ध्वनि सिद्धान्त का निर्भ्रान्त शब्दों में स्थापना करते हुए सभी ध्वनि विरोधी विचारकों का समुचित उत्तर देना और उनके मत का निराकरण करना। द्वितीय–रस, अलङ्कार, रीति, गुण, दोष विषयक सिद्धान्तों का सम्यक् परीक्षण करते हुए ध्वनि के साथ उनका सम्बन्ध स्थापित करना तथा ध्वनि के रूप में एक सर्वाङ्ग-पूर्ण सिद्धान्त की स्थापना करके अन्य सभी विचारों को उसके अंग रूप में स्वीकार करना। इन दोनों में प्रथम अर्थात् ध्वनि की स्थापना करने हेतु उपर्युक्त जिन तीन विरोधी पक्षों की सम्भावना की गई, उनमें प्रथम अभाववादी पक्ष है।

अभाववादी ध्वनि के अस्तित्व को स्वीकार ही नही करते। इनके विचार से अन्य चारुत्व हेतुओं में ही ध्वनि का अन्तर्भाव हो जाता है। ऐसे विचारकों के तीन वर्गों की कल्पना आनन्दवर्द्धन ने की है:—

(क) **अभाववादियों के प्रथम** वर्ग ने शब्द और अर्थ को ही काव्य शरीर माना है। ऐसे शब्द और अर्थ के चारुत्व हेतु दो प्रकार के माने जा सकते हैं:—

(१) स्वरूपगत चारुत्व के अन्तर्गत अलंकारो की गणना होती है। इनमें शब्दगत चारुत्व हेतु अनुप्रासादि शब्दालंकार और अर्थगत चारुत्व हेतु उपमादि अलंकार माने गये हैं।

(२) **संघटनागत चारुत्व**—शब्द और अर्थ के संघटनागत चारुत्व हेतु वर्ण संघटना धर्म और माधुर्यादि गुण हैं। अलंकार और गुणों से अभिन्न उपना-गारिकादि वृत्तियाँ और गुणों से अभिन्न वैदर्भी प्रवृत्ति रीतियाँ भी हैं। उद्भट ने वृत्तियों का अन्तर्भाव अलंकार में माना है। रुद्रट ने अनुप्रास की पाँच प्रवृ-त्तियाँ मानी है। इसी प्रकार वामन द्वारा प्रकाशित वैदर्भी प्रवृत्ति रीतियाँ माधुर्यादि गुणों से अव्यतिरिक्त है। अतः अभाववादियों के प्रथम वर्ग का यह मत है कि अलंकार और गुणों से व्यतिरिक्त अन्य कोई चारुत्व का हेतु सम्भव नहीं है।

(ख) **अभाववादियों का द्वितीय विकल्प**—इस मत में ध्वनि का अस्तित्व भी अस्वीकार किया गया है, क्योंकि परम्परा से काव्य का जो स्वरूप निर्धारित किया गया है, ध्वनि के मान लेने से उस प्रसिद्ध मार्ग का अति क्रमण होने के कारण अन्य काव्य-प्रकार में काव्यत्व की हानि होगी तथा काव्य का लक्षण नहीं बनेगा। इसका कारण यह है कि 'सहृदयहृदयाल्हादक शब्दार्थ युक्तत्व ही काव्य का लक्षण है और शब्दार्थ शरीर काव्यं वाले मार्ग में वह काव्य लक्षण सम्भव नही है और न ध्वनि सम्प्रदाय के अन्तर्गत किन्ही स्वेच्छा कल्पित व्यक्ति को सहृदय मानकर उनके कथनानुसार किसी कल्पित नवीन ध्वनि में काव्य नाम का व्यवहार प्रचलित करने पर विद्वानों में मान्य ही होगा। इस विकल्प में तर्क का कोई ठोस आधार ग्रहन न करके केवल परम्परा की दुहाई दी गई है।

(ग) **अभाववादियों का तीसरा विकल्प**–इस मत के अनुसार ध्वनि नाम का कोई नया पदार्थ सम्भव ही नहीं है। यदि यह ध्वनि चारुत्व का अतिक्रमण नहीं करता, तो प्रथम विकल्प में गहे गये गुणालंकारादि में ही उसका अन्तर्भाव हो जाता है। इस गुणालंकार रूप चारुत्व हेतुओं में से ही यदि किसी का नाम ध्वनि रख दिया जाय तो यह बहुत ही तुच्छ बात होगी। **ध्वनिकार** ने भी इस

विचार का समर्थन करते हुए कहा है कि "कथन शैलियों के अनन्त प्रकार होने के कारण तथा काव्य लक्षणकारों द्वारा अप्रदर्शित यदि कोई भेद हो भी तो ध्वनि ध्वनि कह कर मिथ्या सहृदयत्व की भावना से आँखें बन्द करके जो यह अकाण्ड ताण्डव किया जाता है, उसका कोई उचित कारण नहीं। अन्य विद्वानों की तो यह मिथ्या सहृदयत्व की भावना नही दिखाई पड़ती। अतः ध्वनि केवल प्रवाद मात्र है और उसका विचार योग्य तत्व कुछ भी नहीं बताया जा सकता है।"[1]

मनोरथ कवि ने भी इसी प्रवाद मात्रत्व की ओर संकेत करते हुए कहा है कि जिसमें अलंकार युक्त मन को प्रसन्न करने वाला कोई वर्णनीय अर्थ तत्व नहीं है, जो चातुर्य युक्त सुन्दर शब्दों में विचारित नहीं है, जो सुन्दर युक्तियों से शून्य है, उसका यह ध्वनि युक्त काव्य है, ऐसा कह कर प्रीतिपूर्वक प्रशंसा करने वाला मूर्ख, किसी बुद्धिमास के पूछने पर मालूम नहीं ध्वनि का क्या स्वरूप बतायेगा ?[2]

अभाववादी के प्रथम विकल्प का खण्डन—(१) इस मत में 'शब्दार्थ शरीरं काव्यम्' कहा गया है। शब्दार्थ में शब्द शरीर के स्थूलत्वादि के समान स्थूल है। अतः सर्वजन संवेद्य है, परन्तु काव्यार्थ तो सहृदय संवेद्य होता है। उससे भिन्न अर्थ भी व्युत्पन्न पुरुषों को ही प्रतीत होता है। यदि शब्द शरीर स्थानीय है, तो अर्थ को आत्मा स्थानीय ही मानना पड़ेगा और सहृदय श्लाघ्य अर्थ ही काव्यात्मा है, सभी अर्थ नहीं। अतः जो अर्थ प्रतीयमान है, उसे ही काव्यात्मा कहेंगे।

(२) वाच्य अर्थ काव्य की आत्मा नहीं है और यही वाच्यार्थ उपमादि से व्यक्त कियागया है। अभाववादी इन्हीं उपमादि में ध्वनि का अन्तर्भाव मानते हैं,परन्तु अलंकारादि वाच्यार्थ है और ध्वनि प्रतीयमान अर्थ है। अतः ध्वनि का अन्तर्भाव अलंकार, गुण, वृत्ति में किया जा सकता है।

(३) 'ध्वन्यालोक' की कारिका दो में 'वाच्य प्रतीयमानाख्यौ' में द्वन्द्व समास का प्रयोग है। "उभय पदार्थ प्रधानो द्वन्द्वः" अर्थात् द्वन्द्व समास में

---

१. ध्वन्यालोक १ ला उद्योत पृ० १०

२. यस्मिन्नास्ति न वस्तुकिंचन मनः प्रल्हादि सालंकृति।
व्युत्पन्नै रचितं न चैव वचनै वक्रोक्ति शून्यं च यत्।
काव्यं तद् ध्वनिना समन्वितमिति प्रीत्या प्रशंसन् जड़ो।
नो विद्मोऽभिदधाति किं सुमतिना पुष्टः स्वरूपं ध्वनेः॥ मनोरथ

उभय पदार्थ की प्रधानता रहती है। दोनों की प्रधानता होने के कारण वाच्य या प्रतीयमान किसी पदार्थ का अपन्हव नहीं किया जा सकता है फिर भी दोनों के अर्थों में स्पष्ट भेद है। यह प्रतीयमान अर्थ वाच्य सामर्थ्य से आक्षिप्त वस्तु मात्र अलंकार और रसादि भेद से अनेक प्रकार का होता है, परन्तु इस प्रतीयमान अर्थ की सत्ता ही अलग होती है, जो वाच्य से भिन्न है। इसके अतिरिक्त भी निम्नलिखित उक्तियों से दोनों की भिन्न सत्ता का ज्ञान होता है—

(१) उस प्रतीयमान अर्थ को प्रभावित करने वाली महाकवियों की वाणी उनके अलौकिक प्रतिभासमान प्रतिभा विशेष को व्यक्त करती है। इसी से कालीदास जैसे दो-चार कवि ही हैं।

(२) वह अर्थ शब्दशास्त्र और अर्थशास्त्र (कोश) के ज्ञान से ही प्रतीत नहीं होता, वह तो केवल काव्यज्ञ को ही प्रतीत होता है। यदि वह केवल वाच्य अर्थ होता तो शब्द और अर्थ के ज्ञान से उसकी भी प्रतीति हो जाती।

(३) वाच्यार्थ का ग्रहण प्रतीयमान अर्थ की अनुभूति में उसी प्रकार साधन मात्र है, जैसे आलोकार्थी के लिये दीपक का ग्रहण। वाच्यार्थ केवल उपायभूत हैं, प्रधानता तो व्यंग्य अर्थ की ही है।

(४) जैसे पदार्थों के द्वारा वाक्यार्थ की प्रतीति होती है, उसी प्रकार उसी व्यंग्य अर्थ की प्रतीति वाच्यार्थ के ज्ञानपूर्वक होती है। अतः वाच्य अर्थ साधन मात्र होने से अप्रधान है।

(५) अलंकार का भेद ऐसा है, जो कभी अन्य किसी अलंकार्य रसादि का शोभादायक होने से उपमादि अलंकार के रूप में भी व्यवहृत होता है। ऐसे ही रूप में यह प्रतीयमान अर्थ उससे भिन्न होगा; परन्तु जहाँ वह वाच्य नहीं है, अपि तु वाच्यसामर्थ्याक्षिप्त व्यंग्य है, वहाँ यह किसी दूसरे का अलंकार नहीं, अपि तु स्वयं प्रधानभूत अलंकार्य है। इसी से उसे पूर्वावस्था के कारण अलंकार-ध्वनि कहते हैं। यह अलंकार ध्वनि प्रतीयमान का एक लौकिक भेद है, और जो अलंकार वस्तुमात्र है तथा प्रतीयमान है, उसे वस्तु ध्वनि कहते हैं। इस वस्तु ध्वनि में भी वाच्य और प्रतीयमान अर्थ का स्पष्ट अन्तर दीख पड़ता है। यह अन्तर निम्नलिखित रूप में दीख पडता है—

(१) कहीं पर वाच्य अर्थ विधि रूप और प्रतीयमान अर्थ निषेध रूप होता है। इसका उदाहरण 'भ्रम धार्मिक विश्रब्ध ……' है।

(२) वाच्यार्थ प्रतिषेध रूप और प्रतीयमान अर्थ विधि रूप होता है। जैसे 'स्वश्रूरत्र निमज्जति ……'।

(३) वाच्यार्थ विधि रूप और प्रतीयमान अनुभयात्मक होता है। 'व्रजममैवैकस्या भवन्तु'······· ।

(४) वाच्यार्थ प्रतिषेध रूप और प्रतीयमान अनुभय रूप होता है। "प्रार्थये तावत् ।"

(·) वाच्य और व्यंग्य अर्थ का विषय भेद भी होता है अर्थात् वाच्य का विषय अन्य और प्रतीयमान का विषय दूसरा होता है "कस्य वा न भवति रोषः·······" वाला श्लोक इसका उदाहरण है।

उपयु`क्त सभी उद्धरणों से स्पष्ट है कि वाच्यार्थ, जो उपमादि अलंकारों के रूप में प्रसिद्ध है, तथा प्रतीयमानार्थ ध्वनि के भेद वस्तु ध्वनि से भिन्न होते हैं। इससे दोनों का ही अस्तित्व अलग-अलग है। अतः स्वतन्त्र अस्तित्व के कारण अलंकारों में ध्वनि का अन्तर्भाव सम्भव नहीं है। इस प्रकार अभाव-वादियों के प्रथम विकल्प का खण्डन हो जाता है।

ध्वनि का दूसरा भेद अलंकार ध्वनि भी वाच्यार्थ से भिन्न ही है। अतः वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ दोनों एक नहीं हो सकते हैं।

रसध्वनि भी वाच्यार्थ से भिन्न है, यद्यपि यह वाच्य के सामर्थ्य से आक्षिप्त होकर प्रकाशित होता है। इसी से यह अलौकिक भेद है। रसध्वनि शब्द के साक्षात् व्यापार (अभिधा, लक्षणा, तात्पर्या) का विषय नहीं है। यदि इन व्यापारों द्वारा इसे वाच्य माने, तो यह वाच्यता दो प्रकार से सम्भव हो सकती है—

(१) स्वशब्द द्वारा (२) विभावादि के प्रतिपादन द्वारा।

इन दोनों में स्वशब्द द्वारा रसध्वनि के निवेदित न होने पर नहीं होना चाहिए। व्यवहार में देखा जाता है कि रसादि का प्रतिपादन स्वशब्द द्वारा नहीं होता है जहाँ स्वशब्द द्वारा प्रतिपादन होता भी है, वहाँ विभावादि के माध्यम द्वारा ही यह सम्भव होता है। संज्ञा शब्द के प्रयोग से रस जन्य नहीं होता, केवल अनूदित होता है। जहाँ विभावादि नहीं हैं, वहाँ स्वशब्द वाच्य रस में रसवत्ता नहीं रहती। अतः अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा भी स्पष्ट है कि रसादि कभी भी वाच्य नहीं होते, अपि तु वाच्य सामर्थ्य से आक्षिप्त होते हैं। अतः ध्वनि का यह तीसरा भेद (रसादि ध्वनि) वाच्य से भिन्न ही है।

इस प्रतीयमान अर्थ को गुणों, अलंकारों और वृत्तियों आदि में अन्तभू`त नहीं किया जा सकता, क्योंकि वे वाच्य अर्थ हैं। इस प्रकार ध्वनि अंगी और अलंकारदि अंग हो जाते हैं। उपमादि जहाँ प्रतीयमान अर्थ या व्यंग्य होते हैं,

वहाँ वे अलंकार न रहकर अलंकार्य हो जाते हैं। गुणों और वृत्तियों का अन्त-र्भाव रसों में ही किया जाता है। इस प्रकार सिद्ध हो जाता है कि ध्वनि स्वरूपगत (शब्द एवं अर्थगत) तथा संघटनागत चारुत्व (माधुर्यादि) की सीमा में नहीं आ सकता है, अपि तु उससे अधिक विस्तृत होने से इसका स्वतन्त्र अस्तित्व है। ध्वनि की सत्ता न मानने वाले अभाववादियों ने जो विरोध उप-स्थित किया है, उसका निराकरण प्रतीयमान रूप अर्थ की सिद्धि से हो जाता है। अतः ध्वनि का अस्तित्व है और उसका अन्तर्भाव वाच्यार्थ में नहीं हो पाता। उदाहरणार्थ जैसे पदार्थ अपनी सामर्थ्य से वाक्यार्थ को प्रकाशित करते हुए वाक्यार्थ बोध व्यापार के पूर्ण हो जाने पर अलग प्रतीत नहीं होता, उसी प्रकार वाच्यार्थ से विमुख सहृदय की तत्व दर्शन समर्थ बुद्धि में यह अर्थ तुरन्त ही प्रतीत हो जाता है। इस प्रकार वाच्यार्थ से अतिरिक्त व्यंग्यार्थ की सत्ता तथा प्राधान्य का प्रतिपादन किया गया। ध्वनि का स्वरूप निर्धारित करते हुए भी बताया गया है कि जहाँ अर्थ वाच्य विशेष अथवा वाचक विशेष शब्द उस प्रतीयमान अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं, उस काव्य-विशेष को ध्वनि कहा जाता जाता है। इस प्रकार वाच्य वाचक के चारुत्व हेतु उपमादि से अलग ध्वनि का विषय दिखाया गया और अभाववादियों के प्रथम विकल्प का निराकरण किया गया।

अभाववादियों के दूसरे विकल्प का निराकरणः— इस विकल्प में विरोधियों ने परम्परा की दुहाई दी है कि "प्रसिद्ध प्रस्थानातिरेकिणो मार्गस्य काव्यत्व हानेर्ध्वनिर्नास्ति।" अर्थात् प्रसिद्ध मार्ग का अतिक्रमण करने वाले मार्ग में कवित्व की हानि होगी, इससे ध्वनि नहीं है।" परन्तु यह विचार ठीक नहीं है, क्योंकि यह तो केवल लक्षणकारों में ही प्रसिद्ध नहीं, परन्तु लक्ष्य ग्रन्थों के अध्ययन से विदित है कि सहृदयों के हृदयों को भी आल्हादित करने वाले काव्यों का सारभूत वही ध्वनि है, इससे भिन्न काव्य, चित्र-काव्य कहा जाएगा।

अभाववादियों का तीसरा विकल्पः— इसमें कहा गया है कि वह ध्वनि रमणीयता का अतिक्रमण नहीं करती, तो उक्त गुणालंकारादि चारुत्व हेतुओं में ही उसका अन्तर्भाव हो जायगा। यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि वाच्य-वाचक भाव पर आश्रित मार्ग के अन्दर व्यंग्य-व्यंजक भाव पर आश्रित ध्वनि का अन्तर्भाव कैसे हो सकता है? वाच्य-वाचक (शब्द और अर्थ) के चारुत्व हेतु उपमादि तथा अनुप्रासादि अलंकार तो उस ध्वनि के अंग रूप हैं

और ध्वनि अंगी है। अतः ध्वनि के व्यंग्य-व्यंजक भाव-मूलक होने से वाच्य-वाचक चारुत्व हेतुओं में अन्तर्भाव सम्भव नहीं है। कहा भी है कि:—

व्यंग्य-व्यञ्जकसम्बन्धनिबन्धनतया ध्वनेः।
वाच्य-वाचक चारुत्व हेत्वन्तः पतिताः कुतः ॥

अभाववादियों का दूसरा तर्क:— पूर्व-पक्षियों का एक दूसरा तर्क यह है कि यदि प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति स्पष्ट रूप से नहीं होती तो वहाँ ध्वनि के न मानने से कोई हानि नहीं है, परन्तु जहाँ उसकी प्रतीति होती है, जैसे समासोक्ति, आक्षेप, अनुक्तनिमित्त विशेषोक्ति, पर्यायोक्त, अपन्हुति, दीपक, शंकर आदि में; वहाँ ध्वनि का अन्तर्भाव इन चारुत्व हेतु अलंकारों में तो अवश्य हो जाएगा।

समाधान:— ध्वनि का स्वरूप निर्धारित करते हुए ध्वनिकार ने कहा है कि जहाँ शब्द अपने अर्थ को या अर्थ अपने अर्थ को गौण करके काव्य-विशेष को व्यञ्जित करता है, वहीं ध्वनि होती है। इससे इन अलंकारों में ध्वनि का अन्तर्भाव कैसे होगा ? दूसरा समाधान यह है कि ध्वनि वहीं होती है, जहाँ व्यंग्यार्थ की प्रधानता हो और समासोक्ति आदि अलंकारों में व्यंग्यार्थ को प्रधानता नहीं होती। इन स्थानों पर व्यंग्य की प्रतीति होने पर भी काव्य का ही चारुत्व अधिक होने से वाच्य की प्रधानता विवक्षित होती है। पर्यायोक्त अलंकार में यदि व्यंग्य की प्रधानता हो तो ध्वनि के महाविषय होने से उसमें रस; अलङ्कार आदि का अन्तर्भाव हो जायगा, परन्तु आचार्य भामह ने "गृहेष्वध्वंसु ...." आदि पर्यायोक्त का उदाहरण अपने ग्रन्थ में दिया है, उसमें तो व्यंग्य का प्राधान्य है ही नहीं। अपन्हुति और दीपक में वाच्य का प्राच्य और व्यंग्य का वाच्यानुगाभित्व प्रसिद्ध ही है। दीपक में उपमा की प्रतीति होने पर भी अप्रधान होने के कारण वहाँ उपमा का व्यवहार नहीं होता। शंकरालंकार में अङ्गाङ्गि भाव और संदेह शंकर में व्यंग्य की सम्भावना का निराकरण कर देता है। यह शब्द उसकी संकीर्णता का बोधक है। अप्रस्तुत प्रशंसा के सादृश्यमूलक भेद में यदि अभिधीयमान अप्रस्तुत का अप्राधान्य और प्रतीयमान प्रस्तुत का प्राधान्य विवक्षित हो, तो अलंकार का ध्वनि में अन्तर्भाव हो जायगा। अप्रस्तुत अभिधीयमान का प्राधान्य विपक्षित होने पर अप्रस्तुत प्रशंशालंकार होगा।

उपर्युक्त विचार से स्पष्ट हो जाता है कि जहाँ वाच्य का अनुगमन करने वाले व्यंग्य का अप्राधान्य है, वहाँ समासोक्ति आदि अलंकार स्पष्ट रूप से वाच्य हैं, परन्तु जहाँ व्यंग्य की प्रतीति मात्र होती है, या वह वाच्यानुगामी पुच्छभूत होता है अथवा जहाँ उसका स्पष्ट प्राधान्य नहीं है, वहाँ

ध्वनि नहीं होती। इसके विपरीत जहाँ शब्द और अर्थ व्यंग्य-बोधन के लिए ही तत्पर है, वहाँ ही संकर-रहित ध्वनि का विषय समझना चाहिए। अतः ध्वनि का अन्यत्र (अलंकारादि) में अन्तर्भाव नहीं हो सकता है। अलंकार गुण, वृत्तियाँ आदि ध्वनि के अंग हैं। इसलिए भी अंगीभूत व्यंग्यप्रधान काव्य विशेष का उसमें अन्तर्भाव नहीं हो सकता है। ध्वनिकार ने प्रथम कारिका में 'सूरिभिः कथितः' के प्रयोग द्वारा भी यह सिद्ध करना चाहा है कि यह मत विद्वन्मतमूलक है। यों ही अप्रमाणिक रूप से प्रचलित नहीं कर दिया है, इसका प्रयोग वैयाकरणों ने किया है और व्याकरण सभी विद्याओं का मूल है। इनके अनुसार सुनाई पड़ने वाले वर्णों को ध्वनि कहा गया है। अतः सिद्ध है कि ध्वनि का अस्तित्व है और ध्वनि-विरोधी अभाव-वादियों के तीनों ही मतों (१– 'तदलंकारादि व्यक्तिरिक्तः कोऽयंध्वनिर्नाम। २.–तत्समयान्तः पातिनः सहृदयन् कांचित्परिकल्पतत्प्रसिद्ध्या ध्वनौ काव्यः व्यपदेशः परिवर्तितोऽपि सकलविद्वन्मनो ग्राहितामवलम्बते।' ३.–तेषामन्यत मस्यैव वा पूर्वं समाख्या मात्र करणे यत्किंचन कथनं स्यात्।') का निराकरण हो जाता है।

ध्वनि-विरोधी भाक्तवादी दूसरा वर्ग— पूर्वपक्षियों का यह दूसरा वर्ग है। इस मत के निराकरण के पूर्व भाक्त-शब्द का अर्थ स्पष्ट हो जाना चाहिए। आनन्दवर्द्धन ने "उपचारमात्रन्तु भक्तिः" कहा हैं। इसका अर्थ गौण प्रयोग है अर्थात् जो शब्द जिस अर्थ में संकेतित है, उस अर्थ को छोड़कर उससे सम्बद्ध अन्य अर्थ को बोध कराना उपचार कहा जाता है। ध्वनि के स्वरूप निर्धारण प्रसंग पर भी कहा गया है कि वाच्यार्थ से भिन्न अर्थ को वाच्य-वाचक द्वारा तात्पर्य रूप से व्यंग्य का प्राधान्य होते हुए जहाँ प्रकाशित किया जाता है, उसे ध्वनि कहते हैं "वाच्य व्यतिरिक्तस्यार्थस्य वाच्यवाचकाभ्यां तात्पर्येण प्रकाशनं यत्र व्यंग्य प्राधान्ये स ध्वनिः।" इन दोनों शब्दों के स्पष्टीकरण के उपरान्त ध्वनि को लक्षणागम्य या भाक्त मानने के सम्बन्ध में इस मत के निराकरण हेतु भाक्तवादी के निम्नलिखित तीन विकल्प हो सकते हैं—

(१) भक्ति ही ध्वनि है।
(२) भक्ति ही ध्वनि का लक्षण है।
(३) भक्ति ध्वनि का उपलक्षण है।

प्रथम विकल्प और उसका निराकरण—ध्वनि को भक्ति मानने वाले भामह, उद्भटादि हैं। भामह ने काव्यालंकार में ध्वनि को अभिधा पक्ष से उद्भट ने विवरण में गुणवृत्ति शब्द से तथा वामन ने साहश्यात् लक्षणात् वक्रोक्ति में

लक्षण। शब्द ध्वनि मार्ग का स्पर्श किया है, फिर भी स्पष्ट लक्षण नहीं बन सका है। इस वर्ग वाले इन्हीं मार्ग का अवलम्ब लेकर 'भक्ति' को ही ध्वनि मानते हैं।

खण्डन—यहाँ पूर्व पक्षी के इस मत के स्पष्टीकरण के लिये यह प्रश्न उठता है कि पूर्वपक्षी ध्वनि और भक्ति को पर्याय के रूप में ग्रहण करता है अथवा किसी अन्य रूप में। यदि पर्याय के रूप में मानता है तो यह सम्भव नहीं है, क्योंकि इन दोनों के स्वरूप में स्पष्ट अन्तर ऊपर बताया जा चुका है। संकेतित अर्थ को छोड़कर तत्सम्बद्ध अन्य अर्थ का बोध उपचार (भक्ति) है और व्यंग्यार्थ की प्रधानता में ध्वनि का अस्तित्व होता है। व्यंग्य अर्थ में प्रतीयमान अर्थ संकेतित अर्थ के साथ उपचार की भाँति उससे सम्बद्ध ही हो, ऐसा आवश्यक नहीं हैं। इससे 'भक्ति' और ध्वनि एक नहीं हो सकते। ध्वन्यालोक में भी इसका समर्थन किया गया है कि 'रूप-भेद के कारण यह ध्वनि भक्ति से एकत्व को धारण नहीं कर पाती है।'[1]

भाक्तवादी दूसरा विकल्प—इसमें 'भक्ति' को ध्वनि का लक्षण माना गया है। 'लक्षणन्तु असाधारण धर्मवचनम्' अर्थात् समान एवं असमान जातीय पदार्थों के भेद कराने वाले असाधारण धर्म को लक्षण कहते हैं जैसे पृथ्वी का लक्षण गन्धत्व है, जो अपने समान जातीय द्रव्य-अप, तेज वायु, प्रकाश, आकाश, दिक, आत्मा, मन, काल (वैशेषिक में कहे गये पृथ्वी सहित नौ द्रव्य) के लक्षण से भिन्न है। जलादि में प्राप्त गन्धत्व उसके पार्थिव अंश के ही कारण है। वेदान्त का पंचीकरण प्रसंग इस बात का समर्थन करता है। पृथ्वी के असमान जातीय द्रव्य गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय आदि वैशेषिक दर्शन में माने गये हैं। इनमें भी गन्धत्व न होने से इसे पृथ्वी का असाधारण धर्म माना गया है। यही गन्धत्व पृथ्वी का विशेष लक्षण है। लक्षण का अर्थ ही समानासमान जातीय से भेद करना ही है "समानासमान जातीयव्यवच्छेदो हि लक्षणार्थः।" अतः यदि 'भक्ति' को ध्वनि का लक्षण माने, तो जहाँ-जहाँ 'भक्ति' होगी, वहाँ-वहाँ ध्वनि की उपस्थिति अनिवार्य होगी, परन्तु ऐसा नहीं देखा जाता है इससे भक्ति को ध्वनि का लक्षण नहीं मान सकते।

भाक्तवादियों के इस पक्ष को मानने पर अन्य दोष भी दीख पड़ते हैं।

१. अतिव्याप्ति दोष—अलक्ष्य में लक्षण का चला जाना।

२. अव्याप्ति दोष—लक्षण का लक्ष्य में न पहुँचना।

---

१. भक्त्या विभर्ति नैकत्वं रूपभेदादयं ध्वनिः। ध्वन्यालोक १/१४

इन दोनों दोषों पर क्रमशः विचार किया जायगा । आनन्दवर्द्धन ने भी इसी को ध्यान में रखते हुए कहा है कि "अति व्वाप्तिरथाव्याप्तेर्न चासौ लक्ष्यते तया ।"[1]

अतिव्याप्ति वाला पक्ष—यदि 'भक्ति' ध्वनि का लक्षण है तो दोनों सदा संग-संग रहना चाहिए और समानासमान किसी दूसरे पदार्थ में यह गुण नहीं होना चाहिए, परन्तु ध्वनि से भिन्न विषय में भी भक्ति होती है । प्रायः देखा जाता है कि जहाँ व्यंग्य के कारण विशेष सौन्दर्य नहीं होता, वहाँ भी कभी प्रसिद्धिवश उपचार या गौणी शव्ववृत्ति से व्यवहार होता है । इसी बात को ध्वन्यालोककार ने कई श्लोकों "१ परिम्लानम् पीनस्तन·······," 'चुम्बते शतकृत्वो·······," "कुपित प्रसन्ना·······" "आयार्या प्रहारो·······" "परार्थे पीड़ाभनुभवति·······" द्वारा स्पष्ट किया हैं । यहाँ व्यंग्य प्राधान्य ध्वनि के न होने पर भी 'वदति पुनरुक्तं, गृहीता, हरति, दत्तः और अनुभवति' पदों द्वारा लक्षणारूप भक्ति का आश्रय लिया गया है । परन्तु इन स्थानों पर ध्वनि का अवसर न होने पर यहाँ अतिव्याप्ति दोष है । इससे भक्ति को ध्वनि का लक्षण नहीं मान सकते हैं । उपयु र्क्त सभी स्थानों पर लक्षणा होते हुए भी ध्वनि नहीं है, इससे भक्ति को ध्वनि का लक्षण नहीं मान सकते हैं । इनमें दूसरा भेद यह है कि यदि उपर्युक्त वदति, हरति आदि के स्थान पर इन शब्दों का पर्याय रख दें, तो इनमें कोई अचारुत्व नहीं आयगा और लक्षणा के इन प्रयोगों में चारुता की वृद्धि भी नहीं होती है । इसके विपरीत ध्वनि में जहाँ उक्त्यन्तर से जो चारुत्व प्रकाशित नहीं किया जा सकता है, उसको प्रकाशित करने वाला व्यञ्जना व्यापार युक्त शब्द ही ध्वनि कहलाने का अधिकारी है ।[2] उपयु र्क्त उदाहरणों में दूसरे शब्दों की उक्ति से चारुत्व का प्रकाशन होने में कोई अवरोध नहीं होता है । इससे स्पष्ट है कि भक्ति को ध्वनि का लक्षण नहीं मान सकते हैं ।

(ख) बहुत से शब्द अपने एक विशेष अर्थ में रूढ़ हो जाते हैं । उदाहरणार्थ लावण्य शब्द अपने विषय लवणयुक्तत्व से भिन्न सौन्दर्यादि अर्थ में रूढ़ अर्थात प्रसिद्ध हो जाता है । ऐसे शब्द भी प्रयुक्त होने पर ध्वनि का

---

१. ध्वन्यालोक १/१४

२. उक्त्यन्तेणाशक्यं यत् तच्चारूत्वं प्रकाशयन ।
शब्दों व्यञ्जकतांविभ्रद ध्वन्युक्तेर्विषयी भवेत् ।
ध्वन्यालोक १/१५

विषय नहीं होते । इन शब्दों में उच्चरित गौण शब्द वृत्ति तो हैं, परन्तु ध्वनि नहीं है । इस प्रकार के अन्य उदाहरणों में यदि कहीं ध्वनि व्यवहार सम्भव भी हो, तो इस प्रकार के लावण्ययादि से न होकर प्रकारान्तर से होगा । यह शब्द सुन्दर अर्थ में प्रयुक्त होने लगा है, जो इसका मुख्यार्थ नहीं है । प्रयोग बहुलता से ही ऐसा सम्भव हो सका है । यह रुढ़ि लक्षणा का उदाहरण है । इसमें भक्ति तो है परन्तु व्यग्य का अभाव होने से व्यंग्य प्राधान्य रूप ध्वनि नहीं है । इसी का समर्थन ध्वनिकार ने किया है कि "रूढ़ा ये विषयेऽन्यत्र शब्दा स्वविषयादपि । लावण्याद्या प्रयुक्तास्ते न भवन्ति पदं ध्वनेः ।"

(ग) लक्षणा के दो भेद रूढ़ि और प्रयोजन में से रूढ़ि में तो भक्ति लक्षणा रहती है, परन्तु प्रयोजन रूप व्यंग्य या ध्वनि नहीं रहती । प्रयोजन वाले भेद में प्रयोजन व्यंग्य होता है, परन्तु यह प्रयोजन लक्षणागम्य न होकर व्यञ्जना गम्य होता है । इस दृष्टि से भी भक्ति ध्वनि का लक्षण नहीं हो सकती ।

(घ) चौथा तर्क यह है कि जिस फल (शैत्य पावनत्वादि) को लक्ष्य में रखकर मुख्यवृत्ति (अभिधा) छोड़कर गुण वृत्ति लक्षणा द्वारा ही अर्थ बोध कराया जाता है, उस फल का बोधन करने में शब्द बाधित अर्थ (स्खलदगति) नहीं है । यदि उस चारुत्वातिशय को प्रकाशित करने में शब्द गौण (बाधितार्थ) हो, तो उस शब्द का प्रयोग दूषित माना जायगा । शैत्य पावनत्व का बोध कराना लक्षणा का प्रयोजन है, यह प्रयोजन व्यञ्जना गम्य है, लक्षणा गम्य नहीं । लक्ष्यार्थ के लिये मुख्यार्थ का प्रस्तुत होना और उसका बाध होना यह दोनों ही आवश्यक हैं । यदि शैत्य पावनत्व को ही लक्ष्य मानें, तो उससे पूर्व उपस्थित तट रूप अर्थ को मुख्यार्थ मानना और पुनः तात्पर्यानुपपत्ति और अन्वयानुपपत्ति बाध (शब्द का स्खलदगति) का मानना आवश्यक है, परन्तु शैत्यादि के बोध के पूर्व उपस्थित होने वाला तट रूप अर्थ न तो गंगा शब्द का अर्थ ही है और न बाधित (स्खलदगति) ही है, क्योंकि दिये गये उदाहरण 'गंगायां घोष': में घोष के साथ आधार-आधेय मानने में बाधा भी नहीं है । अतः सिद्ध है कि भक्ति और ध्वनि में अन्तर है ।

दूसरी बात यह है कि लक्षणा और व्यञ्जना व्यापार में विषय का भेद है । इस भेद के कारण दोनों में धर्म धर्मिभाव नहीं हो सकता है । धर्मिगत कोई धर्म विशेष ही लक्षण होता है । ध्वनि और भक्ति में धर्म-धर्मिभाव न होने से भी 'भक्ति' ध्वनि का लक्षण नहीं हो सकता ।

यह भी ध्यान देने योग्य तर्क है कि लक्षणा वाचकाश्रित अभिधापुच्छभूता है। वह विषय भेद होने से व्यञ्जना मात्राश्रित ध्वनि का लक्षण नहीं हो सकती। विषयता सम्बन्ध से भक्ति का अधिकरण तीर और ध्वनि का शैत्य पावनत्व है। अतः एक विषय घटित स्वविषय विषयकत्व रूप परम्परा सम्बन्धेन भक्ति के ध्वन्यवृत्ति होने से भक्ति ध्वनि का लक्षण नहीं हो सकती इससे सिद्ध होता है कि वाचकाश्रित होने वाली गुणवृत्ति भक्ति केवल व्यञ्जनामूलक ध्वनि का लक्षण नहीं हो सकती। कहा भी है:—''वाचकत्वाश्रयेणैव गुणवृत्तिर्व्यवस्थिता। व्यञ्जकत्वैक मूलस्य ध्वनेः स्याल्लक्षणं कथम्''[१]

भाक्तवादियों का अव्याप्तिवाला दोष—यदि भक्ति को ध्वनि का लक्षण मानें, तो उसमें अव्याप्ति दोष भी होगा। जो लक्षण लक्ष्य के एक देश में न रहे, उसे अव्याप्ति दोष भी कहते हैं। इसके समझने के लिए ध्वनि के दो भेद अविवक्षित वाच्यध्वनि और विवक्षित.न्यपर वाच्य ध्वनि (अभिधामूला ध्वनि) पर ध्यान रखना चाहिए। यदि भक्ति को ध्वनि का लक्षण मानें, तो इन दोनों भेदों में भक्ति का अस्तित्व अपेक्षित है; परन्तु अभिधामूला ध्वनि तथा ध्वनि के अन्य भेदों में भक्ति या लक्षणा व्याप्त नहीं रहती। दूसरी बात यह है कि ध्वनि के इन भेदों में ध्वनि तो है, पर लक्षणा नहीं। इससे भक्ति या लक्षणा को ध्वनि का लक्षण नहीं कहेंगे। ध्वनि के अभिधामूला भेद में असंलक्ष्य क्रम और संलक्ष्यक्रम भेदों में रसादिध्वनि ही मुख्य है। इसमें मुख्यार्थ बाध का अवसर न होने से भक्ति की अव्याप्ति हो जाती है। इसी प्रकार इस ध्वनि के भेदों (रसाभास, भाक भावभासादि) में भी मुख्यार्थ बाधादि के बिना ही रसादि की प्रतीति होने से भक्ति के प्रवेश का अवसर नहीं है इस दृष्टि से भी अव्याप्ति के कारण भक्ति को ध्वनि का लक्षण नहीं मान सकते हैं।

भाक्तवादी का तृतीय विकल्प—भाक्तवादी मत में भक्ति को ध्वनि का उपलक्षण मानते हैं। अवर्तमान व्यावर्तक धर्म को उपलक्षण कहते हैं। जैसे 'काकवद देवदत्तस्थ गृहम्' वाक्य में काकवत्व देवदत्त के घर का लक्षण या विशेषण नहीं हैं अपितु उपलक्षण है। अन्य गृहों से भेद बताने के लिए ही अतीत काल में कभी देवदत्त के घर पर काक को देखकर अवर्तमान इस समय उसके गृह का विभेद अन्य गृहों से किया जा रहा है। यदि भक्ति को ध्वनि का उपलक्षण मानें, तो यह भक्ति वक्षमाण प्रभेद वाले ध्वनि के किसी विशेष भेद

---

१. ध्वन्यालोक १/१८

का (काकवद देवदत्तस्य गृहम्) के समान अविद्यमान व्यावर्तक उपलक्षण हो सकती है । ऐसा कहा जाने पर यह भी ही ठीक मानना चाहिए कि अभिधा व्यापार से ही समग्र अलंकार वर्ग भी लक्षित हो सकता है, तो वैयाकरणों या मीमांसकों द्वारा अभिधा का लक्षण कर देने पर और उसके द्वारा समस्त अलंकारो के लक्षित हो जाने से अलग-अलग अलंकारों का लक्षण करना व्यर्थ ही है। ध्वनि का अस्तित्व तो प्राचीन लोगों ने भी स्वीकार किया है। अत: ध्वन्यालोक की प्रथम कारिका में ध्वनि के लिए जो 'भाक्तमाहुस्त दन्ये' कहा गया है, उसका अब तक पूर्ण रूप से निराकरण किया गया तथा भक्ति न तो ध्वनि का लक्षण है और न ही उपलक्षण है। ध्वनि विरोधी तृतीय-पक्ष-अलक्षणीयता वादी आनन्द वर्द्धन ने ध्वनि विरोधी जिन तीन पक्षों की कल्पना की है, उनमें तृतीय अलक्षणीयता वादी पक्ष सम्भावित पक्ष है। इसका निर्देश परोक्ष लिट् लकार "ऊचः" के प्रयोग द्वारा किया गया है । इस पक्ष वाले ध्वनि का अनुभव तो करते हैं, परन्तु उसकी व्याख्या को असम्भव बताते हैं। ध्वनिकार ने इसी से "केचिद् वाचां स्थितमविषये तत्वमुचुस्तदीयं" का प्रयोग किया है । स्पष्ट है कि इस पक्ष वाले ध्वनि को सहृदय संवेद्य मानते हुए भी उसे वाणी के लिए अगोचर मानते हैं। ध्वनिकार ने इनको लक्षण करने में अप्रगल्भ कहा है "केचित् पुनर्लक्षणकरणाशालीन बुद्धयोध्वनेस्तत्वं गिरामगोचरम् सहृदय-हृदय संवेद्यमेव समाख्यातवन्त: ।" अर्थात् लक्षण निर्माण में अप्रगल्भ बुद्धि किन्हीं तीसरे प्रकार के वादी ने ध्वनि के तत्व को केवल सहृदय हृदय संवेद्य और वाणी के परे अर्थात् अलक्षणीय अनिर्वचनीय कहा है। उनके मत से 'ध्वनि न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा स्वयं तदन्तःकरणेन ग्रह्यते' के समान है ।

इस मत में ध्वनि के अस्तित्व में विश्वास के कारण यह एक सम्भावित पक्ष है। इस कल्पना या सम्भावना का आधार भरत का नाट्यशास्त्र, भामह का काव्यालंकार, उद्भट का भामह विवरण, वामन का काव्यालंकार सूत्र और रुद्रट का काव्यालंकार है। यह पक्ष अज्ञान मूलक होने के कारण अभाववादी और भाक्तवादी की तुलना में कम दूषित है। इसमें ध्वनि का न तो स्पष्ट निषेध ही है और न उसका अपह्नव ही किया गया है । इनके विचार में जब प्राचीन आचार्य ध्वनि मार्ग का स्पर्श मात्र करके छोड़ गये हैं तो भला अन्य लोग इसका लक्षण कैसे कर सकते हैं। इसी से इसे, "ध्वनेस्तत्वं गिरामगोचरं सहृदय हृदय संवेद्येमेव समाख्यातवन्तः" कहा गया है ।

समाधान—इस मत का खण्डन ध्वनिकार ने ध्वन्यालोक के प्रथम

उद्योत के अन्त में किया है कि यदि अन्य लोगों ने इस ध्वनि का स्पर्श भी कर दिया तो इससे हमारे ही मत की सिद्धि हो जाती है, क्योंकि ध्वनि का अस्तित्व तो ध्वनिकार भी सिद्ध करना चाहता है और इसे विरोधी पक्ष भी स्वीकार कर लेता है। इस ध्वनि के स्वरूप को ध्वनिकार ने बताया है कि यह ध्वनि प्रतिपादन परकयुक्ति विद्वन्मतमूलक है। यों ही अप्रामाणिक स्वकल्पित रूप में इसे प्रचलित नहीं किया गया है। प्रथम विद्वान् वैयाकरण हैं और व्याकरण सभी विद्याओं का मूल है। वैयाकरण सुनाई देने वाले वर्णों को ध्वनि कहते हैं। इसी प्रकार इनके मत को मानने वाले काव्यतत्वदर्शी अन्य विद्वानों ने भी वाच्य-वाचकव्यंग्यार्थ, व्यापार और काव्य पद से व्यवहार्य इन पांचों को ध्वनि कहा है।[1] अतः स्पष्ट हैं कि इसका लक्षण पहले से किया जा रहा है अतः अलक्षणीयता का दोषारोपण निरर्थक सिद्ध हो जाता है।

ध्वनि के विभिन्न अर्थ और लक्षण—ध्वनि शब्द की व्युत्पत्ति कई प्रकार से हो सकती है। 'ध्वनतीति ध्वनिः' इस व्युत्पत्ति से वाच्यार्थ और वाचक का;, 'ध्वन्यन्ते इति ध्वनिः' से व्यंग्यार्थ का; 'ध्वननं ध्वनिः' से व्यञ्जना व्यापार का और 'ध्वन्यतेऽस्मिन्निति ध्वतिः से पूर्वोक्त ध्वनि चतुष्टय युक्त काव्य का बोध होता है। यह व्याख्या 'लोचनकार' के अनुसार है। इस प्रकार अन्यों के द्वारा ध्वनि का लक्षण कर देने पर ध्वनिकार अपने को अभिमत सिद्धि वाला समझने लगता है 'स च प्राग्रेव ससिद्ध इति । अयत्न-सम्पन्न समीहितार्थाः सम्पन्नाः स्म।"

ध्वनिकार ने तो कई स्थलों पर और कई रूपों में ध्वनि का स्पष्ट लक्षण करके अलक्षणीयतावाद का खण्डन किया है। प्रथम उद्योत की तेरहवीं कारिका इसी उद्देश्य की सिद्धि के लिये हैं। यथा:—

> यत्रार्थः शब्दो वा तदर्थमुपसर्जनीकृत स्वार्थौ ।
> व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभि कथितः ।।

---

१. सूरिभिः कथितः इति विद्वदुपज्ञेयमुक्तिः न तु यथा कथञ्चित् प्रवृत्तेति प्रतिपाद्यते प्रथमे हि विद्वांसो वैयाकरणाः व्याकरणमूलत्वात् सर्वविद्यानाम्। ते च श्रूयमाणेषु वर्णेषु ध्वनिरिति व्यवहरन्ति । तथैवान्यैस्तन्मतानुसारिभिः सूरिभिः काव्यतत्वार्थ दर्शिभिर्वाचकसंमिश्रशब्दात्मा काव्यमित व्यपदेशो व्यञ्जकत्व साम्याद् ध्वनिरित्युक्तः। ध्वन्यालोक प्रथम उद्योत।

अर्थात् जहाँ अर्थ 'स्व' को अथवा शब्द अपने अर्थ को गुणीभूत करके उस प्रतीयमान अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं, उस काव्य-विशेष को विद्वान लोग ध्वनि काव्य कहते हैं। यहाँ 'व्यङ्क्तः' पद द्वारा द्विवचन का प्रयोग सूचित करता है कि व्यंग्य अर्थ की अभिव्यक्ति में शब्द और अर्थ दोनों ही कारण होते हैं। पहला प्रधान कारण और दूसरा सहकारी कारण। 'यत्रार्थः शब्दो वा' में 'वा' पद शब्द और अर्थ के प्राधान्याभिप्रायेण विकल्प को बोधित करता है। इसी कारण शाब्दी और आर्थी दो प्रकार की व्यञ्जना मानी गई है। अतः जिन्होंने सहृदय संवेद्य ध्वनि की आत्मा को अवर्णनीय अलक्षणीय कहा है, उन्होंने भी सोच-समझकर नहीं कहा है, क्योंकि ध्वन्यालोककार ने ध्वनि के सामान्य और विशेष लक्षण कई प्रकार से प्रतिपादित किया है। इतने पर भी यदि इसे अलक्षणीय कहा जाता है, तो ऐसी अलक्षणीयता तो सभी वस्तुओं में आ जायगी।

ध्वनि के सामान्य और विशेष लक्षणों की चर्चा निम्नलिखित स्थानों पर ध्वनिकार ने की है:—

१. योऽर्थः सहृदय श्लाघ्यः काव्यात्मेति व्यवस्थितः १/२ ध्वन्यालोक इसमें प्रतीयमान अर्थ के गुण की चर्चा की गई है। यह अर्थ सहृदय-श्लाघ्य है, काव्य की आत्मा है, ऐसा निश्चित किया गया है। इसी कारिका की वृत्ति में स्पष्ट किया गया है कि "काव्यस्य हि ललितोचित् सन्निवेशचारुणः शरीरस्येवात्मासारस्य तया स्थितः। सहृदय श्लाघ्यः योऽर्थः ......।" शरीर में आत्मा के समान सुन्दर उचित रचना के कारण रमणीय काव्य के सार रूप में स्थित सहृदय प्रशंसित वह अर्थ मानना चाहिए।

२. केचित् पुनर्लक्षणकरणशालीन बुद्धयो ध्वनेस्तत्वं गिरामगोचरं सहृदय हृदयसंवेद्यमेव समाख्यातवन्तः।

३. प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकविनाम्॥
यत् तत् प्रसिद्धावयवाति रिक्तं विभाति लावण्यमिवांगनासु।१।४

"यथा हि अंगनासु लावण्यं पृथङ्निर्वर्ण्यमानं निखिलावयवव्यतिरेकि किमपन्यदेव सहृदयलोचनामृतं तत्वान्तरं तदवदेव सोऽर्थः॥" प्रतीयमान अर्थ अन्य ही होता है, जो महाकवियों की वाणी में प्राप्त होता है। यह अर्थ सुन्दरियों में जैसे अवयव से भिन्न उनका सौन्दर्य होता है, उसी प्रकार प्रतीयमान अर्थ भी वाच्य अर्थ से भिन्न सहृदय के लिये अमृत तुल्य कोई अन्य ही तत्व होता है। इसमें दो बातें बताई गई हैं (१) प्रतीयमान अर्थ महाकवियों की वाणी में ही

प्राप्त होता है (२) वह अवयवादि से भिन्न कोई और ही तत्व है, जो इनमें रहते हुए भी इनसे (वाच्यादि) भिन्न होता है।

४. 'अर्थो गुणीकृतात्मा गुणीकृताभिधेयः, शब्दो वा यत्रार्थान्तरमभिव्यनक्ति स ध्वनिरिति।'' जहाँ अर्थ अपने को अथवा शब्द अपने अर्थ को गुणीभूत करके अर्थान्तर (प्रतीयमान) को अभिव्यक्त करते हैं, उसे ध्वनि कहते हैं। यहाँ अर्थ प्रतीयमान होने मात्र से ध्वनि संज्ञा को प्राप्त नहीं करता, अपि तु व्यंग्यार्थ की प्रधानता में ही ध्वनि की स्थिति स्वीकार की गई है।

५. यत्रार्थो वाच्यविशेषः, वाचक विशेष शब्दो वा तमर्थं व्यङ्क्तः स काव्यविशेषो ध्वनिरिति।

६. वाच्य व्यतिरिक्तस्य वाच्यवाचकाभ्यां तात्पर्येण प्रकाशनं यत्र व्यंग प्रधाने स ध्वनिः। वाच्यार्थ से भिन्न अर्थ को वाच्यवाचक द्वारा तात्पर्य रूप से व्यंग्य का प्राधान्य होते हुए जहाँ प्रकाशित किया जाता है, उसको व्यंग्य कहते हैं। इस स्वरूप निर्धारण में चार बातें स्पष्ट होती हैं (१) वह अर्थ वाच्यार्थ से भिन्न होता है (२) उसका प्रकाशन वाच्य-वाचक के द्वारा ही किसी न किसी रूप में होता है। (३) यह अर्थ तात्पर्य रूप से व्यक्त होता है। (४) इसमें व्यंग्यार्थ की प्रधानता होती है।

७. उक्त्यन्तरेणाशक्यं यत् तच्चारुत्वं प्रकाशयन्।
शब्दो व्यञ्जकतां बिभ्रद् ध्वन्युक्तेर्विषयी भवेत्॥१।१५

जो चारुत्व किसी अन्य उक्ति से प्रकाशित नहीं किया जा सकता है, उसको प्रकाशित करने वाला व्यञ्जना-व्यापार युक्त शब्द ही ध्वनि कहलाने का अधिकारी हो सकता है। इस स्वरूप से स्पष्ट है कि (१) शब्द-व्यञ्जना-व्यापार से युक्त होना चाहिए (२) उसके द्वारा एक विशेष चारुत्व का प्रकाशन होना चाहिए, यह चारुत्व किसी दूसरी उक्ति द्वारा सम्भव नहीं हो सकता।

८. ''तस्य हि ध्वनेः सकलसत्कविकाव्योपनिषद्भूतं अतिरमणीयं अणीयसीभिरपि चिरन्तन काव्य लक्षण विधायिनां बुद्धिभिरनुन्मिलितपूर्वम्।'' उस ध्वनि का स्वरूप समस्त सत्कवियों के काव्यों का परम् रहस्यभूत अत्यन्त सुन्दर प्राचीन लक्षणकारों की सूक्ष्मतर बुद्धियों से भी अप्रस्फुटित ही रहा है। इस वाक्य में दो विशेषताओं की चर्चा हुई है। (१) सत्कवियों के काव्यों का वही रहस्यभूत तत्व हैं तथा अत्यन्त सुन्दर है (२) उसकी स्थिति तो सदा से रही है, पर प्राचीन काव्य लक्षणकारों की बुद्धि से भी प्रकाशित नहीं हो सकी है।

उपर्युक्त सभी उद्धरणों में ध्वनि का लक्षण किसी न किसी रूप में दिया गया है। इससे ध्वनि की स्थिति मानते हुए उस पर अलक्षणीयता का जो आरोप लगाया जाता है, उसका अपने आप ही निराकरण हो जाता है। ध्वनि-कार ने आगे चलकर एक ही वाक्य द्वारा सभी पूर्वपक्षियों का खण्डन कर दिया है। उन्होंने प्रयुक्त वाक्यांश 'सकल सत्कवि काव्योपनिषद्भूतं अतिरमणीयं अणीयसीभिरपिचिरन्तन काव्य लक्षण विधायिनां बुद्धिभिरनुन्मिलितपूर्वं से क्रमशः 'कस्मिश्चदप्रकारलेशे' वाले भाक्तवादी मत का 'अपूर्व समाख्यामात्र करणे' से गुणालंकार अन्तर्भूततत्ववादी का खण्डन किया है। इसके उपरान्त, 'अथ च' शब्द के प्रयोग से 'तत्समयान्तः पातिनः काश्चित्'' पक्ष का, तथा रामायण के नामोल्लेख से यह व्यक्त किया गया है कि लौकिक साहित्य के आदि से ही सबने उसका आदर किया है। अतः इस स्वरूप निर्धारण में ध्वनि-विषयक स्वकल्पित दोष नहीं है। इस प्रकार 'लक्षयतां' पद से यह व्यक्त किया गया है कि यह ध्वनि 'वाचां स्थितमविषये' नहीं हो सकता है। इस प्रकार सभी सम्भावित पूर्वपक्षियों का निराकरण करते हुए बताया गया है कि यह ध्वनि अलक्षणीय नहीं है।

अभिधावादी और व्यंजना

प्राचीन संस्कृत लौकिक साहित्य के पश्चात्कालीन युग में लक्षण ग्रन्थों के निर्माण की जो परम्परा चल पड़ी थी, उसमें विभिन्न धाराओं के मनीषियों ने स्वाभिमत काव्य-सम्प्रदायों की स्थापना की। कालक्रम से साहित्य में क्रमशः रस, अलंकार, रीति और वक्रोक्ति सम्प्रदायों का उत्तरोत्तर विकास होता चला गया और अन्ततोगत्वा ध्वनि सम्प्रदाय की स्थापना करने की प्रबल आकांक्षा को लेकर साहित्य में आनन्दवर्धनाचार्य या ध्वनिकार का उदय हुआ। इन्होंने ९वीं शती में अपने पूर्ववर्ती सभी प्रचलित सम्प्रदायों को अपने इस सम्प्रदाय की परिधि में लाकर खड़ा कर दिया तथा ध्वनि के अंगित्व का प्रतिपादन करते हुए अन्य सम्प्रदायों को अंग रूप में मानने का अथक प्रयास किया। आगे चल-कर मम्मट की प्रतिभा का संयोग पाकर यह सम्प्रदाय बड़ा ही प्रबल हो गया और सभी बिरोधियों के मुख सर्वदा के लिए बन्द कर दिये गये। इन दोनों के प्रयास से ध्वनि का जो रूप उपस्थित किया गया वह अपनी महाविषमता के कारण आज तक सर्वमान्य है। इन्होंने काव्य की आत्मा ध्वनि को माना है। "काव्यास्यात्मा ध्वनिः।"[1] परन्तु इस अवस्था को पहुँचने के लिए आरम्भ में बहुत से विरोधियों का सामना करना पड़ा। विरोधियों के इन प्रयासों से ध्वनि की उपादेयता और अधिक सिद्ध होती चली गई तथा ध्वनियुक्त काव्य को ही उत्तम काव्य माना जाने लगा, इसके लिए ध्वनिवादियों को निम्नलिखित विचार सम्प्रदायों का खण्डन करना पड़ा—

१. वैयाकरणमत
२. साहित्यिक मत कुन्तक।
३. वेदान्ती मत अखण्डतार्थतावादी।
४. नैयायिक मत महिमभट्ट।
५. मीमांसकों का मत—कुमारिल, प्रभाकर, भट्टलोल्लट, मुकुलभट्ट।

---

१. ध्वन्यालोक १/१

६. महिमभट्ट का अनुमान ।

७. धनञ्जय और धनिक की अभिधा और तात्पर्या ।

ध्वनिकार ने ध्वन्यालोक में पहिले ही तीन प्रकार के विरोधियों (अभाववादी अलक्षणीयतावादी और भाक्तवादी) का खण्डन कर दिया था । और व्यञ्जना की स्थापना उन्होंने कर दी थी । इस व्यञ्जनावाद का निराकरण करने के लिए ध्वनिकार के विरोधियों का जो वर्ग समक्ष आया उनमें मुकुल भट्ट (अभिधावृत्तिमातृका) धनञ्जय (दसरूपक), भट्टनायक (हृदयदर्पण), लक्ष्य और व्यंग्य का भी अभिधा में ही अन्तर्भाव मानने वाले अभिधावादी कुन्तक (वक्रोक्ति जीवितम्), महिम भट्ट (व्यक्तिविवेक), आदि हैं ।

सुविधा के लिए शब्द की शक्ति के आधार पर विरोधियों को निम्नलिखित वर्गों में माना जा सकता है—

१. अभिधा द्वारा व्यंग्यार्थ का बोध मानने वाले—प्रभाकर भट्ट, धनञ्जय और अलंकारवादी (समासोक्ति, व्याजोक्ति, आक्षेप आदि अलंकारों में) मुकुल भट्ट ।

२. तात्पर्या द्वारा व्यंग्यार्थ को बोध मानने वाले—कुमारिल भट्ट, धनिक भट्टलोल्लट प्रभृति—

३. लक्षणा द्वारा व्यंग्य बोध मानने वाले ।

४. वेदान्तियों का अखण्डतार्थतावादी ।

अभिधा शक्ति से व्यंग्यार्थ बोध का निराकरण—व्यञ्जना के अभिधावादी विरोधियों के अनुसार अभिधा द्वारा ही प्रतीयमान अर्थ का बोध हो जाता है । अतः उसके लिए व्यञ्जना जैसी अलग शक्ति मानने की आवश्यकता नहीं है । इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्त पक्षी (ध्वनिवादी) सर्वप्रथम अभिधा से अतिरिक्त व्यञ्जना की सिद्धि स्वतन्त्र रूप में करता है और विभिन्न उक्तियों द्वारा अपने मत का समर्थन करता है ।

व्यंजना की अलग सत्ता का आधार—साहित्य दर्पणकार ने अभिधा से व्यञ्जना की अलग सत्ता सिद्ध करने के लिए संख्या, स्वरूप, काल, आश्रय, निमित्त, व्यपदेश, कार्य विषय, आदि के आधार को ग्रहण किया है ।[1] और इस प्रकार बाच्य और प्रतीयमान अर्थ की अलग स्थिति मानी गई है ।

---

१. बोद्ध स्वरूप संख्या निमित्त कार्य प्रतीति कालानाम् ।
आश्रय विषयादीनां भेदाद् भिन्नोऽभिधेयतो व्यंग्यः । सा० दर्पण

(क) **बोद्ध के आधार पर अभिधा और व्यंजना की भिन्नता**—ध्वन्यालोककार ने बताया है कि पद पदार्थ में व्युत्पन्न सभी विद्वानों को वाच्यार्थ की प्रतीति हो जाती है। परन्तु प्रतीयमान अर्थ का अनुभव व ज्ञान केवल सहृदय को ही हो सकता है। अतः शब्दार्थ शासन ज्ञान मात्र से ही इस प्रतीयमान अर्थ का ज्ञान नहीं हो सकता है, अपि तु काव्यार्थ तत्वज्ञ सहृदय ही उसका ज्ञाता हो सकता है।[1] इस प्रकार बौद्ध की मानसिक स्थिति अर्थात् सहृदयता और संस्कार के आधार पर वाच्य अर्थ प्रतीयमान अर्थ से भिन्न हो जाता है। इसी से आर्थी व्यञ्जना का भेद बताते हुए 'बोधव्य' की महत्ता को स्वीकार किया गया है।[2] यहाँ पर बोधव्य का अभिप्राय प्रतिपाद्य है, अर्थात् जिसके बोध कराने के लिए बात कही गई हो "बौद्धं योग्यः बोधव्यः बौद्धं: अर्थात् बोधयितुम् अन्तर्भावितुमित्यर्थः।"

(ख) **स्वरूप के आधार पर दोनों में भेद**—वाच्य और प्रतीयमान अर्थों के स्वरूप में भी भिन्नता है। इन दोनों का विशद् वर्णन ध्वन्यालोक के प्रथम उद्योत की प्रथम कारिका से बारहवीं कारिका तक किया गया है और बताया गया है कि जैसे स्त्रियों के अवयवों से भिन्न उनका लावण्य उन्हीं में रहता हुआ भी उनसे भिन्न सत्ता वाला होता है। उसी प्रकार प्रतीयमान अर्थ वाच्य अर्थ पर आधारित होकर भी उनसे सर्वथा भिन्न होता है और लावण्य के समान ही यह अर्थ सहृदयों को चमत्कृत करता है। अतः वाच्यार्थ से इसकी भिन्नता स्वतः सिद्ध है।

(१) वाच्यार्थ सदैव शब्द के शासन के अनुसार रहता है, अर्थात् शब्दों के प्रयोग के अनुसार ही वाच्य अर्थ होता है। परन्तु प्रतीयमान अर्थ का वाच्यार्थ के अनुकूल होना आवश्यक नहीं है। इस प्रकार दोनों के स्वरूप में स्पष्ट रूप से अन्तर दिखाई पड़ता है यथा—

(२) कहीं वाच्य अर्थ विधि रूप होता है और व्यंग्यार्थ निषेध रूप—

भम धम्मिअ बीसत्थो सो सुण हो अज्ज मारिओ देण।
गोलाणइकच्छ कुडंगवासिणा दरिअ सीहेण॥

---

१. शब्दार्थ शासन ज्ञानमात्रेणैव न वेद्यते।
वेद्यते स तु काव्यार्थ तत्वज्ञैरेव केवलम्॥ ध्वन्यालोक १/७
काव्य प्रकाश ३/२१–२२

२. प्रतीयमानं पुनरन्यदेव, वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत् यत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तं, विभाति लावण्यमिवोंगनासु॥
ध्वन्यालोक प्रथम उद्योत १/४

यहाँ वाच्यार्थ विधि रूप है अर्थात् 'हे धार्मिक, अब तुम निश्चिन्त होकर घूमो।' परन्तु व्यंग्यार्थ निषेध रूप है अर्थात् पहले तो तुम्हारे कार्य में बाधा डालने वाला कुत्ता था, परन्तु अब दृप्त सिंह आ गया है और वह इसी गोदावरी के तट के कुंज में रहता है। अत: प्रकट है कि कुत्ते की अपेक्षा सिंह अधिक भयानक होता है। उसकी उपस्थिति में तुम्हारा यहाँ आना हितकर न होगा अत: मत आना। इस प्रकार स्वैर-विहारिणी नायिका अपने संकेत स्थल के कार्य व्यापार को निर्विघ्न समाप्त कर देना चाहती है।

(२) वाच्य निषेध रूप और व्यंग्यार्थ विधि रूप—

अत्ता एत्थ णमिज्जइ एत्थ अहं दिअहए पलोएहि।
मा पहिअ रत्तिअंधअ सेज्जाए मह णिमज्जहिसि॥

यहाँ वाच्यार्थ निषेध रूप है कि मेरी शय्या पर रात्रि में न आना; परन्तु प्रतीयमान अर्थ आने के निमंत्रण में है, क्योंकि सास शैय्या पर निमज्जित रहती है तथा मैं इस शैय्या पर सोती हूँ। इसे भली भाँति देख लो, ऐसा कहना निमंत्रण की ओर ही संकेत कर रहा है। अतः प्रतीयमान अर्थ विधि रूप हुआ।

(३) वाच्य विधि रूप, प्रतीयमान अनुभव रूप—

वच्च भहव्विअ एक्के इहोन्तु णीसासरोइअव्वाई।
मातुज्ज वि तीअ विणा दाक्खेण्ण हअस्स जाअन्तु॥

इस गाथा में 'उसी के पास जाओ' यह वाच्यार्थ विधि रूप है। परन्तु प्रतीयमान अर्थ न विधि है न निषेध रूप है, क्योंकि यह उक्ति खण्डिता-नायिका की है और इससे क्रोध की व्यञ्जना हो रही है। भाव यह है कि 'तुम जाओ।' मैं अकेले ही इस विश्वास और रोते को भोगू। कहीं दाक्षिण्य के चक्कर में पड़कर, उसके बिना तुमको भी यह सब न भोगना पड़े।

(४) वाच्य निषेध रूप और व्यंग्य अर्थ अनुमय रूप—

दे आ पसिअ णिक्तसु मुहससिजोह्णा विलुत्ततमणिवहे।
अहि सारिआणं विग्धं करोसि अण्णाणं वि हआसे॥

'प्रसन्न हो जाओ, लौट आओ, अपने चन्द्रमुख की ज्योत्सना से अंधकार को लुप्त करने वाली तुम अन्य अभिसारिकाओं के कार्य में भी विघ्न डालती हो।" यहाँ वाच्य अर्थ निषेध रूप है और व्यंग्य अर्थ अनुमय रूप है। यहाँ चाटुकारिता रूप व्यंग्य की प्रतीति हो रही है।

इस प्रकार विदित हो जाता है कि वाच्य और व्यंग्य अर्थ के स्वरूप में भिन्नता होती है। वाच्य के विधि रूप या निषेध रूप होने पर आवश्यक नहीं है कि व्यंग्य अर्थ भी विधि रूप या निषेध रूप ही हो। वह उसके विपरीत भी हो सकता है और अनुमय रूप भी हो सकता है। कभी वाच्यार्थ **निन्दा रूप और व्यंग्यार्थ स्तुति रूप** भी हो सकता है।

(ग) **संख्या भेद से वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में भिन्नता**—व्यवहार में यह भी देखा जाता है कि वाच्यार्थ सदैव साक्षात् संकेतित अर्थ को ही आधार बनाता है वह सदा नियत और एक रूप ही रहेका। चाहे शब्द का प्रयोग किसी भी प्रकार किया जाय, परन्तु उसकी एक रूपता में विभेद नहीं हो सकता है। परन्तु प्रतीयमान अर्थ तत् तत् प्रकरण, वक्ता और श्रोता आदि की वैयक्तिक विशेषताओं के साथ नानात्व का रूप धारण करता है।[1] इस प्रकार व्यंग्य अर्थ कई हो सकते हैं। जबकि वाच्यार्थ एक ही होता है। यथा—"गतोस्तमर्कः सूर्य अस्त हो गया। इस वाच्यार्थ का प्रकरण, वक्ता, बौद्ध आदि से व्यंग्यार्थ कई हो सकते हैं। जैसे—सेनापति पक्ष में—शत्रुओं पर आक्रमण कर दो, अभिसारिका पक्ष में—अभिसार करने का समय हो गया है, प्रतीक्षा करने वाली पत्नी के पक्ष में—तुम्हारे पति आने ही वाले हैं; श्रमिक पक्ष में—कर्म करने से निवृत हो जाओ, धार्मिक पक्ष में—सन्ध्या-वंदन का समय हो गया, बाहर खेलने वाले बालक के पक्ष में—दूर न जाना, गोपाल के पक्ष में—गायों को घर में प्रवेश कराओ आदि वक्ता और बोद्धा के हिसाब से व्यंग्य अर्थ की अनेक संख्या हो सकती है। अतः संख्या के आधार पर भी वाच्यार्थ सदैव नियत और एक होता है। और व्यग्यार्थ अनियत और अनेक हो सकते हैं। इस प्रकार 'कास्य वान भवति रोलो'……। वाले श्लोक में भी कई व्यंग्यार्थ की प्रतीति हो सकती है।

(ग) **निमित्त भेद**—वाच्यार्थ बोध का कारण संकेतग्रह है अर्थात् शब्द के उच्चारण मात्र से जिस सीधे अर्थ का ज्ञान होता है वही वाच्यार्थ होता है; परण्तु व्यंग्यार्थ का ज्ञान उसी को हो सकता है। जिसकी प्रतिभा निर्मल हो

---

२. (i) सोऽर्थो यस्मात् केवलं काव्यार्थतत्व तैरेव ज्ञायते। यदि च वाच्य रूप एवासार्वदः स्यात् तद् वाच्य वोधकस्वरूपपरिज्ञानादेव तत्प्रतीतिः स्यात्। ध्व० प्रथम उ० पृ० ४६

(ii) वेद्यते स तु काव्यार्थतत्वज्ञैरेव केवलम्। ध्वन्यालोक पहला उद्योत

और जो सहृदय काव्यतत्वज्ञ हो।[1] अतः दोनों प्रकार के अर्थों के ज्ञान के लिए 'मिमित्त' में भी अन्तर होने से दोनों में भेद माना जायगा।

(ङ) **कार्य-भेद**—दोनों में कार्य का भी भेद है। वाच्यार्थ केवल अर्थ प्रतीति मात्र कराता है। इससे वस्तु, वर्ण, गुण आदि के सम्बन्ध में एक सामान्य ज्ञान की प्रतीति होती है। परन्तु प्रतीयमान अर्थ चमत्कार का जनक होता है।

(च) **प्रतीति भेद**—वाच्यार्थ की प्रतीति अर्थ रूप में और व्यंग्यार्थ की चमत्कार रूप में होती है। अत: दोनों की प्रतीति में भी भिन्नता है।

(छ) **काल भेद**—वाच्यार्थ का ज्ञान हो जाने के उपरान्त ही व्यंग्यार्थ का ज्ञान होता है, यद्यपि इस क्रम का स्पष्ट ज्ञान नहीं होता, फिर भी उन दोनों में पूर्वापर सम्बन्ध रहता ही है। अतः इन दोनों के ज्ञान में काल का भी भेद रहता है।

(ज) **आश्रय भेद**—वाच्यार्थ शब्द के आश्रित रहता है और व्यंग्यार्थ शब्द के अतिरिक्त शब्दांश, अर्थ, वर्ण, संघटना तथा शब्द के एकदेश प्रकृति प्रत्यय, आदि में भी रह सकता है। अतः आश्रय का भी भेद है।

(झ) **विषय भेद**—वाच्य और व्यंग्य अर्थ के विषय में भी भेद हो सकता है। ऊपर के उदाहरणों में, जहाँ स्वरूप के आधार पर वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ के भेद को बताया गया था, वहाँ चारों उदाहरणों में वाच्य और व्यंग्य अर्थ के विषय क्रमशः एक ही है अर्थात् दोनों के विषय धार्मिक, पथिक, प्रियतम और अभिसारिका हैं। परन्तु कहीं-कहीं पर दोनों के विषय में भिन्नता भी होती है। जैसे—

> वास्य वा न भवति रोषो दृष्टवा प्रियायाः सव्रणमधरम्।
> सभ्रमर पद्माघ्रायिणि वारितवामे सहस्वेदानीम्॥

"अपनी प्रिया के अधर-व्रण को देखकर किसको रोष नहीं होता। मना करने पर भी भ्रमरयुक्त कमल को सूंघने वाली, अब तू इसका फल भोग।" यहाँ चौर्यरति के समय अविनीता के अधरों में व्रण देखकर उसका पति उसे

---

१. अपि च वाच्योऽर्थः सर्वान् प्रतिपत्तॄन् प्रति एक रूप एवेतिनियतोऽसौ प्रतीयमानस्तु तत्तत्प्रकरणवक्तृप्रतिपत्यादि विशेषसहायतया नानात्वं भजते। का० पृ० ५ उल्लास

कहीं व्यभिचारिणी न समझ बैठे, इसलिए उसकी सखी पास में वर्तमान पति को अनदेखा सा करती हुई उसे सुनाकर उक्त बचन को कहती है। इस प्रसंग में वाच्यार्थ का विषय तो वह दुश्चरित्रा स्त्री है। परन्तु व्यंग्यार्थ यह है कि यह अधर व्रण परपुरुष जन्य न होकर भ्रमर दंश जन्य है। अतः इस स्त्री का अपराध नहीं है। इस व्यंग्य का विषय नायक है। अतः दोनों के विषय भेद से भी दोनों में भेद माना जायगा, इसी प्रकार इस पद्य में वाच्यार्थ का विषय सदैव अविनीता स्त्री ही होगी, परन्तु व्यंग्यार्थ का विषय प्रतिनायक, सपत्नी, पड़ौसी आदि भी हो सकते हैं।

इस प्रकार वाच्य अर्थ और वाच्य सामर्थ्य से आक्षिप्त व्यंग्य में भेद दिखाने के लिए अभी तक उपर्युक्त जितनी उक्तियां दी गई हैं, उन सबका आधार प्रतीयमान अर्थ का एक विशेष भेद **वस्तु मात्र** रहा है, अलंकार और रसादि भेद में भी यह प्रतीयमान अर्थ वाच्यार्थ से भिन्न होता है। ध्वन्यालोक के द्वितीय उद्योत में अलंकार भेद की वाच्यार्थ से भिन्नता प्रतिपादित की गई है रसध्वनि में भी प्रतीयमान अर्थ वाच्यार्थ से भिन्न ही होता है। क्योंकि—

क्या रस वाच्य है ?—रसादि लक्षण भेद वाच्य की सामर्थ्य से आक्षिप्त होकर ही प्रकाशित होता है, साक्षात् शब्द व्यापार का विषय नहीं होता है। अतः यह भी वाच्यार्थ से भिन्न ही होगा[1] यदि इस प्रतीयमान रसादिलक्षण अर्थ को वाच्य का विषय माना जाय तो यह दो प्रकार से सम्भव हो सकता है।

(१) स्वशब्द वाच्य हो सकता है अर्थात् श्रृङ्गार आदि रसों का नाम मात्र ले लेने से इसकी वाच्यता।

(२) विभावादि के प्रतिपादन द्वारा रस की वाच्यता होगी।

यदि पहले को ग्रहण करें तो स्वशब्द से निवेदित न होने से रसादि का अनुभव न होगा, जहाँ कहीं अनुभव होता भी है वहाँ विभावादि के प्रतिपादन के द्वारा ही होगा। अतः सब स्थानों पर स्वशब्द वाच्यता का महत्व नहीं होता है। संज्ञा शब्दों से वह उत्पन्न नहीं होता, केवल उसका अनुवाद हो सकता है और यदि केवल रसादि के संज्ञा शब्दों का प्रयोग किया जाय तो उसमें कुछ भी रसवत्ता नहीं होती। अतः स्पष्ट है कि रसादि संज्ञा शब्दों के अभाव में भी

---

१. तृतीयस्तु रसादिलक्षणः प्रभेदो वाच्यसामर्थ्याक्षिप्तः प्रकाशते न तु साक्षाच्छब्द व्यापार विषय इति वाच्याद् विभिन्नएव। ध्वन्या० प्र० उ० पृष्ट २६।

विशिष्ट विभावादि से ही रस की प्रतीति होती है और विभावादि के न रहने पर केवल संज्ञा शब्द के प्रयोग से रसादि की प्रतीति नहीं होती है। अतः अन्वय-व्यतिरेक से भी वाच्य सामर्थ्य से अक्षिप्त ही रसादि होते हैं, कभी भी वाच्य नहीं होते।[1] इस प्रकार 'प्रतीयमान अर्थ की प्रधानता वाले ध्वनि के तीन भेदों वस्तु ध्वनि, अलंकार ध्वनि और रस ध्वनि में वाच्य अर्थ और प्रतीयमान इन दोनों प्रकार के अर्थों की अलग-अलग सत्ता का प्रतिपादन किया गया है। अतः अन्य साधक उक्तियों द्वारा दोनों प्रकार के अर्थों की भिन्नता बताई जायगी।

साहित्य शास्त्र की दृष्टि से व्यंजना की सिद्धि—

दुष्ट प्रयोग के आधार पर व्यन्जना की सिद्धि—अभी तक वाच्य और प्रतीयमान अर्थ की भिन्नता का प्रतिपादन किया गया है। और जहाँ पर प्रतीयमान अर्थ की प्रधानता होती है, वहीं पर ध्वनि कही जाती है। शब्द की जिस शक्ति द्वारा इस ध्वनि का बोध सहृदयों को होता है, उसे व्यञ्जना शक्ति कहते हैं। यह व्यञ्जना अभिधा शक्ति से निश्चित रूप से भिन्न है, क्योंकि अभिधा से वाच्य अर्थ का ही बोध होता है, परन्तु व्यञ्जना से प्रतीयमान अर्थ की प्रधानता वाले काव्य का बोध होता है। अतः दोनों में भिन्नता है। इसी भिन्नता का प्रतिपादन काव्य प्रकाश के पञ्चम उल्लास में विभिन्न साहित्यिक उक्तियों द्वारा लिया गया है। आचार्य मम्मट ने बताया है कि काव्य में बहुधा देखा जाता है कि किन्हीं शब्दों के क्रम में उलट फेर कर देने से उन शब्दों के साधु प्रयोग के स्थान पर दुष्ट प्रयोग हो जाता है और उनसे अश्लीलत्व की व्यञ्जना होने लगती है। यदि ऐसे स्थानों पर व्यञ्जना शक्ति को न माना जाय तो अभिधा द्वारा इस प्रकार के 'दुष्ट प्रयोग' का अवसर ही नहीं आ सकता है। उदाहरणतः 'कुरु रुचिम्' पद का सामान्य अर्थ स्पष्ट ही है। यदि इसी को उलटकर 'रुचिंकुरु' कर दिया जाय तो यह 'दुष्ट प्रयोग' हो जाता है, क्योंकि इस पद में जो श्रूयमाण 'चिङ्कु' शब्द है, उससे एक असभ्य अर्थ (भगनासा या स्त्री का योन्यङ्कुर) निकल पड़ता है। यदि अभिधा द्वारा केवल एक अन्वित अर्थ का ही बोध माने, जैसा मीमांसक मानते हैं, तो इस अश्लील अर्थ की जो व्यञ्जना यहाँ हो रही है उसका बोधक क्या अभिधा ही होगा? वास्तव में यह अर्थ अभिधेय नहीं कहा जा सकता है, यदि एक क्षण के लिए,

---

१. तस्मादन्वय—व्यतिरेकाभ्यांभिधेयसामर्थ्याक्षिप्तत्वमेव रसादीनाम् न त्वभिधेयत्वं कथंचित् इति तृतीयोऽपि प्रभेदो वाच्याद् भिन्न एवेति स्थितम्। ध्व० प्र० उ० २६।

इसे अभिधेय मान भी लें, तो यह अर्थ जो 'कुरु रुचिम्' के शब्द क्रम को उलट-कर 'रुचिम् कुरु' करने से बना है, वह इन दोनों शब्दों का अन्वित अर्थ तो हो ही नहीं सकता है, क्योंकि 'चिङ्कु' शब्द 'रुचिम्' के 'चिम्' और 'कुरु' के 'कु' के योग से बना है, जो 'रुचिम्-कुरु' का अन्वित अर्थ नहीं है। अतः अभिधा द्वारा इस अर्थ का बोध नहीं माना जा सकता है। प्रयोग में इसी अश्लीलता को बचाने के लिए 'रुचिं कुरु' प्रयोग को बचाया जाता है, क्योंकि व्यञ्जना द्वारा इसका ज्ञान हो जाता हैं।

दोष की नित्यता अनित्यता के आधार पर भेद—आलङ्कारिकों ने काव्य में दो प्रकार के दोषों का वर्णन किया है। (१) नित्य दोष–जो किसी भी प्रकार की रस ध्वनि आदि में मान्य नहीं है। रस, भाव, रसाभास, भाव-सन्धि, भाव शबलता, भाव शान्ति आदि सभी में इन नित्य दोषों को त्याज्य माना गया है, व्याकरण नियमों के प्रतिकूल प्रयोग को नित्य दोष–असाधुत्व–दोष के अन्तर्गत मानते हैं और 'कष्टत्व' 'श्रुति-कटुत्व' जो करुण शृंगार आदि रसों में बाधक होता है, रौद्र रस में साधक हो जाता है। अतः इसकी नित्यता में रसों के आधार पर अन्तर आता चला जाता है।

इन नित्य–अनित्य दोषों का विभाजन तभी उचित कहा जा सकता है, जब व्यंग्य व्यञ्जक भाव–व्यञ्जना व्यापार को मान लिया जाय। यदि श्रुति-कटुत्व आदि अनित्य दोषों के विभाजन में किसी विशेष शब्द का अभिधा-गम्य अर्थ ही माने और व्यञ्जना व्यापार गम्य न माने तो ऐसी दशा में किसी शब्द का अभिधा–बोध्य अर्थ तो सदैव एक सा ही रहता है और उसके गुणादि में कोई अन्तर नहीं आना चाहिए, परन्तु व्यवहार में वही श्रुतिकटुत्व दोष जो रौद्र रस का साधक है, करुण में बाधक बन जाता है। अभिधेय अर्थ तो सदा एक रहता है और उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन सम्भव नहीं है, परन्तु यहाँ जो परिवर्तन हो जाता है, वह अभिधा-व्यापार जन्य कदापि नहीं हो सकता है। उसके लिए व्यञ्जना का मानना अनिवार्य हो जाता है। अभिधा बोध्य अर्थ सदा एक रहता है परन्तु व्यञ्जना बोध्य अर्थ में नानात्व होता है। यह बात ऊपर संख्या-भेद के प्रकरण में बताई जा चुकी है। अतः व्यंग्यार्थ के विभिन्न रूप होने के कारण ही एक ही श्रुतिकटुत्व जहाँ शृंगार में परित्याज्य है; वही रौद्र में उपादेय भी सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार व्यंग्यार्थ की अनुकूलता और प्रतिकूलता के आधार पर ही दोषों का यह विभाजन किया गया है। इस दृष्टि से भी व्यञ्जना की अलग सत्ता मानी जाती है।

(ग) **काव्य-सौन्दर्य-वर्द्धक पदों के प्रयोग का औचित्य**—आलङ्कारिकों

के मत में किसी विशिष्ट पद का किसी विशेष प्रकाण में सौन्दर्य–वर्द्धक अर्थ होता है, जो सामान्य प्रयोग में वैसा नहीं माना जा सकता है, जैसे 'कुमार–सम्भव' के पञ्चम सर्ग में "द्वयंगतं सम्प्रति शौचनीयतां समागमप्रार्थनया कपालिन !" में कपालिन पद सौन्दर्य–वर्द्धक रूप में ही प्रयुक्त हुआ है। अभि-धेयार्थ में तो कपाली और पिनाकी का एक ही शिव परक अर्थ है। दोनों पर्याय रूप में आते हैं। प्रसंग के अनुकूल इस स्थान पर कपाली खप्परधारी शिव का प्रयोग करके उनकी निन्दा ही अभिव्यञ्जित की गई है। यदि पिनाकी शब्द का प्रयोग किया जाता तो उसका शिव के वीर भावाविष्ट अर्थ की प्रशंसात्मक अभिव्यञ्जना होती जो प्रस्तुत प्रसंग में कोई भी चमत्कार लाने में सक्षम न हो पाता। क्योंकि यहाँ पर शिव की निन्दा द्वारा पार्वती के मन में उनके प्रति विराग उत्पन्न करना ही कवि कालिदास का अभिप्रेत है। पिनाकी शब्द से पिनाक को धारणा करने वाले शिव के वीर रुप का ही चित्र समक्ष आता है। अत: कपाली शब्द में जो एक निन्दात्मक विशेष चमत्कार उत्पन्न हो गया है तथा जो अधिक उपयुक्त और काव्यानुगुण प्रयोग है, वह व्यञ्जना व्यापार को माने बिना केवल अभिधा से सम्भव नहीं हो सकता है।

(घ) वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ की प्रतीति में बोद्ध, स्वरूप, संख्या, काल आदि की चर्चा की जा चुकी है। इन आधारों पर भी वाच्य और व्यंग्य अर्थों की अलग-अलग सत्ता सिद्ध हो जाती है। स्वरूप भेद में वाच्य और व्यंग्य अर्थ की भिन्नता तीनों रूपों में दीख पड़ती है—

(१) विधि–निषेध और अनुमय रूप में[1]
(२) निन्दा और स्तुति रूप में[2]
(३) संशय, शान्त तथा शृङ्गारी रूप में[3]

(ङ) **वाच्य और व्यंग्य के कारणभूत वाचक और व्यंजक शब्द के भेद का आधार**—व्यवहार में माना जाता है कि विभिन्न दो वस्तुओं में धर्म-भेद के कारण ही उन दोनों को एक नहीं मान सकते हैं। एक वस्तु का जो कारण है वह दूसरी वस्तु का भी कारण नहीं हो सकता है, यदि दोनों के धर्मों में विभिन्नता हो। वाच्य और व्यंग्य अर्थ ही अलग-अलग नहीं होते हैं, अपितु

---

१. ध्यन्यालोक प्रथम उद्योत पृष्ठ २०–२२–२३–२५
२. का० प्र० पृष्ठ २४३ उदाहरण संख्या १३४
३. का० प्र० पृष्ठ २४३ उदाहरण संख्या १३३

इन अर्थों के द्योतक वाचक और व्यञ्जक शब्दों में भी अन्तर रहता है। वाचक शब्द सदैव ही अर्थ व्यञ्जक होता है; परन्तु निरर्थक अवाचक शब्दों से भी व्यञ्जना हो सकती है, अर्थात् वाचक को अर्थ की अपेक्षा रहती है और व्यञ्ज को नहीं भी रहती है। वाचक शब्दों द्वारा अभिधा का व्यापार साक्षात् संकेतित अर्थ को लेकर कार्य करता है, परन्तु व्यञ्जना का व्यापार शब्द के साक्षात् संकेतित अर्थ का शासन नहीं मानता। इस प्रकार कार्य-क्षेत्र में अर्थ के साक्षात् और असाक्षात् संकेतित अर्थ का भी प्रभाव वाच्य और व्यंग्य पर बना रहता है। इस प्रकार वाचक और व्यञ्जक शब्द भी अलग-अलग मानने पड़ेंगे। ऐसी दशा में वाच्य और व्यंग्य अर्थ भी भिन्न-भिन्न ही होंगे। और उन अर्थों की बोधिका अभिधा और व्यञ्जना शक्ति को भी भिन्न मानना पड़ेगा। इस बात का समर्थन ध्वनिकार ने भी किया।

'अर्थं चार्थः स्वरूप भेदः—यद् गुणवृत्तिरमुख्यत्वेन व्यवस्थितं वाचकत्वमेवोच्यते, व्यञ्जकत्वं तु वाचकत्वादत्यन्तं विभिन्नमेव"[1]

(च) प्रयोग का आधार—ध्वनिवादियों ने मध्यम काव्य को गुणीभूत व्यंग्य काव्य कहा है। इसके असुन्दर व्यंग्य नामक भेद में व्यंग्य अर्थ की यद्यपि प्रतीति होती है, परन्तु इसकी अपेक्षा वाच्यार्थ ही अधिक चमत्कार युक्त होता है। इस कारण से तात्पर्य की चरम विश्रान्ति वाच्यार्थ में ही मानी जाती है। इस प्रकार इसमें एक अर्थ वाच्यार्थ होता है, जो अधिक चमत्कार युक्त होता है, तथा कवि का तात्पर्य विषयीभूत अर्थ भी वहीं होता है। यह अर्थ साक्षात् संकेतित होता है। अतः निस्संदेह यह अभिधा व्यापार का कार्य माना जायगा। इसके अतिरिक्त जो दूसरा अर्थ प्रतीयमान रूप में प्रतीत होता रहता है तथा जो वाच्यार्थ की अपेक्षा कम सुन्दर है, और जो कवि का तात्पर्य विषयीभूत अर्थ नहीं है। वह अर्थ किस व्यापार का कार्य माना जायेगा ! क्योंकि अभिधा तो अपने कार्य को पूर्ण कर चुकी है अतः निस्सन्देह यहाँ पर व्यञ्जना नामक शक्ति का ही व्यापार मानना पड़ेगा। यथा 'ग्राम तरुणं........' श्लोक में[2] पूर्व संकेतानुसार प्रेमी के लता कुञ्ज में प्रवेश कर लेने पर तथा प्रेमिका के वहाँ न पहुँच पाने पर उसके मुखकान्ति

१. ध्वन्यालोक—तृतीय उद्योत

२. ग्रामतरुणं तरुण्या नववञ्जुलमञ्जरीसनाथकरम्।
पश्यन्त्या भवति मुहुर्नितरां मलिना मुखच्छाया।
का० प्र० प्र० उ० १/३

की मलीनता का वर्णन है। यहाँ मुख–कान्ति की मलीनता शब्दतः कथित हैं जो अधिक चमत्कार जनक है और यही तात्पर्य का विषयभूत अर्थ है, परन्तु इसी से दूसरे अकथित अतात्पर्यभूत अर्थ की—अर्थात् फिर यह ग्राम तरुण मुझे प्राप्त न हो सकेगा—व्यञ्जना हो रही है। यह दूसरा अर्थ पहले के समान चमत्कार युक्त न होने पर भी अपना स्वतन्त्र अस्तित्व तो रखता ही है। इस दूसरे अर्थ की व्यंजना अभिधा द्वारा सम्भव नहीं है। क्योंकि इस अर्थ का द्योतक कोई भी शब्द यहाँ प्रयुक्त नहीं हुआ है। साक्षात् संकेत न होने के कारण यह अभिधा का व्यापार नहीं हो सकता और दूसरे अर्थ की व्यंजना स्पष्टतः हो रही है। अतः इसे हम व्यंजना का ही व्यापार मानेंगे। इस प्रकार व्यंजना की अलग सत्ता स्थिर हो जाती है, और यह सिद्ध हो जाता है कि अभिधा शक्ति से प्रतीयमान अर्थ का बोध नहीं हो सकता है। अतः प्रतीयमान अर्थ एक भिन्न वृत्ति व्यंजना से ही स्पष्ट होता है।

व्यंग्यार्थ के अभिधा-गम्यता का निराकरण:—इस व्यंजना को न मानने वाले अभिधावादियों का जो वर्ग सर्वप्रथम समक्ष आता है। वह मीमांसकों का है। यदि अभिधाशक्ति से ही प्रतीयमान अर्थ का बोध मानें तो इसके दो रूप हो सकते हैं :—

(१) वाच्यार्थ के साथ ही व्यंग्यार्थ का भी बोध अभिधा से ही माना जाय।

(२) पहले वाच्यार्थ और बाद में व्यंग्यार्थ का बोध क्रमशः माना जाय।

खण्डन:— प्रथम विकल्प का खण्डन सरल है। इसमें वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ का बोध एक साथ माना गया है। ऊपर जो विधि-निषेधयुक्त 'भ्रम-धार्मिक ....' आदि श्लोकों का उदाहरण दिया गया है, उनमें दोनों प्रकार के विधि-निषेधयुक्त दो विरोधी भावों वाले अर्थ का ज्ञान एक ही अभिधा-शक्ति से नहीं हो सकता है। इनमें एक तो वाच्य-अर्थ है और दूसरा प्रतीयमान है। अतः एक साथ दोनों का बोध सम्भव नहीं हैं।

दूसरे विकल्प के सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि "विशेष्यं नाभिधा गच्छेत् क्षणिशक्ति-विशेषणे" अर्थात् विशेषण का बोध कराने में क्षीण हुई अभिधा-शक्ति विशेष्य तक नहीं पहुँच सकती है। इस प्रकार अभिधा-शक्ति एक ही बार अपना व्यापार कर सकती है, और उस प्रथम व्यापार में वाच्य-

अर्थ को बताने में अभिधा-शक्ति क्षीण हो चुकी है। अतः इससे प्रतीयमान अर्थ का बोध नहीं हो सकता है तथा वाच्य और प्रतीयमान का क्रम ठीक नहीं माना जा नकता है।

(२) अभिधा से संकेतित अर्थ का ही बोध होता है और प्रतीयमान अर्थ संकेतित अर्थ नहीं है। अतः अभिधा द्वारा इसका बोध नहीं माना जा सकता है।

स्फोटः— इस प्रकार प्रतीयमान अर्थ एवं व्यंजना-शक्ति की सत्ता स्थापित हो जाने पर अब दूसरा प्रश्न यह उठता है कि व्यञ्जना-विरोधी अभिधावादियों का जो मत है, वह कहाँ तक समीचीन कहा जा सकता है। ध्वनिवादियों का सिद्धान्त वैयाकरणों के स्फोटवाद से प्रभावित हुआ है। उनके अनुसार ध्वन्यात्मक शब्द नष्ट नहीं होते हैं और ये ही ध्वन्यात्मक शब्द अखण्ड रूप में पद, वाक्य,महावाक्यादि की प्रतीति कराते हैं। इनके द्वारा जिस अखण्ड तत्व की व्यञ्जना होती है उसे 'स्फोट' कहते हैं। ध्वनि-वादियों का प्रतीयमान अर्थ भी पद, पदांश, अर्थादि द्वारा व्यञ्जित होता है। मीमांसकों के अनुसार प्रत्येक ध्वनि के श्रवण से उस ध्वनि का 'संस्कार' बन जाता है और यही संस्कार अन्तिम-ध्वनि के साथ मिलकर शब्द का ग्रहण और अर्थ की प्रतीति कराता है। इस प्रकार 'पूर्व-पूर्व वर्ण-श्रवण-जनित संस्कार सहकृत' अन्तिम वर्ण के सम्पर्क से ही शब्द-ज्ञान और अर्थ-बोध होता है। वैयाकरणों के इस स्फोट सिद्धान्त एवं व्यञ्जना का खण्डन मीमांसकों ने किया है, फिर भी भर्तृहरि के वाक्य-पदीय में स्फोट-सिद्धान्त का तथा आनन्दवर्धन; अभिनवगुप्त और मम्मट के ग्रन्थों में व्यञ्जना और ध्वनि का पूर्ण रूप से प्रतिपादन किया गया है।

कुमारिल भट्ट का मतः— स्फोट सिद्धान्त का खण्डन करते हुए कुमारिल भट्ट ने कहा है कि "दीपक के प्रकाश से घर के प्रकाशित होने के ही समान वर्ण या ध्वनियाँ, पद या वाक्य के स्फोट को व्यञ्जित नहीं करते हैं। इस प्रकार उनमें व्यञ्जकत्व नहीं होता।"[1] आगे चल कर तात्पर्य शक्ति में व्यञ्जना का समावेश करने का बीज भी अलंकारिकों को

---

१. वर्णा वा ध्वनयो वापि स्फोटं न पदवाक्ययोः।
व्यञ्जन्ति व्यञ्जकत्वेन यथा दीपप्रभादयः॥

श्लोकवार्तिक,स्फोट १३१,
मद्रास संस्करण

कुमारिल से ही प्राप्त हुआ है, इन मीमांसकों को अभिधावादी भी कहा जाता है और ध्वनि-सिद्धान्त के प्रबलतम विरोधी ये ही रहे हैं। अतः इनके मतों का खण्डन करने के उपरान्त ही ध्वनि-सिद्धान्त एवं व्यञ्जना की पूर्ण रूप से स्थापना मानी जायगी।

मीमांसक मत:—अभिधावादियों का खण्डन मुख्य रूप से ध्वन्यालोक की लोचन टीका, काव्य-प्रकाश और साहित्य-दर्पण में किया गया है। इन मीमांसकों को निम्नलिखित रूपों में बताया जा सकता है:—

१. कुमारिल भट्ट का अभिहितान्वय वाद।
२. प्रभाकर भट्ट का अन्विताभिधानवाद।
३. निमित्तवादियों का मत।
४. भट्टलोल्लट का दीर्घ-दीर्घतर अभिधा-व्यापारवाद।
५. धनञ्जय और धनिक का तात्पर्यवाद।
६. मुकुल भट्ट का 'अभिधा वृत्ति मातृका'।

(क) अभिहितान्वयवादी और व्यन्जना——कुमरिल भट्ट के मत को मानने वाले पार्थसारथि मिश्र आदि अभिहितान्वय वादियों को भाट्ट मीमांसक कहते हैं। इन लोगों के अनुसार वाक्य में प्रयुक्त प्रत्येक पद से पहले वाच्य अर्थ का ज्ञान होता है। जब सभी पदों का अलग-अलग वाच्यार्थ मालूम हो जाता है तो वक्ता के तात्पर्य के अनुसार आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि के द्वारा उन पदों का परस्पर अन्वय होता है। अन्वय हो जाने पर ही सम्पूर्ण वाक्य का अर्थ बोध हो पाता है। इस प्रकार किसी वाक्य का अर्थ वास्तव में उसका वाच्य अर्थ न होकर तात्पर्यार्थ होता है और जिस शब्द शक्ति से यह अर्थ बोध होता है, उसे मीमांसक तात्पर्या शक्ति कहते हैं। इस प्रकार वाच्य के अर्थ बोध की तीन श्रेणियां है।

(१) पदों से अभिधा शक्ति द्वारा पदार्थों की उपस्थिति और उनका अलग-अलग वाच्यार्थ ज्ञान।

(२) आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि से उन पदार्थों का परस्पर अन्वय।

(३) वक्ता के तात्पर्य के अनुसार उनका अर्थ–बोध।

इससे पदार्थों के आपस के संसर्ग से ही वाच्यार्थ बोध हो पाता है। इस मत के अनुसार पदार्थ संसर्ग रूप अर्थ–बोध ही उसका मुख्य उद्देश्य होता है, अर्थात् पदों से उपस्थित पदार्थों के वाच्य अर्थ का संसर्ग द्वारा अर्थ–बोध

करा देना ही इसका काम है । इस प्रकार सामान्य अर्थ का ही द्योतन हो पाता है ।

खण्डन—आचार्य मम्मट ने बताया है कि इस तात्पर्याशक्ति का काम केवल पदार्थों का अन्वय बोध करा देना ही हैं 'अभिहितान्वय' शब्द का व्युत्पत्ति गत अर्थ भी इतना ही है कि 'अभिहित' का-कही हुई बात का-अन्वय करा देना और इस प्रकार अर्थ का जो ज्ञान होता है, वह सामान्य रूप वाला ही माना जाता है । ध्वनिवादियों का प्रतीयमान अर्थ तो इसके भी बाद में प्रतीत होने वाला अर्थ है, जो साक्षात् संकेत का विषय नहीं होता । ऐसी दशा में अभिहिता-न्वयवादियों के मत से 'अन्वित अर्थ' ही वाच्य अर्थ है, और वाक्यार्थ तो उसका अन्वित विशेष अर्थ है, जो वाच्य अर्थ से भिन्न है, अतः अतिविशेष रूप जो प्रतीयमान अर्थ है, उसे तो वाच्य की कोटि में रखा नहीं जा सकता है, क्योंकि जब वाक्यार्थ ही अवाच्य है तो प्रतीयमान अर्थ भला किस प्रकार वाच्य माना जा सकता है ।

(ii) इस मत में वाच्यार्थ ही अभिधा गम्य नहीं है, तो व्यंग्यार्थ की प्रतीति तो अभिधा से हो ही नहीं सकती है । इनके अनुसार अभिधा से केवल पदार्थों की उपस्थिति हो जाती हैं । पदार्थ के संसर्ग रूप वाक्यार्थ का ज्ञान तात्पर्या शक्ति से होता है । अतः व्यंग्य अर्थ तो इस मत से अभिधा द्वारा गम्य हो ही नहीं सकता है ।

(iii) जब वाच्यार्थ बोध के लिये ही अभिधा से अतिरिक्त तात्पर्या शक्ति को माना जाता है, तो इस वाक्यार्थ बोध के भी बाद प्रतीत होने वाले प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति अभिधा से कैसे हो सकती है ? यह वाक्यार्थ वास्तव में पदों का अर्थ नहीं है ।[1] अभिधा से तो केवल पदों के अर्थ का ही ज्ञान होता है, पूरे वाक्य का बोध उसकी शक्ति से परे है । अतः बाद में प्रतीत होने वाले व्यंग्यार्थ की प्रतीति अभिधा से नहीं हो सकती है । इसी का समर्थन मम्मट ने किया है कि 'अर्थशक्ति मूलेऽपि विशेषे संङ्केतः कर्तुं न युज्यत इति सामान्य-रूपाणां पदार्थानामाकांक्षासन्निधियोग्यतावशात्परस्परसंसर्गो यत्रपदार्थोऽपि विशेषरूपो वाक्यार्थस्तत्रभिहितान्वयवादे का वार्ता व्यंग्यस्यभिधेयतायाम् ।"[2]

---

१. तात्पर्यार्थो विशेषवपुरपदार्थोऽपि वाक्यार्थः समुल्लसतीति, का० प्र० ५

२. काव्य प्रकाश—पंचम उल्लास ।

(ख) अन्विताभिधानवाद और व्यञ्जना—कुमारिल भट्ट के शिष्य प्रभाकर का मत 'गुरुमत' कहा जाता है। इन्होंने अभिहितान्वयवाद के विरोध में अन्विताभिधानवाद का प्रचार किया, और इनके टीकाकार शालिकनाथ मिश्र ने 'ऋजुविमला टीका' में इनके मत का समर्थन किया है। अभिहितान्वयवाद के अनुसार पहले पदों से अनन्वित पदार्थों की उपस्थिति होती है, और तात्पर्यवृत्ति के अनुसार इनका अन्वय होकर वाच्यार्थ ज्ञान होता है। इसके विपरीत प्रभाकर के अन्विताभिधान वाद के अनुसार अन्वित पदार्थों का ही अभिधा से बोध होता है। वाक्य के अन्वय और वाच्यार्थ ज्ञान के लिये तात्पर्या शक्ति जैसी किसी अन्य वृत्ति की आवश्यकता नहीं होती है। अर्थात् कुमारिल के अनुसार अनन्वित पदार्थों की उपस्थिति और प्रभाकर के अनुसार अन्वित पदार्थों की ही उपस्थिति होती है। इस प्रकार वाक्य में अन्वित पदों के ही अर्थ की प्रतीति अभिधा शक्ति से होती है। अर्थात् वाच्यार्थ का ज्ञान या संकेत ग्रहण वाक्य के ही रूप में होता है। पदों या शब्दों के रूप में नहीं, जैसा कि अभिहितान्वयवादी मानते हैं। इसी से प्रभाकर ने अपने ग्रन्थ में इसका समर्थन किया है।[1]

वाक्य ही अर्थ प्रत्यायक है—अन्वित अभिधानवादियों के अनुसार वाक्य से ही अर्थ का बोध होता है, कोई शब्द स्वयं अर्थ बोध न कराने में समर्थ नहीं होता। शब्द किसी वाक्य में प्रयुक्त होकर ही अर्थ का प्रत्यायक होता है, और पदों से अर्थ प्रतीति का कारण संकेतग्रह या शक्तिग्रह है। शक्ति-ग्रह के आठ साधनों[2] में 'व्यवहार' को ही इन लोगों ने प्रमुख माना है। इस व्यवहार की प्रक्रिया अच्छी प्रकार समझ लेनी चाहिये।

व्यवहार में देखा जाता है कि उत्तमवृद्ध (पितादि) मध्यमवृद्ध (बालक से बड़े भाई आदि) गाय आदि किसी पदार्थ को लाने के लिये एक वाक्य का प्रयोग करता है। पास में स्थित बालक 'गामानय' आदि पदों को सुनता है और मध्यमवृद्ध (बड़े भाई या नौकर द्वारा) को सास्नालांगूल—ककुद विशिष्ट एक पिण्ड विशेष को लाता हुआ नेत्रों से प्रत्यक्ष रूप में देखता है। उत्तमवृद्ध के वाक्य और मध्यमवृद्ध के 'गो आनयन' रूप क्रिया से अनुमान करता है कि उतमवृद्ध के कहे गये वाक्य का यही अर्थ होता है। इस प्रकार सास्नादिमान

---

१. वाक्यार्थेन व्यवहारः—बृहती पृ० १६६

२. शक्ति-ग्रहं व्याकरणोपमानः कोशाप्तवाक्याद् व्यवहारश्च वाक्यस्य
शेषाद् निवृत्तेर्वदन्ति सांनिध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः ॥

पिण्ड का आनयन रूप स्थूल अर्थ ग्रहण करता है। इसके उपरान्त कहे हुए **वाक्य और** उसके अर्थ में अखण्ड रूप से **वाच्य-वाचक सम्बन्ध** अर्थापत्ति प्रमाण **से मानता** है। इस प्रकार अन्वित पदार्थ का 'वाक्यार्थ रूप में' ज्ञान प्राप्त करने के लिए उसे तीन प्रमाणों की आवश्यकता होती है । प्रभाकर ने कहा है कि 'बालक, वृद्ध व्यक्ति, उसके द्वारा कहे हुए वाक्य और कही हुई वस्तु को **प्रत्यक्ष रूप** में देखता और सुनता है। श्रोता की क्रियाओं से वाक्य का अर्थ **अनुमान द्वारा** लगा लेता है तथा वाक्य एवं अर्थ में वाच्य-वाचक भाव सम्बन्ध है, ऐसा **अर्थापत्तिप्रमाण** से जानता है। इस प्रकार तीन प्रमाणों–प्रत्यक्ष, अनुमान और अर्थापत्ति से वह व्यवहार द्वारा संकेत ग्रहण करता है।''[1]

पुनः दूसरे वाक्य में गाय के स्थान पर 'अश्वं' आनय का प्रयोग अथवा 'आनय' के स्थान पर 'जधान' का प्रयोग होता है। या 'गां नय' जैसे वाक्य का प्रयोग होता है। इस प्रकार उन-उन पदार्थों का ले आना और ले जाना प्रत्यक्ष रूप से देखता है और अन्वय-व्यतिरेक बुद्धि से शब्द के विभिन्न प्रयोगों का ज्ञान प्राप्त कर लेता है। अन्त में निर्णय हो जाता है कि अर्थ का ज्ञान कराने वाला वाक्य ही होता है। इस प्रकार व्यवहार द्वारा अर्थ-ज्ञान अन्वित पदार्थ का ही होता है, केवल पदार्थ का ही नहीं। मम्मट ने इसका स्पष्टीकरण काव्य प्रकाश के पाँचवें उल्लास में किया है।

खण्डन:—प्रभाकर के मत में अभी बताया गया है कि पदार्थान्वित में शक्ति-ग्रह होता है और उस **सामान्य अन्वित पदार्थ का पर्यवसान विशेष अन्वित में होता है।**

अतः यह निर्णय निकला कि विशेष में पर्यवसित होने वाले सामान्य-विशेष रूप पदार्थ ही संकेत का विषय है और अभिधा-शक्ति द्वारा ही इसका बोध होता है इसमें कई शंकाएँ हैं:—

(१) बालक को वाक्य का अर्थ-ज्ञान होता है तो वाक्यान्तर में प्रयुक्त उसी शब्द का ज्ञान कैसे हो पाता है ? जैसे 'गामानय' में गाम् पद और गांनय' में 'गाम्' पद दोनों एक हैं, परन्तु दो वाक्यों में दो भिन्न शब्दों द्वारा आनय और नयका उसे अर्थ-ज्ञान कैसे होता है ? दूसरे वाक्य में– गां नय और

---

१. शब्दवृद्धाभिधेयांश्च प्रत्यक्षेणात्र पश्यति। श्रोतुश्च प्रतियन्नत्व-मनुमानेन चेष्टया। अन्यथाऽनुपपत्या तु बोधेच्छक्तिं द्वयात्मकाम्। अर्थापत्याऽवबोधेत सम्बन्धंत्रिप्रमाणकम् ॥

प्रभाकर भट्ट

अश्वं नय– में गाय को ले जाने की क्रिया से अश्व को ले जाने की क्रिया का बोध कैसे हो पाता है ? इस शंका के समाधान के लिए प्रभाकर ने सामान्य और विशेष इन दो तत्वों की कल्पना की है। दूसरे वाक्य में प्रयुक्त इन्हीं शब्दों को 'प्रत्यभिज्ञा' से हम पहचान लेते हैं। ऐसा होने पर पदार्थान्तर मात्र से अन्वित होकर ही संकेत का ग्रहण होता है। फिर भी सामान्य से आच्छादित विशेषरूप में ही पदार्थ प्रतीत होते हैं।[1] अर्थात् 'नय' आदि क्रियाओं का किसी विशेष वाक्य में प्रयोग होने पर वह पद 'तत्तत्' विशिष्ट हो जाता है, परन्तु बालक को उसका ज्ञान सामान्य रूप में ही होता है। इस प्रकार प्रत्येक पद का ज्ञान सामान्य रूप में होता हुआ भी विशेष प्रसंग में विशिष्ट रूप में ही होता है। इन सामान्य-विशेष रूपों की चर्चा करते हुए भी प्रभाकर ने सामान्य रूप में अर्थ का ही समर्थन किया है। अतः यही इनके मत से वाच्यार्थ है, और संकेत ग्रह सामान्य रूप अर्थ में ही होता है।

ध्वनिवादियों का मत (१) अब ध्वनिवादियों का यह कहना है कि प्रभाकर के मत से जब सामान्य रूप अर्थ का ही ग्रहण अभिधा से होता है और विशेषरूप अर्थ उसकी सीमा से परे है, तो अतिविशेषभूत जो व्यङ्ग्यार्थ है, उसकी प्रतीति तो अभिधा से हो ही नहीं सकती है।[1]

(२) अतः दोनों ही मत (अभिहितान्वयवाद और अन्विताभिधान वाद) में वाक्यार्थ अवाच्य ही रहता है अर्थात् अभिहितान्वयवाद में अन्वित अर्थ और अन्विताभिधानवाद में पदार्थान्वित अर्थ वाच्य-अर्थ है, वाक्यार्थ तो अन्वित विशेष अर्थ होता है जो अवाच्य है और अभिधा से व्यक्त नहीं होता। ऐसी दशा में अतिविशेषभूत जो प्रतीयमान अर्थ है, वह तो कभी भी अभिधा द्वारा बोध्य नहीं हो सकता है।[2] अर्थात् अन्विताभिधानवादियों के इस सामान्य-विशेष रूप को न मान कर यदि किसी एक ही अर्थ-विशेष के

---

१. "देवदत्त गामानय........इत्यादि वाक्यप्रयोगे तस्य तस्य शब्दस्यतं तमर्थमधारयतीतिअन्वयव्यतिरेकाभ्यां प्रवृत्तिनिवृत्तिकारिवाक्यमेव प्रयोग योग्य-मिति" का० प्र० पं० उ०

२. का० प्र० पं० उ०

१. तेषामपिमते सामान्यविशेषरूपः पदार्थः संकेतविषय इत्यतिविशेष-भूतो वाक्यार्थान्तर्गतोऽसंकेतितत्वादवाच्य एवं यत्रपदार्थंपतिपद्यते तत्र दूरे अर्थान्तरभूतस्य निश्शेषच्युतेत्यादेः विद्यादेश्चर्चा। का० प्र० पं० उ०

२. का० प्र० पृष्ठ २२८.

साथ सम्बद्ध रूप से शब्द का संकेत मान लिया जाय, तो अन्य विशेष अर्थों के साथ उसका सम्बन्ध नहीं हो सकेगा। और ऐसी दशा में अन्य विशेष अर्थों के साथ संकेतग्रह के विए अलग-अलग संकेतग्राहकों की कल्पना करनी पड़ेगी। जिसमें 'आनन्त्य' और 'व्यभिचार' दोष उत्पन्न हो जायेगा। अतः यह निर्णय निकला कि अन्विताभिधानवाद में विशेष अर्थ के साथ अन्वितरूप में संकेतग्रह मानना सम्भव नहीं है, तो विशेषरूप इस वाक्यार्थ से भी आगे व्यंग्यार्थ का अभिधा से बोध केवल कल्पना-मात्र कहा जायगा।

(३) व्यंजना विरोधी निमित्तवादी मीमांसकों का तीसरा मतः—

पूर्व-पक्षी का मत— मीमांसकों का यह वर्ग प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति के लिए कारण-कार्य भाव की स्थापना करता है। इनके अनुसार प्रत्येक वस्तु का कोई न कोई निमित्त कारण होता है। इस दृष्टि से प्रतीयमान अर्थ का भी निमित्त अवश्य होगा। इस अर्थ की प्रतीति में शब्द को ही इसका कारण मानना चाहिए। अतः शब्द और उसके अर्थ में निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध होगा, और इसमें अभिधा-वृत्ति ही काम करती है। इसलिए व्यञ्जना व्यापार का मानना व्यर्थ है।

(ii) व्यञ्जनावादी भी शब्द से ही प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति मानता है जो अभिधाश्रित होकर ही बोध का कारण बनता है। उसका शब्द के अतिरिक्त अन्य कोई निमित्त नहीं है। इस निमित्त के दो रूप–'कारक रूप' और 'ज्ञापक रूप' माने जाते हैं। शब्द कारक रूप नहीं है। अतः व्यंग्यार्थ के प्रति शब्द का ज्ञापक या बोधक रूप ही मान्य होना चाहिए, और यह रूप बोध्य-बोधक भाव रूप बिना संकेतग्रह के सम्भव नहीं है तथा संकेतग्रह शब्द की अभिधाशक्ति से ही हो सकता है। अतः जब अभिधा से ही संकेतग्रह शब्द और अर्थ में बोध्यबोधक भाव और शब्द का अर्थ के प्रति ज्ञापक रूप तथा अभिधा द्वारा ही व्यंग्यार्थ की प्रतीति सम्भव है तो व्यञ्जना शक्ति मानना एक व्यर्थ का प्रयास है।

इस मत में यह बताया गया है कि शब्द रूप निमित्त के द्वारा ही व्यंग्यार्थ रूप नैमित्तिक की प्रतीति होती है, और जब शब्द और व्यंग्यार्थ में निमित्त नैमित्तिक भाव स्थिर होता है तो फिर अभिधा के अतिरिक्त व्यञ्जना की आवश्यकता ही क्या है?

खण्डन—(१) शब्द के जो कारक और ज्ञापक रूप बताये गये हैं, उनमें शब्द का अर्थ प्रकाशक होने के कारण कारकत्व नहीं बन सकता है, ज्ञापकत्व अज्ञात का सम्भव नहीं है—ज्ञातत्व संकेतग्रह से बताया गया है।

संकेतग्रह अन्वित मात्र से होता है। इस प्रकार शब्द से ज्ञापकत्व रूप निमित्त ही बनता है और यह संकेतग्रह से होता है। मीमांसकों के अनुसार समान्य रूप से अन्वितमात्र के संकेतग्रह होता है, विशेष में संकेतग्रह नहीं होता है। अतः निमित्तरूप शब्द का जब तक सामान्य से परे विशेष के साथ निमित्तत्व स्थिर नहीं होता है अथवा अतिविशेष भूत नैमित्तिक व्यंग्यार्थ के प्रति सम्बन्ध या संकेतग्रह नहीं होता, तब तक अभिधा के द्वारा नैमित्तिक व्यंग्यार्थ की प्रतीति सम्भव नहीं हो सकती है। अर्थात् जब तक शब्द रूप निमित्त का विशेष के साथ संकेतग्रहण माना जाय, तब तक उससे विशेष अर्थ (नैमित्तिक) की प्रतीति कैसे हो सकती है ? अतः 'नैमित्तिक कार्य के अनुसार निमित्त की कल्पना होती है।' ऐसा कहना अविचारपूर्ण है।[1]

(ii) शब्द का ज्ञापक निमित्त अर्थ के प्रति दीपक द्वारा अन्धकार में पड़े घड़े के ज्ञापन के समान है। जैसे घड़े की स्थिति पहले से ही रहती है और दीपक केवल अपने प्रकाश द्वारा उसे व्यक्त कर देता है। इसी प्रकार प्रतीयमान अर्थ को शब्द बताता नहीं है, अपितु व्यक्त करता है। इस कारण से शब्द कारक निमित्त तो नहीं हो सकता है। ज्ञापक निमित्त के सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि ज्ञापक किसी **पूर्व सिद्ध वस्तु का ही होता है**, व्यंग्यार्थ पहले से सिद्ध भी नहीं होता क्योंकि व्यंग्यार्थ का ज्ञान तो वाच्यार्थ ज्ञान के उपरान्त सहृदय के हृदय में व्यक्त होता है। अतः शब्द को व्यंग्यार्थ का निमित्त कारण नहीं माना जा सकता। इसलिये मीमांसकों का यह मत है कि नैमित्तक के अनुसार ही निमित्त की कल्पना होती है और व्यंग्यार्थ रूप नैमित्तिक के लिए शब्द रूप निमित्त अभिधा व्यापार से ही प्रतीयमान अर्थ को बोध कराता है—खण्डित हो जाता है तथा व्यञ्जना नामक शक्ति की स्थापना हो जाती है।

(घ) भट्ट लोल्लट का मत और व्यञ्जना· दीर्घ दीर्घतर अभिधा व्यापार—इनके अनुसार जिस उद्देश्य से किसी शब्द को बोला जाता है, वही उसका अर्थ है अर्थात् किसी भी वाक्य से जितने प्रकार के अर्थों की प्रतीति

---

१. तत्रनिमित्तत्वं काकत्वं ज्ञापकत्वं वा ?
शब्दस्य प्रकाशकत्वान्न कारकत्वं ज्ञापकत्वन्तु अज्ञातस्य कथं, ज्ञातत्वं च सङ्केतेनेव स चान्वितमात्रे, एवं च निमित्तस्य नियत-निमित्तत्वं यावन्न निश्चितं तावन्नैमित्तिकस्य प्रतीतिरेव कव्यामिति "नैमित्तिकानुसारेण निमित्तानि कल्प्यन्ते" इत्यविचारितभिधानम्। का० प्र० पं० उ०।

होती है, वह सब अभिधा का ही व्यापार है, वह सभी अर्थ कवि के तात्पर्य का विषयभूत अर्थ है इसके दो अंश है।

(१) जिस अभिप्राय से किसी शब्द का प्रयोग किया जाता है, वही उसका अर्थ होता है। अतः व्यञ्जना की आवश्यकता नहीं है। यही 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' का अर्थ है अर्थात् यदि केवल वाच्यार्थ का ज्ञान कराना ही किसी उक्ति का उद्देश्य है तो वही उसका तात्पर्य है, और यदि लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ का बोध भी इष्ट है, तो शब्द के प्रयोग का वाच्यार्थ वही होगा। इस प्रकार अभिधा की परिधि में सभी प्रकार वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ सभी आ जाते हैं।

(२) अभिधा शक्ति एक अर्थ को बता देने के उपरान्त क्षीण नहीं होती है, अपितु तीव्र वेग से चलाये गये बाण के समान कई कार्यों का सम्पादन करती है। जैसे बाण अपने वेग के कारण शत्रु का कवचभेद, हृदय विदारण और प्राण हरण क्रमशः कर लेता है, उसकी प्रकार अभिधा भी अपने दीर्घ-दीर्घतर व्यापार से शब्द के द्वारा पदार्थोपस्थिति, अन्वय-बोध और व्यंग्य प्रतीति तीनों कार्यों का सम्पादन करती है। अतः व्यंग्य प्रतीति के लिये व्यंजना जैसी किसी अन्य शक्ति के मानने की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती है। अभिधा से ही वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य कहे जाने वाले सभी अर्थों का ज्ञान हो जाता है।

(१) **उत्तरपक्ष (ध्वनिवादियों द्वारा इसका खण्डन)**—आचार्य मम्मट ने भट्ट लोल्लट के इस मत का खण्डन करते हुए कहा है कि उन्हें 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' का वास्तविक ज्ञान नहीं है, क्योंकि भट्ट के अनुसार 'तार्तय-वाचो युक्ति का यह अभिप्राय है कि वाच्यार्थ में ही लक्ष्य और व्यंग्य सभी अर्थों का समावेश हो जाता है, परन्तु वास्तविकता ऐसी नहीं है। आचार्य मम्मट ने बताया है कि वेद पर आधारित मीमांसा शास्त्र जिन वैदिक विधिवाक्यों को अभिधेय रूप में मानता है, उसका तात्पर्य केवल इतना ही है कि बौद्धिक कर्म काण्डों में प्रमाणान्तर से जितना अंश अप्राप्त होता है, उतने ही अंश का ज्ञान 'अदग्ध दहन न्याय' से किया जाता है अर्थात् जैसे लकड़ी के न जले अंश का ही दहन अग्नि से होता हैं। उसी प्रकार अप्राप्त अंश का विधान करना ही वैदिक विधि वाक्यों का मूल उद्देश्य होता है। इस प्रकार अप्राप्त अंश के बोधन में ही विधि वाक्यों का तात्पर्य होता है और यही यत्परः शब्दः स शब्दार्थ का तात्पर्य हैं। उदाहरण के लिये वैदिक वाक्यों को ही लिया जा सकता है। यथा "अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्ग कामः" में होम क्रिया का विधान है। 'दहना जुहोति' में होम के साधन रूप द्रव्य का विधान है, और होम तो

पहले से ही प्राप्त है। सोमेन यजेत्' में 'द्रव्य' और 'याग' दोनों ही अप्राप्त होने से दोनों का ही विधान किया गया है। इसी प्रकार "लोहितोष्णीषा ऋत्विजा प्रचंरति" जैसे वाक्य में केवल पगड़ी के रंग 'लोहितत्व' का ही विधान है। इस प्रकार जहाँ पर जितना अंश अप्राप्त होता है, उतने का ही विधान करना 'यत्पर शब्दः स शब्दार्थ' का तात्पर्य है। इसका यह अभिप्राय कदापि नहीं लगाया जा सकता है कि लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ सभी वाच्यार्थ में ही आते हैं। इस प्रकार ये मीमांसक अपने शास्त्र का भी अर्थ सम्यक नहीं जानते वास्तव में इसका यह अर्थ हुआ कि सिद्ध पद जो अक्रिया रूप और वाक्य का उद्देश्य माना गया है, वह 'भव्य' अर्थात् क्रियारूप साध्य विधेय पद का साधक होता है, यदि दोनों का एक साथ उच्चारण किया जाय अर्थात् सिद्धपद, साध्य-पद के अंग रूप में कहा जाय, तो इस प्रकार क्रियाभाग रूप विधि अंगों की ही प्रधानता होती है, क्योंकि उसी के द्वारा विधि निषेध का कथन होता है। यही 'भूत भव्याय उपदिश्यते' का अर्थ है। वैदिक वाक्यों में सर्वदा क्रिया रूप विधेयांश की प्रधानता होती हैं। इस मत का समर्थन मीमांसा सूत्र में भी किया गया है।[1] निरुक्तकार यास्क के मत से भी आख्यात: पद में क्रिया की प्रधानता होती है।[2] आचार्य मम्मट ने भी इसका समर्थन किया है।[3] 'भूत भव्याय समुच्चारणे भूतं भव्यायोपदिश्यते।"

इस प्रकार मीमांसक मत से दो बातें प्रकट हुईं। (१) प्रथम—विधि-वाक्यों में मुख्य रूप से क्रिया का ही विधान किया जाता है। (२) द्वितीय—अदग्ध दहन न्याय से प्रमाणान्तर से जितना अंश अप्राप्त है, उसी का बोध कराना उतने का ही विधान करना, यत्परः शब्दः स शब्दार्थः का अर्थ होता है। यह मत स्थिर होने पर इसका खण्डन आसानी से हो जाता है। इस मत के अनुसार यदि सभी अर्थ वाच्यार्थ हो जायं, तो फिर लक्ष्यार्थ मानने की भी क्या आवश्यकता रह जाती है। और (२) इस मत के अनुसार वाक्य में जितने शब्दों का प्रयोग होता है, उन्हीं शब्दों के विशेष अर्थों में ही शेष शब्दों का तात्पर्य माना जाता है अर्थात् कथित शब्दों के अर्थों में ही तात्पर्य हो सकता है, अकथित शब्दों के अर्थों में नहीं। किन्तु व्यंग्यार्थ का जो बोध होता है, उसके बोधन के

---

१. आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्। मीमांसा १,१,२१

२. भावप्रधानमाख्यानम्। सत्वप्रधानानि नामानि। तद्यत्र उभे भाव प्रधाने भवतः। निरुक्त

३. काव्य प्रकाश पं० उल्लास पृ० २३३।

लिए कोई भी शब्द वाक्य में उपात्त (कथित) नहीं होता है। अतः वाक्य में अकथित शब्द के अर्थ में शब्द का तात्पर्य कभी नहीं माना जा सकता है। अतः मीमांसकों का यह मत मान्य नहीं कहा जा सकता है और यत्परः शब्दः स शब्दार्थः वाला नियम इस अर्थ में उचित नहीं है। अतः व्यंग्यार्थ की प्रतीति के लिये व्यञ्जनाशक्ति को मानना आवश्यक है, क्योंकि अभिधा द्वारा उसका बोध नहीं हो पाता है। इस प्रकार सिद्ध हो गया कि न तो यह मत युक्ति संगत ही है और न मीमांसक सिद्धान्त के अनुकूल ही है। इसलिये वाक्य में कथित शब्द के अर्थ में ही तात्पर्य हो सकता है, किसी अन्य प्रकार से प्रतीत होने वाले अर्थ मात्र में यह तात्पर्य नहीं हो सकता है। यदि बिना वाचक शब्द के ही किसी प्रकार के अर्थ में तात्पर्य मान लिया जाय, तो 'पहला आदमी दौड़ता है' में पहले का अर्थ दूसरा भी लगाया जा सकता है, जो न्याय संगत नहीं है। इसलिये प्रतीतिमात्र में तात्पर्य नहीं मान सकते हैं। व्यंग्यार्थ में भी वाक्य में उसका कोई वाचक शब्द कथित न होने से वह तात्पर्य का विषय होकर वाच्यार्थ के अन्तर्गत नहीं आ सकता है।

पूर्व पक्ष की दूसरी शंका—यह है कि 'विष खालो, पर इसके घर भोजन न करना' इस वाक्य का तात्पर्य यह है कि इसके घर भोजन नहीं करना चाहिये अर्थात् शत्रु के घर भोजन करना विष खाने से भी बुरा है—यही इसका वाक्यार्थ है, परन्तु विष खाने का वाक्य में कथन नहीं है।

इसका उत्तर मम्मट ने देते हुए कहा है कि 'विषं भक्षय' इस वाक्य का तात्पर्य 'मा चस्य गृहे भुंक्तया', इस उपात्त शब्द के अर्थ में ही है। अकथित शब्द के अर्थ में नहीं है 'चकार' द्वारा दोनों वाक्यों की एक वाक्यता सिद्ध की गई है। इसलिये इसके प्रथम भाग 'विषं भक्षय' का तात्पर्य शत्रु-गृह में भोजन करना विप-भक्षण से भी बुरा है, अतः इसके घर में नहीं खाना चाहिये—इस वाक्यार्थ में निकलता है। दोनों की एक वाक्यता के कारण उपात्त शब्द से ही यह अर्थ सिद्ध होता है, अनुपात्त शब्द में नहीं।

पूर्वपक्ष—व्यञ्जना विरोधी पुनः कहता है कि जहाँ दो तिङन्त वाक्य होते हैं, उनमें अंगनांगि भाव मानकर उनमें एक वाक्यता की स्थापना नहीं की जा सकती हैं। उपर्युक्त वाक्यों में दो क्रियापद 'भक्षय' और 'भुंक्त्या' है। अतः दोनों स्वतंत्र वाक्य हुए और इनमें आया हुआ 'च' कार एक वाक्यता का सूचक नहीं है। इसलिये वाक्य में कथित शब्द के अर्थ में तात्पर्य नहीं माना जा सकता है।

समाधान—'विषं भक्षय' वाक्य एक 'सुहृद् वाक्य' है, और कोई भी मित्र किसी को विष खाने की सलाह नहीं दे सकता है। अतः यदि इसे पूर्ण वाक्य मान लिया जाय, तो अर्थ अनुपपन्न रह जाता है। अर्थात् मित्र के द्वारा कहे हुए इस वाक्य की उचित संगति नहीं बैठ पाती है। इसलिये यह वाक्य अपने में पूर्ण अर्थ की असंगति के कारण–अनुपपन्नार्थ होने के कारण दूसरे वाक्य 'मा चास्य गृहे भुङ्क्था' का अंग बन जाता है। इस प्रकार इन दोनों वाक्यों की एक वाक्यता सिद्ध हो जाने पर कथित उपात्त शब्द के अर्थ में ही तात्पर्य होता है' इस कथन की संगति भी बैठ जाती है।

अतः सिद्ध हुआ कि वाक्य में अपात्त शब्द के अर्थ में ही तात्पर्य का निर्णय होता है, जिस अर्थ का वाचक शब्द वाक्य में कोई होता ही नहीं है, ऐसे अनुपात्त शब्द में तात्पर्य का निर्णय नहीं हो सकता है। व्यंग्यार्थ प्रतीति में उस अर्थ का द्योतक कोई शब्द नहीं होता है। अतः शब्द के प्रयोग न होने पर 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' का सिद्धान्त इस व्यंग्यार्थ में सफल नहीं हो पाता है। इसलिए अभिधा द्वारा इसकी प्रतीति भी नहीं मानी जा सकती है।

दूसरी शंका और समाधान—मीमांसक के अनुसार यदि सभी शब्दों से अर्थ ग्रहण में अभिधा का ही व्यापार मानकर उसे वाच्यार्थ कहा जाय तो 'हे ब्राह्मण तुम्हारे पुत्र उत्पन्न हुआ' वाक्य से हर्ष, तथा 'तुम्हारी अविवाहिता कन्या गर्भिणी हो गई' वाक्य से शोक की जो व्यञ्जना होती है, उसे भी वाच्य अर्थ ही मानना पड़ेगा, परन्तु मीमांसक ऐसा नहीं मानते। ये वाक्य हर्ष और शोक की उत्पत्ति के कारण है। मुख विकासादि से ही इसका ज्ञान होता है, साक्षात् शब्द से नहीं।

दूसरी बात यह है कि उपर्युक्त वाक्यों में हर्ष और शोक का वाचक कोई शब्द भी प्रयुक्त नहीं हुआ है। अतः अप्रयुक्त शब्द के अर्थ में तात्पर्य का निर्णय कैसे सम्भव हो सकता है?

(iii) यदि दीर्घ दीर्घतर अभिधा व्यापार से ही सब प्रकार के अर्थों का ज्ञान हो जाता है, तो ऐसी दशा में यदि व्यञ्जना मानना आवश्यक नहीं है, तो मीमांसक लक्षणा को भी क्यों मानते हैं? और तात्पर्या शक्ति भी मानने की क्या आवश्यकता रह जाती है। लक्षणा का कार्य भी तो अभिधा के इसी दीर्घ-दीर्घतर व्यापार से सम्पन्न किया जा सकता है। इस प्रकार लक्षणा को मानकर और व्यञ्जना को न मानने वाली बात युक्ति संगत नहीं प्रतीत होती है, क्योंकि इच्छानुसार अर्थ को अभिधा शक्ति के कार्य व्यापार के अन्दर समेट लेने वाला

नियम तो दोनों के लिये समान होना चाहिये। अतः मीमांसकों की इस उक्ति में सार्थकता नहीं है।

(iv) मीमांसा शास्त्र में श्रुति-लिंग-वाक्य-प्रकरण-स्थान-समाख्या इन छः प्रमाणों में पूर्व-पूर्व की वलवत्ता मानी गई है।[1] अब प्रश्न यह है कि यदि आपके कथन के अनुसार अभिधा-व्यापार से ही सभी प्रकार के अर्थों की प्रतीति हो जाती है तो (क) न तो लक्षणा मानने की ही आवश्यकता है और (ख) न श्रुति आदि प्रमाणों की प्रबलता-दुर्बलता का ही प्रश्न उठता है।

(v) महिमभट्ट ने इसका खण्डन करते हुए कहा है कि बाण के समान शब्द व्यापार को नहीं माना जा सकता है। शब्द की प्रवृत्ति संकेत-साक्षेप होकर ही अपना कार्य करती है। अतः अभिधेयार्थ में ही इसका व्यापार होगा, अनभिधेय अर्थ में नहीं। प्रतीयमान अर्थ अनभिधेय अर्थ है।[2]

धनजंय, धनिक और व्यंजना—धनञ्जय ने भी व्यञ्जना का निराकरण किया है। उन्होंने स्थायिभाव और रस के सम्बन्ध की चर्चा करते हुए कहा है कि वाक्य में दो प्रकार की क्रियाएँ (१) वाच्या और (२) अश्रूयमाणा होती हैं। ये अश्रूयमाणा क्रिया भी प्रकरणादि वश अन्य कारकों से सम्बद्ध होकर **वाक्यार्थ के रूप** में प्रतीत होती है। इसी प्रकार विभावादिकों से सम्बद्ध होकर रत्यादि स्थायीभाव भी वाक्यार्थ रूप में प्रतीत होते हैं। इनमें विभावादि पदार्थ स्थानीय माने जाते है अर्थात् पदार्थों के संसर्ग बोध के समान **तात्पर्या शक्ति** से ही उनका बोध होता है।[3] इस प्रकार कारक परिपुष्ट क्रिया ही वाक्यार्थ या काव्य का तात्पर्य है। अर्थात् जैसे प्रकरणादि के कारण अश्रूयमाण क्रिया भी कारकादि के द्वारा अविनाभाव से स्पष्ट हो जाता है, उसी प्रकार काव्यों में भी प्रकरणादि के आधार पर ही काव्य के द्वारा वाच्य रूप में अभिहित विभावादि के साथ स्थायीभाव का अविनाभाव सम्बन्ध होने के कारण, रत्यादि स्थायीभाव चित्त में स्फुरित होने लगता है। विभावादि का काव्य में साक्षात् शब्द से उपादान होता ही है। ये संस्कार परम्परा द्वारा विभावों के पूर्वानुभव

---

१. श्रुति लिंग वाक्य प्रकरण स्थान समाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यं अर्थ विप्रकर्षात्। मीमांसा दर्शन ३, ३, १४।

२. व्यक्ति विवेक प्रथम विमर्श १

३. वाच्या प्रकरणादिभ्यो बुद्धिस्था वा यथा क्रिया।
वाक्यार्थः कारकैर्युक्ता स्थायीभावस्तथेतरैः।
दशरूपक ४/३७ धनञ्जय

के आधार पर रत्यादि स्थायीभाव को पुष्ट करते हैं। अत: काव्य के वाच्य रूप में उपात्त विभावादि द्वारा प्रतीत अथवा प्रकरणादि के द्वारा बुद्धिस्थ रूप में प्रतीत रत्यादि स्थायीभाव व्यञ्जनाशक्ति का विषय न होकर काव्य का वास्तविक वाक्यार्थ ही है।[1]

(i) इस कारिका की व्याख्या करते हुए धनिक ने कहा है कि तात्पर्य का क्षेत्र बड़ा व्यापक है, वह कोई तराजू पर तौला हुआ ऐसा पदार्थ नहीं है कि इतना ही हो। वह तो यावत्कार्यप्रसारी है अर्थात् जहाँ जैसी और जितनी आवश्यकता होती है, उसी के अनुसार ही तात्पर्य का क्षेत्र विस्तृत हो जाता है।[2]

(ii) प्रतीयमान अर्थ तात्पर्य से भिन्न नहीं है। अत: उसका बोध केवल व्यञ्जना से ही हो, ऐसा नहीं कहा जा सकता है और उसका व्यञ्जक काव्य ध्वनि भी है। तात्पर्य आवश्यकतानुसार घट-बढ़ भी जाता है। अत: व्यञ्जना का मानना ठीक नहीं है।

(iii) ध्वनिवादी ने व्यग्यार्थ बोध के लिये कक्षा विभाग किया है अर्थात् प्रथम कक्षा में वाक्य में प्रयुक्त पदों से अर्थ की प्रतीति होती है, इसे **वाच्यार्थ** कहा गया है; द्वितीय कक्षा में तात्पर्यार्थ वाक्य अन्वय घटित होकर प्रकरण के अनुकूल अर्थ का बोध कराता है। इसे **वाक्यार्थ** की संज्ञा दी जाती है। तृतीय कक्षा में लक्ष्यार्थ और चतुर्थ कक्षा में व्यंग्यार्थ को रखा गया है। इस कक्षा विभाग द्वारा भी तात्पर्य की शक्ति कुण्ठित नहीं होती है और चतुर्थ कक्षा निविष्ट व्यग्यार्थ तक तात्पर्य की पहुँच होती है। अत: व्यंग्य अर्थ की प्रतीति के लिये व्यञ्जना मानने की आवश्यकता नहीं है, वह तात्पर्य की सीमा के ही अन्तर्गत आ जाता है।

(iv) धनिक ने आगे बताया है कि लौकिक या वैदिक सभी प्रकार के वाक्यों में कार्यपरता होती है। यदि ऐसा न हो तो वह उन्मत्त प्रलपित हो जाय। अत: उनका कोई न कोई तात्पर्य अवश्य होता है।[3] काव्य में प्रयुक्त शब्दों का तात्पर्य उनके निरतिशय रसास्वाद में ही है, जिसके लिये शब्द का

---

१. दशरूपक अवलोक टीका पृष्ठ २४६–२४७

२. तात्पर्य व्यतिरिक्तत्वात् व्यंजकत्वस्य न ध्वनिः।
यावत् कार्यप्रसारित्वात् तात्पर्यं न तुलाधृतम्।
दशरूपक अवलोकटीका

३. तथाहि पौरुषेयमपौरुषेयं वाक्यं सर्वं कार्यपरम्, अतत्परत्वेऽनुपादेयत्वादुन्मत्तादि वाक्यवत्। दशरूपक–अवलोक टीका पृ० २४७

जो प्रयोग होता है, वही उसका अर्थ भी है। इस प्रकार प्रयुक्त शब्दों से जो रसानुभूति होती है, धनिक मत में वही उस काव्य का तात्पर्य है और इसका बोध तात्पर्या शक्ति से ही होता है।

(v) वक्ता जब भी किसी लौकिक वाक्य का प्रयोग करता है, तो वह कुछ कहना चाहता है अर्थात् सभी वाक्य विवक्षा के आधीन है।[1] काव्य में भी रसादि अर्थ वक्ता के अभिप्रेत होने से उन्हें तात्पर्य ही कहेंगे। अतः सिद्ध हो गया कि काव्य तथा रस के साथ व्यंग्य-व्यञ्जक सम्बन्ध नहीं है, अपि तु भाव्य-भावक भाव या सम्बन्ध है। काव्य भावक है और रसादि भाव्य है। रसादि सहृदय के हृदय में अपने आप स्वयं उद्भूत होते हैं और विशिष्ट विभावादि जो तत्तत् रसों के अनुकूल होते हैं—उनके द्वारा काव्य उनकी भावना कराता है।[2]

धनिक मत का खण्डन—विश्वनाथ ने साहित्य-दर्पण में धनिक के मत का खण्डन करते हुए कहा है कि धनिक ने जिस 'तत्परत्व' की चर्चा की है, उसका क्या अर्थ होता है ? सामान्यतया इसके दो अर्थ हो सकते हैं (१) तदर्थत्व अर्थात् उस शब्द का अर्थ होना (२) उस अर्थ का द्योतन करने में तात्पर्यशक्ति का समर्थ होना।

इन दोनों में यदि पहले विकल्प को लें, तो व्यञ्जना वृत्ति भी तो उस अर्थ को द्योतित करती है। अतः इसमें कोई अन्तर नहीं होगा। और यदि तात्पर्याशक्ति की बात ली जाय, तो भाट्ट-मीमांसकों के प्रसंग में उसका खण्डन किया जा चुका है। अभिहितान्वयवाद में मान्य तात्पर्याशक्ति का कार्य उपस्थित पदार्थों का संसर्ग बोध कराना है। इस प्रकार द्वितीय कक्षा निविष्ट संसर्ग-बोध तक ही उसकी सीमा है, व्यंग्य तो चतुर्थ कक्षा का विषय है, जहाँ तक उसकी पहूँच नहीं हो सकती है। अतः यह निर्णय निकला कि धनिक की तात्पर्याशक्ति जो यावत्कार्यप्रसारी है अर्थात् आवश्यकतानुसार हर स्थान पर

---

१. पौरुषेयस्य वाक्यस्य विवक्षा परतंत्रता।
वक्त्रभि प्रेततात्पर्यमतः काव्यस्य भुज्यते।
दशरूपक अवलोक पृ० २५१

२. अतो न रसादीनां काव्येन सह व्यंग्यव्यञ्जकभावः। किं तर्हि भाव्य-भावक सम्बन्धः ? काव्यं हि भावकं, भाव्या रसादयः। तेहि स्वतो भवन्त एव भावकेषु विशिष्टविभावादि मता काव्येन भाव्यन्ते। दशरूपक अवलोक पृष्ठ २५१—५२

पहुँच सकती है—अभिहितान्वयवादियों की तात्पर्या से भिन्न ही है। अतः ऐसी दशा में इस तात्पर्याशक्ति और ध्वनिवादियों की व्यञ्जना शक्ति में केवल नाम मात्र का भेद हुआ। इस प्रकार व्यञ्जनावादी और तात्पर्यवादी के शब्द की वृत्ति में कोई अन्तर नहीं आता। अतः अभिधा, लक्षणा और तात्पर्या से अतिरिक्त चौथी वृत्ति का समर्थन हो गया। "तत् प्रष्टव्यम् किमिति तत्परत्वं नाम तदर्थत्वं वा, तात्पर्यवृत्यात्तद्बोधकत्वं वा ? आद्ये न विवादः, व्यंग्योपि तदर्थतानपायात्। द्वितीये तु केयं तात्पर्याख्या वृत्तिः —अभिहितान्वयवादिभिरत्नंकृता वा, तदन्या वा ? आद्ये दत्तमेवोत्तरम्। द्वितीये तु नाम मात्रे विवादः, तन्मतेऽपि तुरीयवृत्तिसिद्धिः।[1] इस चौथी वृत्ति को चाहे तात्पर्याशक्ति कहें या व्यञ्जना, इसके मूल रूप और कार्य में कोई अन्तर नहीं आता।

अभिधावादियों में मुकुल भट्ट का भी नाम लिया जाता है। इन्होंने अपने ग्रन्थ 'अभिधावृत्ति मातृका' में लक्षणा के छः भेद और अभिधा के चार भेद करने के उपरान्त उन सब का समावेश अभिधा में ही कर दिया है। और अभिधा के दश भेदों को स्वीकार किया है।[2] लक्ष्यार्थ की प्रतीति भी बक्ता, वाक्य और वाच्य सामग्री के ज्ञान के आधार पर ही होती है। सच तो यह है कि सभी मीमांसक वेद पर निर्भर रहते हैं और वेद को प्रभु सम्मत कहा जाता है अर्थात् राजाज्ञा के समान उसका अन्य कोई अर्थ न ग्रहण करके सीधा अर्थ ही लिया जाता है। इसी में वहाँ जो कुछ है, सब अभिधेय ही है। लक्षणा का का अवसर बहुत कम है तथा उनके अनुसार व्यञ्जना तो है ही नहीं। इस मत का निराकरण भी उपर्युक्त उक्तियों द्वारा ही किया जा सकता है। इस प्रकार यहाँ तक सभी मीमांसकों (कुमारिल, प्रभाकर, भट्ट लोल्लट, मुकुलभट्टादि) तथा धनञ्जय और धनिक के मतों का निराकरण करते हुए व्यञ्जना शक्ति की की स्थापना की गई। अब अगली पंक्तियों में व्यञ्जना-विरोधी अन्य मतों का विवेचन किया जायगा।

वेदान्तियों का मत—इन मतों में विशेषतः अखण्डतार्थतावादी वेदान्ती और वैयाकरण मतों की चर्चा की जाती है। वेदान्तियों के अनुसार जगत मिथ्या है, इसी से धर्म धर्मिभाव, क्रिया-कारक भाव, वाच्य, लक्ष्य, व्यंग्यादि सब कुछ मिथ्या है। यह अखण्ड बुद्धि से ही सम्भव है। वेद वाक्यों में 'सत्यं

---

१. साहित्य दर्पण परिच्छेद ५ पृ० ३६९–७० हरिदासी संस्करण

२. इत्येदभिधावृत्तं दशधात्र विवेचितम्। अभिधावृत्तिमातृका। कारिका १२

ज्ञानमनन्तं ब्रह्म', 'अहं ब्रह्मास्मि' आदि वाक्यों का अखण्ड बुद्धि से ही ग्रहणीय 'पर ब्रह्म' उसका अर्थ होता है। इस प्रकार अखण्ड वृद्धि से ग्राह्य वाक्यार्थ ही वाच्य होता है और अखण्ड वाक्य ही उसका वाचक होता है। अतः अखण्ड वाक्यार्थ बोध मानने से वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य की अलग-अलग प्रतीति नहीं होती है। इसके अनुसार पदार्थ-संसर्ग होने से नहीं, अपितु स्वरूप मात्र का बोधक होने से वाक्य अखण्डार्थक हो जाता है।[1]

खण्डन—यति वेदान्तियों की अखण्डता को स्वीकार कर लिया जाय तो सर्व प्रथम तो सभी प्रकार की शक्तियों का लोप हो जाता है। (२) ये वेदान्ती भी व्यवहार में आकर जगत की सत्ता को स्वीकार करते हैं और वैयाकरण भी व्यवहार के लिये पद में प्रकृति-प्रत्यय के व्यवहार को स्वीकार करते हैं। इस प्रकार लौकिक व्यवहार में जगत की सत्ता भी माननी पड़ती है तथा व्यवहार पक्ष में वर्ण पद, वाक्यादि की भी अलग-अलग स्वतन्त्र सत्ता माननी पड़ती है। अतः विभिन्न शब्द शक्तियों के मानने में भी कोई वाधा नहीं होनी चाहिये। भर्तृहरि ने भी कहा है कि—

उपाया शिक्षमाणानां बालानामुपलालना।
असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहिते।[2]

वेदान्तियों ने जहाँ परमार्थिक रूप में सब कुछ असत्य माना है वहीं पर व्यवहार दशा में उन्हें भी अभिधा तथा लक्षणा-जहल्लक्षणा अजहल्लक्षणा तथा जहदजहल्लक्षणा मानना ही पड़ा है। अतः जब अभिधा और लक्षणा का विभाग हो ही सकता है, तो व्यञ्जना का विभाग भी करने में अनुचित न होगा।

अतः व्यञ्जना का मानना आवश्यक हो जाता है। इस प्रकार अभी तक जो भी विचार हुआ है, वह सभी वृत्तियों के आधार पर किया गया है। इसमें वृत्तियों से हटकर अखण्डतार्थ के आधार पर विचार किया गया है। आगे व्यंग्यार्थ को अनुमान का विषय बताने वाले महिम भट्ट के विचारों का उल्लेख किया जायगा।

---

१. 'अखण्डबुद्धिनिर्ग्राह्यो वाक्यार्थ एव वाच्यः, वाक्यमेव च वाचकम्' इति येऽप्याहुः तैरप्यविद्यापदपतितैः पद-पदार्थकल्पना कर्तव्यैवेति तत्पक्षेऽप्यवश्यमुक्तोदाहरणादौ विध्यादिर्व्यङ्ग्य एव। काव्य प्रकाश पंचम उल्लास पृ० २७७

२. वाक्य पदीय

अनुमानवादी महिम भट्ट और व्यंजना

महिम भट्ट - व्यंजना के विरोधियों में महिम भट्ट का नाम विशेष प्रसिद्ध है। इन्होंने व्यञ्जना की व्याख्या करते हुए 'व्यक्ति विवेक' नामक एक पूर्ण ग्रन्थ की रचना की है। अन्य विरोधियों ने तो प्रसंगतः इसका खण्डन कर दिया है। इस 'व्यक्ति विवेक' की दो टीकायें या विवृत्ति प्राप्त हैं। प्रथम राजानक रुय्यक का 'व्यक्ति विवेक व्याख्यान' और दूसरी मधुसूदन शास्त्री की 'मधुसूदनी विवृत्ति'।

अनुमान द्वारा व्यंग्यार्थ बोध—इस ग्रन्थ द्वारा प्रथम बार व्यंग्यार्थ बोध के लिए शब्द की सीमा से हट कर उसे अनुमान का विषय सिद्ध करने का प्रयास किया गया है। महिम भट्ट ने ध्वनिवादियों द्वारा दिये गये सभी उदाहरणों को अनुमान द्वारा सिद्ध किया है। व्यंग्यार्थ को उन्होंने 'परार्थानुमान रूप' माना है। उन्होंने ध्वनि के लक्षण का प्रथम विमर्श में खण्डन किया है। द्वितीय विमर्श में ध्वनि की परिभाषा में 'प्रक्रम भेद' और 'पुनरुक्ति' आदि दोषों की चर्चा की गई है, और तृतीय में ध्वनिकार के सभी उदाहरणों को अनुमान द्वारा सिद्ध करने के लिये उसके हेतु को ढूँढने का प्रयास किया है। इसका सारांश यह है कि विभावानुभाव आदि की प्रतीति से ही रस की प्रतीति होती है। अतः **विभावादि रस प्रतीति के साधक लिङ्ग हुये!** इस प्रकार अनुमान द्वारा इस साधक लिंग की सहायता से रस की सिद्धि की गई है। उनके अनुसार पंचावयव युक्त अनुमान वाक्य इस प्रकार बनेगा—"रामः सीता विषयक रतिमान् तत्र विलक्षणस्मितकटाक्षवत्वात् यो नैवं सो नैवं यथा लक्ष्मणः" इस प्रकार के सभी अनुमान वाक्यों को समझने के लिये आवश्यक है कि न्यायशास्त्र में वर्णित अनुमान-प्रमाण और उसकी सम्पूर्ण प्रक्रिया को समझ लिया जाय।

अनुमान-स्वरूपः—अनुमान के स्वरूप का निर्धारण करते हुए बताया गया है कि 'लिंग परामर्श' को अनुमान कहते हैं। जिससे अनुमिति हो उसे अनुमान कहते हैं, और लिंग परामर्श से अनुमिति होती है, अतः लिंग परा-

मर्श को अनुमान कहते हैं। अग्नि आदि का ज्ञान अनुमिति है और उसका करण धूमादि है। अतः धूमादिज्ञान, अग्निआदि ज्ञान का करण होने से अनुमान है। वात्स्यायन ने अपने वास्य में बताया है कि प्रत्यक्ष-प्रमाण से ज्ञात लिंग के द्वारा अर्थ के पीछे से उत्पन्न होने वाले ज्ञान को अनुमान कहते हैं।[1] अर्थात् प्रत्यक्ष ज्ञान के द्वारा किसी अप्रत्यक्ष वस्तु का ज्ञान होना ही अनुमान कहा जाता है, इसमं एक वस्तु की सहायता से दूसरी वस्तु का ज्ञान होता है। इसे ही नैयायिक 'व्याप्ति' कहते हैं। अर्थात् साहचर्य के नियम को ही व्याप्ति कहते हैं।[2] जैसे—'यत्र-यत्र धूमस्तत्र तत्र अग्निः' इस साहचर्य-नियम को व्याप्ति कहते हैं।

लिंग का स्पर्ष्टीकरण करते हुए कहा गया है कि 'लीनम् अर्थ गमयति इति लिंगम्' अर्थात् गुप्त अर्थ का जो प्रत्यक्षीकरण कराये उसे लिंग कहते हैं, तथा लिंए का तृतीय ज्ञान परामर्श है,[1] अथवा व्याप्ति विशिष्ट पक्ष धर्मता-ज्ञान को परामर्श कहते हैं। उदाहरण के लिए घर में प्रथम बार या द्वितीय बार अग्नि धूम का साहचर्य 'प्रथमर्क्षन' है। इस व्याप्ति-ग्रहण के उपरान्त पर्वतादि में धूम-दर्शन द्वितीय ज्ञान है। इस द्वितीय दर्शन से धूम और अग्नि के प्रथम साहचर्य की **स्मृति हो जाती है**। और यह ज्ञान हो जाता है 'वह्निवाप्य धूमवाश्रयायं पर्वतः है।' ईसी को तृतीय ज्ञान कहते हैं और यही अनुमिति के प्रतिकरण (माधन) होने से अनुमान कहा जाता है।

इस तृतीय ज्ञान के दो अंश है। प्रथम व्याप्ति सम्बन्ध और दूसरा पक्ष धर्मता—अर्थात् धूम का पर्वत रूप पक्ष में अस्तित्व होना। इस प्रकार ज्ञात हो गया कि जहाँ-जहाँ धूम है वहाँ अग्नि का होना अनिवार्य है। यही विचार-'परामर्श' कहा जाता है। परार्थानुमान (जहाँ दूसरों को अनुमान कराया जाता है) उसमें इस परामर्श का महत्वपूर्ण स्थान है। इस ज्ञान के सम्बन्ध में केशव मिश्र ने भी इसका समर्थन किया है।[2]

---

(१) लिंगः परामर्शोऽनुमानम्। येनहि अनुमीयते तदनुमानम्। लिंग परामर्शेन चानुमीयतेऽतो लिंग परामर्शोनुमानम्। .... तर्क भाषा—अनुमाननिरूपणम्—पृष्ट ७१–७२.

(२) मितेन लिंगेन अर्थस्य अनुपश्चान्मानमनुमानम् न्याय दर्शन—वात्स्यायनभाष्य १।१।३

(३) साहचर्य-नियमो व्याप्ति—तर्कभाषा पृ० ७२

(४) लिंगस्य तृतीयं ज्ञानं परामर्शः। तर्कभाषा ७२

(५) तदनेन-यायेन धूमाग्न्योर्व्याप्तौ गृह्यमाणायां महानसे यद्धूम ज्ञानं तत्प्रथमम्। पर्वतादौ पक्षे यद्धूमज्ञानम् तद्द्वितीयम्। ततः

जहाँ सन्दिग्ध अर्थ के प्रति स्वयं अनुमान उपर्युक्त सरिणि से किया जाता है, वहाँ स्वार्थानुमान[1] और जहाँ दूसरों को इसका बोध कराया जाता है वहाँ परार्थानुमान[2] कहा जाता है। इस परार्थानुमान के लिए प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन कहते हैं। उदाहरणों द्वारा तर्क-संग्रह में बताया गया है कि प्रतिज्ञादि ये परार्थानुमान के पाँच अवयव होते हैं। यथा:—

(१) प्रतिज्ञा—	पर्वतो वह्निमानिति—	इस पर्वत में अग्नि है।
(२) हेतु—	धूमवत्वादिति—	क्योंकि वहाँ धुँवा है।
(३) उदाहरण—	यो यो धूमवान् स स वह्निमान् यथा महानसइत्युदाहरणम्—	और जहाँ-जहाँ धूम होता है वहाँ-वहाँ अग्नि होती है। जैसे रसोई में।
(४) उपनय—	तथा चायमिति—	यह भी वैसा ही है।
(५) निगमन—	तस्मात्तथा —	अतः यह पर्वत भी उसी प्रकार है अर्थात् अग्नि-पूर्ण है।[3]

इस प्रकार व्यक्त हुआ कि परामर्श के कारण होने वाले ज्ञान को 'अनुमिति' कहते हैं और उस ज्ञान का प्रमाण अनुमान कहा जाता है। इस अनुमान में व्याप्ति अर्थात् साहचर्य-नियम का होना आवश्यक बताया गया है। यह व्याप्ति कई प्रकार की होती है।

पूर्वं गृहीतां धूमाग्न्योर्व्याप्तिं स्मृत्वा यत्र धूमस्तत्राग्निरिति। तत्रैव पर्वते पुनर्धूमें परामर्शाति। अस्त्यत्र सर्वते वह्निना व्याप्तो धूम इति। तदिदं धूमज्ञानम् तृतीयम्। तर्कभाषा—७७

(१) स्वार्थं स्वप्रतिपत्ति हेतुः —पृष्ठ ७९

(२) यत्तु कश्चित् स्वयं धूमादग्निमनुमायपरं बोधयतुं पञ्चावयवमनुमान वाक्यं प्रयुङक्ते तत् परार्थानुमानम्। — तर्कभाषा— पृ० ८०.

(३) प्रतिज्ञाहेतुदाहरणोपनयनिगमानि पञ्चावयवः। पर्वतो वह्निमानिति प्रतिज्ञा। धूमवत्वादिति हेतुः। यो यो धूमवान् स स वह्निमान यथा महानस इत्युदाहरणम्। तर्क-संग्रह—पृष्ट ३९

इस व्याप्ति के ३ भेद अन्वय व्याप्ति, व्यतिरेक व्याप्ति तथा अन्वय व्यतिरेक व्याप्ति कहे गये हैं। जैसे जहाँ धूम है, वहाँ अग्नि होती है, इसे अन्वय व्याप्ति कहते हैं। तथा जहाँ धूम नहीं है, वहाँ अग्नि नहीं होती इसे व्यतिरेक व्याप्ति कहा जाता है। अन्वय व्याप्ति में जो व्याप्त (हेतु) धूम होता है, उसका अभाव व्यतिरेक व्याप्ति में व्यापक (साध्य–अग्नि) होता है। तथा जो व्यापक होता है उसका अभाव वहाँ व्याप्य होता है। कुमारिल भट्ट ने भी इसका समर्थन किया है।[1] व्यतिरेक व्याप्ति के संग हेतु और साध्य का सम्बन्ध पाया जाता है जैसे पृथ्वी से भिन्न तत्व में गन्धत्व नहीं है जैसे जल में। अन्वय-व्यतिरेक का हेतु वहाँ होता है जहाँ पर अन्वय तथा व्यतिरेक दोनों का ही उदाहरण एक साथ मिल जाय। धूमवत्व अन्वय व्यतिरेक का हेतु है। व्याप्ति को बोलते समय व्याप्य को और व्यापक को बाद में यत्र-यत्र तथा तत्र-तत्रके साथ बोलना चाहिए, जैसा ऊपर स्पष्ट किया गया है।

हेतु के पांच रूप—इस प्रकार तीन प्रकार के हेतुओं की चर्चा की गई है। अब यह बताया जायेगा कि हेतु के पाँच रूप होते है। इनमें से यदि एक भी रूप की कमी हो जाय तो इसे शुद्ध हेतु न कह कर 'हेत्वाभास' कहते है और वे अपने साध्य की सिद्धि करने में असमर्थ हो जाते हैं।[2] इन पाँचों रूपों को क्रमशः पक्षतत्व, सपक्षतत्व, विपक्षव्यावृत्ति, अबाधित विषयत्व और असत्प्रतिपक्ष कहते हैं।

इनमें 'सन्दिग्ध साध्यवान् पक्षः, अर्थात् साध्यवह्नि सन्दिग्ध अवस्था में हो, वहाँ पक्ष होगा। जैसे 'पर्वत में अग्नि है क्योंकि वहाँ धूम है।' इस उदाहरण में पर्वत में अग्नि को सिद्ध किया गया है अतः पर्वत 'पक्ष' होगा। 'निश्चित साध्यवान् सपक्ष :" अर्थात् जिसमें साध्य वह्नि आदि का निश्चय हो—निश्चित साध्य से युक्त धर्मी को 'सपक्ष' कहते हैं। जैसे उपर्युक्त अनुमान

---

१. व्याप्यव्यापकभावोहि भावयोर्यादृगिष्यते तयोरभावोस्तस्माद् विपरीतः प्रतीयते। अन्वये साधनं व्याप्यं साध्यं व्यापकमिष्यते। तद्भावोन्वथा व्याप्यो व्यापकः साधनात्ययः। व्यापस्य वचनं पूर्वं व्यापकस्य ततः परम्। एवं परीक्षिता व्याप्तिः स्फुटीभवति तत्वतः—श्लोकवार्तिक—१२१-१२३

२. एतेषां'''त्रयाणां मध्ये यो हेतुरन्वयव्यतिरेकी स पञ्चरूपोपपन्न एव स्वसाध्यं साधयितु क्षमते, नत्वैकेनापि रूपेण हीनः—तर्कभाषा—पृ० ८६।

में रसोईघर सपक्ष है। क्योंकि उसमें अग्नि का निश्चय है। इस 'सपक्ष रूप' महानस (रसोईघर) में धूम रूप हेतु हुआ। क्योंकि रसोई घर में धूम और अग्नि का नियतसाहचर्य देखा जाता है। अन्वय व्याप्ति में इसी 'सपक्ष' को उदाहरण के रूप में रखा जाता है। "और निश्चित साध्याभाववान् विपक्षः !" अर्थात् विपक्ष में साध्य का अभाव निश्चित होता है। 'व्यतिरेक व्याप्ति में यही 'विपक्ष' 'उदाहरण' रूप में रहता है।' 'जैसे जहाँ-जहाँ धूम का अभाव है, वहाँ-वहाँ अग्नि का भी अभाव होता है। जैसे तालाब में।" यहाँ तालाब विपक्ष है। क्योंकि तालाब में साध्य रूप अग्नि का अभाव निश्चित है। और इसमें धूम भी नहीं रहता है। इसे विपक्ष कहते हैं।[१]

इसी प्रकार 'धूमवत्वहेतु अबाधित विषय है, क्योंकि धूमत्व हेतु का विषय अग्निमत्व पर्वत रूप पक्ष में किसी प्रमाण से बाधित नहीं हैं। असत्प्रतिपक्षत्व भी धूमत्व में ही है। इसका अर्थ हुआ—जहां प्रतिपक्ष अविद्यमान है। इस प्रकार जहाँ पांचों हेतु होते हैं, वहाँ शुद्ध हेतु कहा जाता है और किसी भी एक के न रहने पर हेत्वाभास कहा जाता है।[१] केवल अन्वयी हेतु विपक्ष रहित चार हेतुओं से युक्त होता है और केवल व्यतिरेकी सपक्ष रहित चारों रूपों से युक्त होता है।

हेत्वाभास—अब तक यह स्पष्ट हो चुका है कि अनुमान में हेतु का बहुत अधिक महत्व है। अतः पञ्चावयव युक्त हेतु का होना आवश्यक है। इनमें एक की भी कमी रहने से उसे अशुद्धहेतु कहते हैं। ये हेतु के समान प्रतीत तो होते हैं परन्तु वास्तव में इन्हें हेतु न कहकर अशुद्ध हेतु या हेत्वाभास कहा जाता है। इन्हें दुष्ट हेतु की संज्ञा भी दी गई है। अनुमान द्वारा प्रतीयमान अर्थ का बोध कराने वाले व्यञ्जना विरोधी महिम भट्ट की अनुमान प्रक्रिया में इस प्रकार का दोष वर्तमान है जिसका खण्डन मम्मट ने इसी आधार पर किया है। अतः इन हेत्वाभासों को समझ लेना प्रस्तुत प्रसंग के अर्थ ग्रहण करने में सहायक सिद्ध होगा।

---

१. सन्दिग्ध साध्यवान् पक्षः। यथा धूमवत्वे हेतौ पर्वतः। निश्चित साध्यवान् सपक्षः। यथा तत्रैव महानसः। निश्चितसाध्याभावनान् विपक्षः। यथा तत्रैव महाह्रदः। तर्क संग्रह पृ० ४३,३४ तर्कमार्गा–०७।

२. तर्क भाषा पृ० ८६ यस्त्वन्यो·······अहेतुरितियावत्।"

इस हेत्वाभास के पाँच भेद किये गये हैं—असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक प्रकरणसम (बाधित विषय) और कालात्ययापदिष्ट (सत्प्रतिपक्ष)।

असिद्धहेत्वाभास - इसमें असिद्ध हेतु वह हो जिसकी स्थिति ही न हो इसके ३ भेद आश्रयासिद्ध, स्वरूपासिद्ध, व्याप्यत्वासिद्ध हैं।

जिस हेतु का आश्रय या पक्ष ही न हो उसे आश्रय सिद्ध हेत्वाभास कहते हैं जैसे —आकाश कमल सुगन्धित होता है। कमल होने से, सरोज कमल के समान है, परन्तु इस वाक्य में आकाश कमल हेतु का आश्रय पक्ष—उसकी स्थिति ही नहीं होती हैं।[1] अतः आश्रय-पक्ष—के न रहने से अनुमान प्रतीत होता हुआ भी यह केवल हेतु का आभास मात्र है, और इसे आश्रय सिद्ध हेत्वा-भास कहते हैं। स्वरूपासिद्ध का आश्रत तो होता है परन्तु उस आश्रय में हेतु नहीं रहता है। "यो हेतुराश्रये नावगम्यते स स्वरूपासिद्धः" ! जैसे शब्द "अनित्य है चाक्षुष होने से, घटक के समान,' अनुमान वाक्य में शब्द का हेतु चाक्षुष बताया गया है जो असत्य है। क्योंकि पक्ष–आश्रय रूप शब्द नेत्र ग्राह्य नहीं होता, श्रवण ग्राह्य होता है।[2] अतः असिद्ध हो जाता है। यहाँ स्वरूपा-सिद्ध हैं।

व्यापत्वासिद्ध हेत्वाभास दो प्रकार का होता है। (१) व्याप्ति ग्राहक प्रमाण के अभाव में। (२) उपाधि के सद्भाव में। इनमें व्याप्ति की सिद्धि नही रहती अर्थात् उपाधि से युक्त हेतु को व्यापत्वासिद्ध कहते हैं जैसे–'पर्वत में आग होने से धुंआ हैं' वाक्य में धूम का व्याप्ति सम्बन्ध केवल अग्नि से नहीं माना जा सकता है। जब तक कि गीली लकड़ी की अग्नि न हो अतः लकड़ी का गीली होना वहाँ उपाधि के रूप में है।

(२) **विरूद्ध हेत्वाभास**—साध्य के विपरीत (विपर्यय–अभाव) के साथ व्याप्त हेतु विरुद्ध हेत्वाभास है।[3] जैसे शब्द नित्य है, जन्य (कार्य) होने से,' वाक्य में जितनी भी वस्तुएं कार्य होती हैं, वह सभी अनित्य होती हैं। शब्द भी कार्य है अतः वह भी अनित्य होगा। यहाँ जन्यत्व का जो हेतु दिया गया है, वह साध्य (नित्यत्व) के साथ ठीक नहीं बैठता, है, अपि तु विरुद्ध पड़ता है। अतः विरूद्ध हेत्वाभास होगा।

---

१. आश्रयासिद्धो……सच नास्तयेव। तर्कभाषा पृ० ६१

२. स्वरूपासिद्धो यथा अनित्यः शब्दः चाक्षुषत्वात् घटवत्। अत्र चाक्षुषत्वं हेतु, स च शब्दे नास्तयेव, तस्यश्रावणत्वात्।

३. तर्कभाषा–अनुमाननिरूपणम् पृष्ठ ६४

(३) **सव्यभिचार— अनैकान्तिक) हेत्वाभास**–जो हेतु पक्ष, विपक्ष सभी में रहता हो उसे अनैकान्तिक हेत्वाभास कहते हैं। नियम के अनुकूल विपक्ष में उसे नहीं रहना चाहिए। जैसे शब्द 'नित्य' है। ज्ञातव्य होने के कारण आकाश के समान यह दुष्ट हेतु है। क्योंकि ज्ञातव्य पदार्थ तो अनित्य है।[1] यहाँ 'प्रमेयत्व' हेतु नित्य अनित्य सभी में रहता है। अतः यह ठीक नहीं हुआ।

(४) **सत्प्रतिपक्ष हेत्वाभास**—जहाँ अन्य प्रमाण से साध्य का अभाव निश्चित हो, अर्थात् तुल्य बल वाले दो विपरीत हेतुओं के होने पर ही वाधित विषय होता है। जैसे शब्द 'अनित्य' है, नित्यधर्म रहित होने के कारण। शब्द नित्य है, अनित्य धर्म रहित होने के कारण। अनुमान में पहले वाक्य में नित्य-धर्म रहितत्व ये दोनों हेतु एक दूसरे के साध्य से विपरीत अर्थ को सिद्ध करना चाहते हैं। अर्थात् शब्द में नित्यत्व और अनित्यत्व दोनों की सिद्धि इन दो अनुमान वाक्यों से ओतप्रोत हैं। अतः तुल्य बल विरोधी हेतु होने से सत्प्रतिपक्ष है।

(५) **बाधित विषय**—जहाँ साध्य का अभाव किसी अन्य प्रबलतम प्रमाण से निश्चित हो जाय, वहाँ बाधित विषय कहा जाता है। जैसे अग्नि उष्णता रहित है, कृतक जन्य होने से जल के समान अनुमान में अग्नि का उष्णत्व प्रत्यक्ष प्रमाण (त्वचाओं के स्पर्श से ही) से प्रमाणित है। यहाँ साध्य अनुष्णत्व का अभाव अर्थात उष्णता का अग्नि में होना प्रमाणित है। अतः यह बाधित विषय हेत्वाभास हुआ।[2]

इस प्रकार संक्षेप में अनुमान की प्रक्रिया का ज्ञान हो जाने पर महिम भट्ट द्वारा व्यञ्जना का विरोध समझना सरल हो जायगा। महिम भट्ट ने भी प्रतीयमान अर्थ की स्थिति को स्वीकार किया है। तथा यह भी मान लिया है कि वाक्य अर्थ की अपेक्षा प्रतीयमान अर्थ में चमत्कार अधिक रहता है। उन्होंने कहा है कि वाच्य अर्थ उतना आस्वादक नहीं होता है जितना प्रतीयमान अर्थ[3]

---

२. तर्कभाषा–पृष्ठ ६४

३. यथाअग्निरनुष्णः कृतकत्वाज्जलवत्। अत्रहि कृतकत्वस्य हेतोः साध्य-मनुष्णत्वं तदभावः प्रत्यक्षणैवाव धारितः स्पर्शन प्रत्यक्षेवोष्णत्वो-पलम्भात्" तर्कभाषा। ६५।

१. व्यक्ति विवेक–पृष्ट ७३

इतना मानकर भी इस प्रतीयमान अर्थ को बताने में शब्द की किसी शक्ति का समर्थन न करके वे इसे अनुमान का विषय मानते हैं, और अपने ग्रन्थ में उन्होंने बताया है कि व्यंग्यार्थ अनुमेयार्थ ही है।[1]

दो प्रकार के शब्द—महिम भट्ट के अनुसार शब्द वाच्य और अनुमेय दो ही प्रकार के हो सकते हैं। इनमें वाच्य अर्थ ही मुख्य अर्थ होता है, क्योंकि शब्द व्यापार से इसका सीधा अर्थ होता है। प्रतीयमान अर्थ वाच्यार्थ के द्वारा अनुमित होता है। इस प्रतीयमान अर्थ रूप हेतु से जिसकी अनुमिति होती है उसे अनुमेय अर्थ कहते हैं। अस्तु अलंकार रूप अर्थ तो वाच्य भी हो सकता है, परन्तु रस सदा ही अनुमेय होता है।[2] इस प्रकार ध्वनिकार के पद चिह्नों पर चलते हुये व्यञ्जना जैसी पदावली पर ही इनका विरोध प्रतीत होता है। मम्मट ने भी रसादि रूप अर्थ को स्वप्न में भी वाच्य नहीं माना है।[3]

महिम भट्ट ने बताया है कि वस्तुतः रसादि रूप अनुमेय अर्थ व्यञ्जित नहीं होता है। इनमें भी धूमाग्नि के समान गम्य-गमक का भाव होता है। परन्तु अपनी तीव्रता के कारण भ्रम से लोग इसे व्यंग्य-व्यञ्जक भाव मान लेते हैं। वस्तु और अलंकार रूप अनुमेयार्थ में गम्य-गमक भाव स्पष्ट दीख पड़ने से व्यंग्य-व्यञ्जक भाव मानने की आवश्यकता ही नहीं है। वैयाकरणों के ध्वनि और स्फोट रूप अर्थ में ध्वनि रूप शब्द अनुमापक और स्फोट रूप अर्थ अनुमाप्य है। अतः यह अर्थ अनुमाप्य हुआ। और उसका बोध कराने वाला व्यापार अनुमान ही कहा जायेगा।[4] मम्मट ने भी पूर्व पक्ष के रूप में इसे उपस्थित करते हुए कहा है कि वाच्य से असम्बद्ध अर्थ की प्रतीति नहीं होती है। यदि ऐसा माने तो किसी भी शब्द से किसी भी अर्थ की प्रतीति होने लगेगी। इस प्रकार व्यंग्य-व्यञ्जक भाव व्याप्ति के बिना निश्चित ही नहीं

---

२. अनुमानेऽन्तर्भावं सर्वस्यैव ध्वनेः प्रकाशयितुम्।
व्यक्तिविवेकं कुरुते प्रणम्य महिमा परां वाचम्। व्य० वि० १/१

३. "तत एव तदनुमिताद्वा लिंगभूताद्यदर्थान्तरमनुमीयतेसोऽनुमेय :। स च त्रिविधः, वस्तुमात्रमलङ्कारारसादयश्चेति। तत्राद्यो वाच्यावपि सम्भवतः। अन्यस्त्वनुमेय एवेति।" व्यक्ति विवेक पृ० ३६

४. सङ्कलनेन पुनरस्य ध्वनेस्त्रयो भेदा, व्यंग्यस्य त्रिरूपत्वात्। तथाहि किञ्चिद्वाच्यतां सहते किञ्चिदन्यता।........रसादिलक्षणस्यार्थः स्वेप्नऽपि न वाच्य। काव्य प्रकाश-पंचम उल्लास पृ० २१७

५. व्यक्ति विवेक पृ० ५७

हो सकता है। अतः व्याप्ति युक्त और नियत धर्मों (पक्ष) में रहने के कारण तीनों रूपों वाले (पक्ष, सपक्ष, विपक्ष) धूमादि रूप हेतु के समान लिङ्ग से लिङ्गी (वह्नि आदि के समान साध्य) का जो अनुमान उसी रूप में व्यङ्ग्य व्यञ्जक भाव का पर्यवज्ञान होता है[1] अर्थात् लिङ्ग के तीन रूप, पक्ष विपक्ष और सपक्ष, इन तीन रूपों से युक्त हेतु शुद्ध हेतु है। और एक की भी न्यूनता से हेत्वाभास होता है। इस प्रकार व्याप्ति और पक्षधर्मतायुक्त तथा त्रिरूप विशिष्ट लिङ्ग से लिङ्गी के ज्ञान को ही अनुमान कहा जाता है। तथा व्यंग्य अर्थ की प्रतीति भी व्याप्ति सम्बन्ध और पक्ष धर्मता के विना सम्भव नहीं। अतः व्यंग्य-व्यञ्जक भाव की प्रतीति अनुमान द्वारा ही सम्भव है।

उदाहरणों की अनुमान द्वारा सिद्धिः—

महिम भट्ट ने ध्वनिकार के द्वारा दिये गये उदाहरणों को अनुमान द्वारा सिद्ध करने का प्रयास किया है। ऊपर बताया जा चुका है कि व्याप्ति और पक्ष धर्मता, ये अनुमान के दो अंग हैं। अन्वय व्याप्ति भाव पदार्थों और व्यतिरेक व्याप्ति अभाव पदार्थों का होता है। जैसे—'यत्र यत्र धूमः तत्र तत्र वह्निः' अन्वय व्याप्ति और 'यत्र यत्र वह्न्यभावः तत्र तत्र धूमाभावः' यह व्यतिरेक व्याप्ति हुई। महिम भट्ट ने ध्वनिकार द्वारा दिये गये गाथा में[2] गोदावरी तीर पर पण्डित जी के न जाने के लिये, इसी व्यतिरेक व्याप्ति का आश्रय लिया है। विधिरूप में भ्रमण करने को कहा गया है। साथ ही सिंह कि उपस्थिति भी बताई गई है। "पण्डित जी जैसे भीरु व्यक्ति का भ्रमण तो तब बन सकता था, जब भय का कारण वहाँ न होता। परन्तु वहाँ सिंह रूप भय का कारण विद्यमान है। इसलिये यहाँ भयकारणोपलब्धि रहने से साधनाभाव (अर्थात् भयकारणउपलब्धि का अभाव; अर्थात् भयकारणोपलब्धि पाया जाता है। उससे साध्य विधिरूप भ्रमण का निषेध भ्रमणाभाव ही सिद्ध हो सकता है।

इस गाथा में महिम भट्ट ने बताया है कि [3] वाच्य और प्रतीयमान दोनों ही अर्थ क्रमशः प्रतीत होते हैं। तथा धूम और अग्नि के समान इसमें साध्य साधन भाव है। कुत्ते के मारे जाने पर उससे क्रूर सिंह की उपस्थिति भ्रमण का निषेध करती है, और इस निषेधार्थ की प्रतीति अनुमिति जन्य है। इसको

---

१. काव्य-प्रकाश-पंचम उल्लास पृ० २५८

२. भ्रमधार्मिकविश्रब्धः स शुनकोऽद्य मारितस्तेन।
गोदानदीकच्छकुञ्जवासिनादृप्तसिंहेन॥ गाथा सप्तसती २/७५

३. व्यक्ति विवेक तृतीय विमर्श पृ० ४०० चौ० सं० सीरीज

अनुमान वाक्य में इस प्रकार कहा गया है कि जहाँ-जहाँ भय जनक वस्तु होगी वहाँ भीरु व्यक्ति नहीं जायेगा। गोदावरी तीर पर भयंकर सिंह है। अतः भीरु भ्रमण अयोग्य है । इसी को निम्नलिखित वाक्यों में स्पष्ट किया जा सकता है ।

१. साध्य प्रतिज्ञा—	"गोदावरी तीरं भीरु भ्रमणायोग्यं"—	गोदावरी का तीर डरपोक के भ्रमण के अयोग्य है ।
२. हेतु सधान—	"भयकारणसिंहोपलब्धेत्:—	भय के कारण सिंह की उपलब्धि होने से ।
३. व्यतिरेकव्याप्ति-	यद्यत् भीरु भ्रमण-योग्यं तत्तद्भयकारणाभाववत् यथा गृहम्	(जो-जो भीरु के भ्रमण के योग्य है वह (स्थान) भय के कारण से रहित है जैसे घर (लिङ्ग या हेतु)
४. उपनय—	"न चेदं तीरं तथा भयकारणाभावंवत् सिंहोपलब्धेः"	(यह) तीर सिंह की उपस्थिति से भय के कारण के अभाव से मुक्त नहीं है।
५. निगमन—	"तस्मात् भीरु भ्रमणायोग्यम्"—	अतः भीरु के भ्रमण के अयोग्य है ।

इस प्रकार पञ्चावयव युक्त अनुमान वाक्य द्वारा महिम भट्ट ने भ्रमण के निषेध को सिद्ध किया है। इसी बात को मम्मट ने पूर्व पक्ष के रूप में उपस्थित किया है।[1] इस प्रकार व्यक्त हो गया कि घर में कुत्ते के भी न रहने से भ्रमण योग्य है। तथा गोदावरी तीर पर सिंह के रहने के ज्ञान के द्वारा भ्रमण के अभाव का अनुमान कराता है। इसे हेतु कहेंगे। **व्याप्ति में**—जो जो भीरुओं के भ्रमण योग्य होता हैं वह भय कारण के अभाव के ज्ञान पूर्वक होता है। परन्तु गोदावरी तीर पर भय के कारण की उपलब्धि होने से साधन का अभाव माना जायेगा अतः यहाँ साध्य भीरु भ्रमण के सम्बन्ध में भय के कारण के अभाव की उपलब्धि न होकर उसके विरुद्ध भय के कारण सिंह की उपलब्धि

---

१. "अत्र गृहे श्वनिवृत्त्या भ्रमणं निहितं गोदावरी तीरे सिंहोपलब्धेर-भ्रमणमनुमायति । यद् यद् भीरुभ्रमणं तत्तद्भयकारणनिवृत्युपलब्धि पूर्वकम् गोदावरी तीरे च सिंहोपलब्धिरिति व्यापक विरुद्धोपलब्धिः" का० प्र० पं० उ० पृष्ट २६०

होने से साधन का अभाव माना जायेगा। अर्थात् अभाव साधक सिंह की उपलब्धि होती है। अतः यहाँ व्यतिरेक व्याप्ति के आधार पर अनुमान के द्वारा भ्रमण के निषेध की प्रतीति हो जाती है। इसी से व्यञ्जना मानने की कोई आवश्यकता नहीं पड़ती, क्योंकि उसका काम तो अनुमान से ही चल जाता है। इसी प्रकार इन्होंने अन्य उदाहरणों को भी अनुदान द्वारा सिद्ध करने का प्रयास किया है। परन्तु ध्वनिवादियों में आचार्य मम्मट और विश्वनाथ ने इसका खंडन किया है।

महिम भट्ट का खण्डन—

(१) भट्ट ने वाच्य और अनुमेय दो प्रकार के अर्थों को ही माना है। परन्तु व्यंग्यार्थ की स्थिति को भी उपचार वृत्ति द्वारा स्वीकार किया है। रसादि प्रतीति में उसका व्यवहार भी पाया जाता है। इस प्रकार एक ओर व्यंजना को न मानना और दूसरी ओर व्यंग्यार्थ को स्वीकार करना स्पष्ट रूप से **स्ववचन-विरोध** ही माना जायगा। इससे बचने के लिये उन्होंने रसादि-रूप अर्थ के लिये व्यंग्य व्यंजक भाव को औपचारिक और भ्रान्तिजनक कहा है। यदि रसादि रूप व्यंग्यार्थ को भ्रान्तिजनक ही मान लें तो पुनः व्यंग्य अर्थ के उल्लेख का कोई महत्व नहीं रह जाता है। यदि उपचार से व्यंग्यार्थ को मानना ही है, तो इसी के द्वारा व्यंजना शक्ति मानने में भी कोई हानि नहीं होगी।

(२) महिमभट्ट ने प्रतीयमान या व्यंग्यार्थ को अनुमेय मानकर उसका नाम 'काव्यानुमिति' दिया है। उन्होंने कहा है कि वाच्य द्वारा अनुमित अर्थ जब किसी दूसरे अर्थ को किसी सम्बन्ध से प्रकाशित करता है, तो उसे 'काव्यानुमिति' कहते हैं। इस प्रकार विचार करने से ज्ञात होता है कि महिम भट्ट ने काव्यानुमिति और ध्वनिवादियों के व्यंजना के मूल रूप में कोई अन्तर नहीं है। केवल नाम मात्र का भेद है।

(३) ऊपर जो उदाहरण दिया गया है कि "रामः सीमाविषयक रतिमान् तत्र विलक्षणा स्मित कटाक्ष वत्वात्, यो नैवं सो नैवं यथा लक्ष्मणः" इसमें ध्वनिवादियों का यह कहना है कि इस अनुमान वाक्य में राम के मन में उत्पन्न सीता के प्रति रति के अनुमान का ज्ञान होता है। परन्तु इस ज्ञान को 'रस' संज्ञा नहीं दी जा सकती है। रस सहृदयों के हृदय में उत्पन्न एक अलौकिक आनन्द है। व्याप्ति न होने से उसका बोध अनुमान द्वारा सम्भव नहीं है। और नैयायिकों ने रसबोध को जो अनुमान या स्मृति का विषय माना है। तथा इस प्रकार व्यंजना का निराकरण किया है। उस सम्बन्ध में केवल इतना ही कहना है कि (i) दूसरे की वृत्ति का अनुमान लगा देना ही रस

नहीं कहा जायगा, अपितु आत्मा की अलौकिक आनन्दानुभूति ही रस है, और वह अनुमेय नहीं है।

(ii) स्मृति सदैव ज्ञात वस्तु की होती है, अज्ञात की नहीं। तथा इससे सत्वोद्रेक की उत्पत्ति नहीं होती है, अपितु अतीत की देखी सुनी या समझी हुई वस्तु का वर्तमान में ध्यान मात्र ही आ जाता है। रस की स्थिति केवल अनुभव दशा में ही रहती है पूर्व या पश्चात् नहीं। अतः रस अनुमेय नहीं हो सकता है उसे तो व्यंजना का ही व्यापार मानना होगा। जिसको महिम भट्ट अनुमान द्वारा सिद्ध करना चाहते हैं, वह रस से भिन्न कुछ और ही पदार्थ है। इस प्रकार रस की सिद्धि अनुमान द्वारा न होकर रस से भिन्न पदार्थ की सिद्धि होती है।

(४) ऊपर धार्मिक वाले प्रसंग में अन्वय और व्यतिरेक व्याप्ति भी ठीक नहीं बैठती हैं। जिस 'भ्रमधार्मिक' गाथा में महिमभट्ट धार्मिक के भ्रमण के निषेध को अनुमान का विषय बनाना चाहते हैं। उस अनुमान का स्वरूप "गोदावरी तीरं धार्मिक भीरु भ्रमणायोग्यं सिंहवत्वात् यन्नैवं तन्नैवं यथा गृहम्" इस प्रकार होगा। इस उदाहरण में 'सिंहवत्वात्' हेतु और भीरु भ्रमणायोग्यत्व साध्य होगा। अर्थात् जहाँ जहाँ भय का कारण होगा वहाँ-वहाँ भीरु भ्रमण के अयोग्य होगा, यह व्याप्ति बनती है। परन्तु व्यवहार में हम देखते हैं कि भय का हेतु होते हुये भी भीरु व्यक्ति गुरू के आदेश या राजा की आज्ञा से युद्ध क्षेत्र में जाता है, अथवा प्रिया के अनुराग से अथवा इसी प्रकार के अन्य हेतुओं से भय-युक्त स्थान पर भी जाता है। अतः इसमें व्याप्ति पूर्ण न होने से अनुमान का ठीक रूप नहीं कहा जा सकता है।

(ii) इस प्रकार इसमें शुद्ध हेतु न होकर हेत्वाभास है। इस हेतु में (१) अनैकान्तिक (२) विरुद्ध (३) स्वरूपासिद्ध ये तीन प्रकार के हेत्वाभास हैं। प्रथम अनैकान्तिक हेत्वाभास है, क्योंकि जहाँ-जहाँ भीरु भ्रमण होता है, वहाँ-वहाँ भय के कारण का अभाव ही हो ऐसी व्याप्ति नहीं होती है। भय के स्थानों पर भी भीरु किसी कारण बस जाते ही हैं। अतः **अनैकान्तिक**[१] हेतु है।

(iii) इस उदाहरण में गोदावरी तीर 'पक्ष' है। उसमें 'सिंहोपलब्धि रूप हेतु का होना आवश्यक है, परन्तु प्रत्येक कथन प्रमाण ही हो, ऐसी 'व्याप्ति'

---

१. भीरुरपि गुरोः प्रभोर्वानिदेशेन, प्रियानुरागेण, अन्येन चैवंभूतेन हेतुना सत्यपि भय कारणे भ्रमतीत्यनैकान्तिको हेतु। का० प्र० प० उ० पृष्ठ २६१

नहीं होती हैं। अतः केवल उसी के कथन मात्र से सिंह की उपस्थिति को प्रमाणिक नहीं माना जा सकता हैं। इस प्रकार गोदावरी तीर पर सिंह की सत्ता संदिग्ध है। और इस हेतु (सिंहोपलब्धि) का पक्ष (गोदावरी-तीर) में निश्चय न होने से स्वरूपसिद्ध[1] नामक हेत्वाभास है।

(iv) कुत्ते से डरते हुये भी वीरता के कारण सिंह से नहीं डरता है, इस कारण विरुद्धहेत्वाभास[2] है। प्रत्येक शुद्ध हेतु के लिये आवश्यक है कि पक्षसत्व, सपक्षसत्व और विपक्षव्यावृतत्व तीनों रूप हों। इनमें से एक के भी न होने से वह हेत्वाभास हो जाता है। जो हेतु पक्ष में न हो, वह स्वरूपासिद्ध और जो 'विपक्षव्यावृतत्व' धर्म रहित हो उसे 'अनैकान्तिक हेत्वाभास' कहते हैं। इस प्रकार इस उदाहरण में इन कमियों के कारण भ्रमण निषेध का ज्ञान अनुमान द्वारा नहीं माना जा सकता है। अन्य उदाहरणों को भी इसी प्रकार सिद्ध किया जा सकता है कि वे अनुमेयन होकर व्यञ्जनावृत्ति गम्य हैं। इसके लिये तो व्यञ्जनावृत्ति को मानना ही पड़ेगा।

इसके विपरीत व्यञ्जनावादियों के मत से व्याप्ति के बिना भी इस प्रकार का व्यंग्य-अर्थ प्रकाशित होता है। अतः अनुमान के द्वारा व्यंग्यार्थ की प्रतीति कभी नहीं हो सकती है और व्यङजनावृत्ति उसके लिए अनिवार्य है।[3] साथ ही व्यञ्जनावादियों ने पद, पद्यांश, अर्थ, वर्ण सभी द्वारा प्रतीयमान अर्थ का बोध माना है। परन्तु वस्तु अलंकार और रस रूप प्रतीयमान की प्रतीति इनके द्वारा अनुमेय होने से अनैकान्तिक हेतु हो जायेगा। इसी से बाद के नैयायिकों ने अनुमान के अन्तर्गत व्यञ्जना को नहीं माना है। संक्षेप में केवल इतना ही कहेंगे कि व्यञ्जना का अपलाप नहीं किया जा सकता है, और उसकी स्थिति तो माननी ही पड़ेगी।

---

१. गोदावरी तीरे सिंह सद्भावः प्रत्यक्षादनुमानाद्वा न निश्चितः अपितु वचनात् न च वचनस्य प्रमाण्यामस्ति अर्थेनाप्रतिबन्धादित्य सिद्धश्च। का० प्र० पं० उ० पृष्ठ २६१

२. शुनो विभ्यदपि वीरत्वेन सिंहान्न विभेतीति विरोद्धोऽपि। का० प्र० पं० उ० पृष्ठ २६१

२. 'एवं विधादर्थादेवं विधोऽर्थ उपत्यनपेक्षत्वेऽपि प्रकाशते इति व्वक्तिवादिनः पुनस्तद् अदूषणम्'—का० प्र० पं० उ० पृ०२६२

लक्षणावादी और व्यंजना

व्यञ्जना का अपलाप करने के लिए इसके विरोधियों का एक और वर्ग रहा है। इन लोगों ने लक्षणा के द्वारा ही व्यंग्यार्थ बोध की बात को स्वीकार किया हैं। इनका कहना है कि व्यंग्य अर्थ का ज्ञान जब लक्षणा से ही हो सकता है, तो व्यंजना जैसी शक्ति को मानने की आवश्यकता ही नहीं रह जाती है। जब हम किसी लक्षणा के शब्द का प्रयोग करते हैं, तो उस शब्द द्वारा प्रयुक्त भाव विशेष की व्यञ्जना ही प्रयोता का मुख्य उद्देश्य होता है। जैसे—यदि 'सिंहो माणवकः' अर्थात् 'यह बच्चा शेर है' वाक्य को लें तो इसमें सिंह रूप लाक्षणिक प्रयोग का उद्देश्य बालक में शौर्य को दिखाना ही है। प्रश्न यह है कि इस शौर्य-कार्य रूपी प्रयोजन विशेष का बोध शब्द की किस शक्ति द्वारा सम्भव है। लक्षणा-बोध के लिए व्यञ्जना नामक एक अन्य शक्ति का अस्तित्व मानना पड़ता है। विचारणीय प्रश्न है कि व्यञ्जना व्यापार का काम लक्षणा से चल सकता है या नहीं।

कई लोगों ने लक्षणा और व्यञ्जना को एक दूसरे से अभिन्न माना है। इनके मतानुसार भक्ति ही ध्वनि है। इस मत का खण्डन किया जा चुका है। अतः उसका पुनः खण्डन यहाँ पर व्यर्थ ही है। पाठकगण ध्वनिकार द्वारा "व्यञ्जना की स्थापना" शीर्षक वाले परिच्छेद में देखलें। लक्षणा के अन्तर्गत प्रतीयमान अर्थ का बोध कराने वालों में मुकुल भट्ट का विशेष रूप से नाम लिया जा सकता है। उनके 'अभिधावृत्ति मातृका' में लक्षणा व्यापार द्वारा ही सभी प्रतीयमान अर्थ का बोध बताया गया है। कुन्तक ने भी 'वक्रोक्तिजीवितम्' में उपचार वक्रता के द्वारा प्रतीयमान अर्थ के ज्ञान की बात कही है। परन्तु इसके द्वारा केवल लक्षणामूला ध्वनि ही इसके अन्तर्गत आ सकती है।[1]

लक्षणावादियों का पूर्व-पक्षः—इनके अनुसार लक्षणाव्यापार द्वारा ही व्यंग्यार्थ का बोध माना जायेगा। लक्षणा के स्वरूप का निर्धारण करते

---

१. अलंकार सर्वस्व. टीका. पृ० ६ (रुय्यक के टीकाकार (समुदबन्ध)

हुए मम्मट ने कहा है कि इसकी प्रथम शर्त 'मुख्यार्थ' का बोध होना है। जब मुख्यार्थ की संगति उचित नहीं जान पड़ती है तभी हम उपचार की सहायता से उससे सम्बद्ध अन्य अर्थ को ग्रहण करते हैं। यह अन्य अर्थ लक्षणार्थ कहा जाता है। और इसकी बोधिका-शक्ति लक्षणा के नाम से अभिहित होती है। प्रतीयमान अर्थ को भी इसी प्रकार का समझना चाहिए, क्योंकि इसमें भी मुख्यार्थ की संगति ठीक न होने से प्रतीयमान अर्थ को ग्रहण किया जाता है। इस प्रकार इन लक्षणावादियों के अनुसार प्रतीयमान अर्थ भी लक्ष्यार्थ का एक भेद ही है। अतः इसका बोध लक्षणावादियों द्वारा ही हो सकता है।

इस मत का सर्वप्रथम खण्डन ध्वनिकार ने किया है। उन्होंने सर्वप्रथम ध्वनिविरोधी तीनों मतों (अभाववादी, अलक्षणीयतावादी और भाक्तवादी (लक्षणावादी) को ग्रहण करते हुए उन सबका खण्डन किया है। इसी प्रसंग में उसका विस्तार दिया जा चुका है। आगे चल कर लोचनकार और मम्मट ने भी इस मत का विशेष रूप से खण्डन किया है। यहाँ पर केवल मम्मट का ही सविस्तार विचार किया जायेगा।

मम्मट द्वारा लक्षणावादी मत का खण्डन:—

मम्मट ने लक्षणा के भेदों में रूढ़ि और प्रयोजनवती लक्षणा का भी नाम लिया है और बताया है कि रूढ़ि लक्षणा व्यंग्य से रहित और प्रयोजन वाली लक्षणा व्यंग्य युक्त होती है।[१] इस प्रयोजनवती लक्षणा में शब्द का प्रयोग साक्षात संकेतित अर्थ में न होकर मुख्यार्थ बोध के रूप में होता है, और उसके द्वारा वक्ता किसी अभिप्राय या प्रयोजन विशेष को व्यक्त करना चाहता है। उस वाक्य या शब्द प्रयोग का उद्देश्य या साध्य वह प्रयोजन विशेष ही है और इसके सिद्धि का प्रधान उपकरण व्यञ्जना व्यापार है और वह साध्य अभिप्राय व्यंग्यार्थ होता है।

पूर्व पक्षी का इस स्थान पर यह कहना है कि रुढ़ि और प्रयोजन को लक्षणा का हेतु मानना चाहिए।[२] उसने 'गङ्गायांघोषः' (गंगा में अमीरों का घर है) वाक्य का उदाहरण देते हुए कहा है कि इस वाक्य में 'गंगायां' शब्द का जो लाक्षणिक प्रयोग किया गया है उसका मूल अभिप्राय पुण्यत्व, मनोहरत्व अथवा शैत्यपावनत्व ही है। वह पुण्यत्व और मनोहरत्व अपने शब्दों से (साक्षात्

१—व्यंग्येन रहिता रूढ़ौ सहितातु प्रयोजने। का० प्र० २।१३ सू० १८

२—रूढ़े : प्रयोजनाद्वापि व्यवहारे विलोक्यते। अभिधावृत्तिमातृका—का० १० मुकुलभट्ट।

संकेतित्) शब्द से ज्ञान न होने से अभिधा का व्यापार नहीं है और मुख्यार्थ बोध के कारण इसे लक्षणा का ही व्यापार कहेंगे।[1] इस प्रकार मुकुल भट्ट ने पुण्यत्व, मनोहरत्व रूपी साध्य को लक्षणा का ही प्रयोजन माना है, परन्तु ध्वनिवादी आचार्य इसकी प्रतीति व्यञ्जनावृत्ति से ही मानते हैं।

खण्डन:—

यदि इस व्यंग्यार्थ रूपी साध्य का बोध लक्षणा से ही माना जाय तो इसके तीन विकल्प हो सकते हैं।

(१) लक्ष्यार्थ बोध कराने के बाद लक्षणा उक्त प्रयोजन का बोध कराये।

(२) उस प्रयोजन को लक्ष्यार्थ ही माना जाय।

(३) यदि प्रयोजन लक्ष्यार्थ से भिन्न हो, तो प्रयोजन-विशिष्ट तट आदि की उपस्थिति लक्षणा से मानी जाय।

प्रथम विकल्प के सम्बन्ध में ऐसा कहा जा सकता है कि एक बार लक्षणा जब लक्ष्यार्थ की प्रतीति करा देती है तो उसकी शक्ति का क्षय हो जाता है और उसमें इतनी शक्ति नहीं रह जाती है कि वह किसी और अन्य अर्थ का बोध करा सके। ऐसी दशा में व्यंग्यार्थ रूप प्रयोजन की प्रतीति लक्षणा की शक्ति के बाहर का व्यापार है और उसकी प्रतीति व्यञ्जना व्यापार से ही सम्भव हो सकती है।[2]

दूसरे विकल्प में प्रयोजन को लक्ष्यार्थ मानने की बात कही गई है। परन्तु मुकुलभट्ट तट को लक्ष्यार्थ मानते हैं, पुण्यत्व मनोहरत्वरूप प्रयोजन को नहीं। अतः प्रयोजन को लक्ष्यार्थ मानने का प्रश्न ही नही उठता। फलस्वरूप प्रयोजन का बोध केवल व्यञ्जना से ही हो सकता है अन्य किसी वृत्ति से नहीं।[3] क्योंकि—

१—अत्र च लक्षणाया : प्रयोजनं तटस्य गंगात्वैकार्थ समवेतां संविज्ञातप्र पुण्यत्व, मनोहरत्वादि प्रतिपादनम्। नहितत् पुण्यत्वमनोहरत्वादि स्वशब्दैः स्पष्टुं शक्यते। अ० वृ० मा० का० १० की व्याख्या।

२—का० प्र० २-१८-१५।

३—अत्रहि गंगा-शब्दाभिधेयस्यऽसौ स्रोतो विशेषस्य घोषाधिकरणत्वानुपपत्या मुख्य शब्दार्थ-बाधेसति योऽसौ समीप-समीपि भावात्मक : सम्बन्धस्तदाश्रयेन तटं लक्षयति। अभिधावृतिमातृका

१—संकेत ग्रह न होने से अभिधा गम्य, वह प्रयोजन नहीं हो सकता है[1] अर्थात शब्द का जो साक्षात् अर्थ होता है उसी का ज्ञान अभिधा से हो सकता है। और प्रयोजन का बोधक व्यंग्यार्थ शब्द के साक्षात् संकेत का विषय नहीं होता है। इस प्रकार 'गंगायां घोषः' में जिस पावनत्व आदि प्रयोजन को तट रूप लक्ष्यार्थ में लक्षणावादी बताना चाहते हैं, उसमें गंगा आदि शब्दों का संकेत नही है। अतः प्रयोजन की प्रतीति अभिधा से नहीं हो सकती है।

२—हेतुओं के न रहने से इसे लक्षणा भी नहीं कह सकते हैं।[3] लक्षणा के तीन प्रकार के हेतु माने गये हैं—मुख्यार्थ बोध, उद्योग और रूढ़ि या प्रयोजन में से अन्यतर होना। 'गंगायां घोष." का मुख्यार्थ' गंगा में (स्रोत) घर है'— होगा। लक्ष्यार्थ गंगा तट पर घर है और प्रयोजन पुण्यत्व, मनोहरत्व का बताना है।

अब प्रश्न यह है कि (i) यदि उस प्रयोजन को लक्ष्यार्थ मानें यानी पुण्यत्व मनोहरत्व रूप धर्म को लक्ष्यार्थ माना जाय (जैसा कि लक्षणावादी कहना चाहता है) तो इसके पूर्व प्रतीत होने वाला वास्तविक लक्ष्यार्थ तट को मुख्यार्थ मानना पड़ेगा। परन्तु वह मुख्यार्थ नहीं है।

(ii) यदि इस तट रूप वास्तविक लक्ष्यार्थ को हम मुख्यार्थ मान लें तो जिस प्रयोजन (पुण्यत्वादि) को आप लक्ष्यार्थ कहेंगे, उसका बोध होने के पहले तट रूप मुख्यार्थ का बाध होना चाहिए। परन्तु उसका बाध भी नहीं है, क्योंकि तट तो आधार बन ही सकता है। और उस पर घोष (बस्ती) का होना भी सम्भव है। अतः लक्षणा नहीं हो सकती है।

(iii) लक्षणा के लिए बताया गया है कि पहिले मुख्यार्थ बाध होना चाहिए और दूसरे मुख्यार्थ के साथ लक्ष्यार्थ का सम्बन्ध होना चाहिए। यदि शैत्य पावनत्व या पुण्यत्वादि को लक्ष्यार्थ तथा तट को मुख्यार्थ मानें तो ऐसी दशा में तट रूप मुख्यार्थ का शैत्यादि रूप लक्ष्यार्थ से सम्बन्ध होना चाहिए। परन्तु शैत्य-पावनत्वादि का सम्बन्ध जल प्रवाह से होता है, तट के साथ नहीं, अर्थात् शीतलता जल में रहती है, तट पर नहीं। अतः लक्षणा का दूसरा

१—नाभिधा समयाभावात्। का० प्र० २।१५।

२—हेत्वाभावान्न लक्षणा। का० प्र० २।१५।

३—का० प्र० २।६।

कारण मुख्यार्थ सम्बन्ध भी ठीक नहीं बैठता है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि लक्षणावादी द्वारा शैत्य पावनत्वादि प्रयोजनों को लक्ष्यार्थ रूप में मान भी लेने पर उस फल का माने गये तट रूप मुख्यार्थ के साथ किसी प्रकार का सम्बन्ध ठीक नहीं बैठता है। इसीलिए इस दूसरे हेतु के अभाव में भी लक्षणा नहीं है।

(vi) लक्षणा के लिये रूढ़ि या प्रयोजन में से किसी एक का होना आवश्यक हेतु माना गया है 'गङ्गायां घोषः' में 'गङ्गा' पद तट रूप अर्थ में रूढ़ या प्रसिद्ध नहीं है। अतः रूढ़ होने का कोई प्रश्न ही नहीं है। अब प्रयोजन वाली बात रह शेष जाती है। लक्षणावादी के अनुसार यदि शैत्य पावनात्वादि को हम लक्ष्यार्थ मान लें तो ऐसी दशा में रूढ़ि के न होने से उसका कोई न कोई प्रयोजन मानना ही पड़ेगा, परन्तु (क) इस फल के लिये किसी अन्य प्रयोजन को मानना उपयुक्त नहीं है।

(ख) और यदि लक्षणावादी प्रयोजन माने ही तो इस प्रथम प्रयोजन का कोई दूसरा प्रयोजन मानना होगा। हो सकता है कि आप उसे भी लक्ष्यार्थ कहें, तो पुनः तृतीय प्रयोजन की कल्पना करनी पड़ेगी। इस प्रकार प्रयोजन की यह शृङ्खला अबाधित गति से ही बढ़ती ही चली जायगी। और "अनवस्था" नामक दोष हो जायेगा।[1] अतः एक प्रयोजन का द्वितीय प्रयोजन मानना न्याय संगत नहीं है। और रूढ़ि तथा प्रयोजन में से किसी भी एक हेतु के न होने के कारण लक्षणा नहीं हो सकती है।

(v) लक्षणा के लिये यह भी आवश्यक है कि शब्द अपने अर्थ को व्यक्त करने में असमर्थ नहीं हो। यदि शब्द असमर्थ हो जायगा तो लक्षणा की प्रवृत्ति नहीं हो सकेगी। 'गङ्गायां घोषः' अर्थात् 'गङ्गा में घर' वाक्य से गंगा के तट पर घर अर्थ की प्रतीति कराने में पूर्ण रूप से समर्थ भी है। अतः शब्द के 'स्खलद्गति' अर्थात् अपने अर्थ को बताने में असमर्थता न होने से भी यहाँ लक्षणा प्रवृत्ति नहीं हो पाती है।[2] लक्षणा के लिये मुख्यार्थ बाध आवश्यक है। परन्तु कल्पित मुख्यार्थ तट में यह बाधा नहीं है। और इस प्रकार बिना

---

१. एवमप्यनवस्था स्याद् या मूल क्षयकारिणी। का० प्र० २/१७

२. लक्ष्यं न मुख्यं नाप्यत्र बाधो योगः फलेन नो।
न प्रयोजनमेतस्मिन् न च शब्दः स्खलद्गतिः।
का० प्र० २/१६ पृष्ट ७१

मुख्यार्थ बाध के हो शैत्य, पावनत्व का बोध यदि हो तो शब्द की गति स्खलित नहीं मानी जाती है। अतः लक्षणा मानने का प्रश्न ही नहीं उठता।

तीसरा विकल्प:—

लक्षणा द्वारा इस प्रकार व्यंग्यार्थ बोध का निराकरण हो जाने पर लक्षणावादियों ने एक तीसरे विकल्प को समक्ष रखा है। इस विकल्प द्वारा वे बताना चाहते हैं कि यदि ध्वनिवादी प्रयोजन को लक्ष्यार्थ नहीं मानते हैं, तो ऐसी दशा में शैत्य पावनत्व (शीतलता और पावनता) रूप प्रयोजन से युक्त ही तट की उपस्थिति लक्ष्यार्थ द्वारा मानी जानी चाहिए। इस प्रकार प्रयोजन विशिष्ट तटादि की उपस्थिति वे लक्षणा से मानते हैं।[1] अर्थात् 'गंगायां घोषः' में गंगा का लक्ष्यार्थ केवल तट न होकर शैत्य पावनत्वादि युक्त गंगातट होगा। इस प्रकार गङ्गा का तट पर घोष कहने से केवल एक सामान्य अर्थ का ही बोध होता है। और गंगा में घोष कहने से शीतलता पावनता से युक्त तट रूप एक विशिष्ट अर्थ की प्रतीति होती है।

खण्डन—मम्मट ने प्रयोजन विशिष्ट तटादि को लक्षणा गम्य न मानते हुए कहा है कि प्रयोजन से युक्त (अर्थात् शीतलता से युक्त) लक्ष्यार्थ मानना उपयुक्त नहीं है। क्योंकि ज्ञान का विषय और ज्ञान का फल, इन दोनों में अन्तर होता है।[2] अतः दोनों एक साथ मिलाये नहीं जा सकते। उपर्युक्त उदाहरणों में लक्षणाजन्य का ज्ञान का विषय तट है, और इसका फल शीतलतादि का बोध है। इस प्रकार विषय और फल में पूर्व अपर भाव सम्बन्ध होने से दोनों कार्यकारण रूप आपस में कहे जा सकते हैं। ज्ञान के विषय को 'कारण' और ज्ञान के फल को 'कार्य' कहते हैं। अतः दोनों की प्रतीति एक साथ कभी नहीं हो सकती। अतः प्रयोजन विशिष्ट लक्षणा वाला यह मत भी निराधार हो जाता है।

मम्मट ने यहाँ पर जो विषय और फल के ज्ञान के सम्बन्ध में उल्लेख किया है। उसका स्पष्टीकरण हो जाना आवश्यक है। मीमांसा और न्याय-

---

१. ननु पावनत्वादि धर्म युक्तमेव तटं लक्ष्यते। गंगायास्तटे इत्यतोऽधिकस्यार्थस्य प्रतीतिश्च प्रयोजनमिति विशिष्टे लक्षणा। "तन्कित व्यञ्जनया"। का० प्र० द्वि० उ० पृ० ७५

२. प्रयोजनेन सहितं लक्षणीयं न युज्यते।
ज्ञानस्य विषयो ह्यन्यः फलमन्यदुदाहृतम्।
का० प्र० २/१७–१८ पृ० ७५–७६

दर्शन की सहायता से पूर्व पक्षी के मत का खण्डन किया गया है। नैयायिकों ने इसे 'प्रामाण्यवाद'[1] के अन्तर्गत स्पष्ट किया है। जिसे 'अनुव्यवसाय' या 'संवित्ति' कहते हैं।

नैयायिकों का अनुव्यवसाय—ज्ञान के ज्ञान को अनुव्यवसाय कहते हैं। इसके अनुसार पहिले विषय रहता है और उसके बाद ज्ञान की उत्पत्ति होती है। जैसे, पहिले विषय 'घट' आदि होते हैं। इस घट से पुन: यह ज्ञान उत्पन्न होता है 'कि यह घड़ा है' इस ज्ञान के बाद 'मैं घट को जानता हूँ' या 'मैं इस घट का ज्ञानवान् हूँ', इस प्रकार का ज्ञान उत्पन्न होता है। इस प्रकार इसकी तीन सारणियाँ हैं (१) विषय की उपस्थिति (२) घट ज्ञान (३) घट ज्ञान का ज्ञान। इस प्रकार पहिले विषय की उपस्थिति होती है। दूसरे क्षण में उस विषय का ज्ञान होता है। इसे व्यवसायात्मक ज्ञान कहते हैं। इसके उपरान्त 'मैं घट जानता हूँ।' इस ज्ञान का विषय घट ज्ञान है। इसमें पहिले ज्ञान का विषय घट और दूसरे ज्ञान का विषय घट ज्ञान है। इसे ही घट ज्ञान कहते हैं। यह दूसरा ज्ञान पहिले ज्ञान का फल हुआ। इस प्रकार घट ज्ञान का विषय 'घट' और उसका फल 'घटज्ञान' है। तथा इन दोनों की उत्पत्ति एक साथ न होकर इसमें पूर्वापर सम्बन्ध है। अत: विषय और फल दोनों में निश्चित रूप से भिन्नता है। इस आधार पर कहा जा सकता है कि ज्ञान का विषय और ज्ञान का फल दोनों में अन्तर है। प्रयोजन विशिष्ट लक्षणावाद मानने में यह बाधा है कि गंगा तीर विषय है और शैत्य, पावनत्वादि फल हैं। अत: इन दोनों की समकालीन उत्पत्ति नहीं हो सकती है। इसी से प्रयोजन विशिष्ट लक्षणावाद का सिद्धान्त न्याय शास्त्र के अनुकूल न होने से मान्य नहीं हो सकता है।

मीमांसकों की ज्ञातता—मीमांसकों की ज्ञातता नैयायिकों के अनुव्यवसाय से भिन्नता रखती है। मीमांसक अनुव्यवसाय के स्थान पर ज्ञातता नामक धर्म को मानते हैं। 'ज्ञातताऽन्यथानुपपत्तिप्रसूता अर्थापत्ति' है। इसके अनुसार यह 'घट' है। इस ज्ञान से घट में 'ज्ञातता' नामक एक धर्म उत्पन्न हो जाता है। अर्थात् 'यह घट है' इस प्रकार का ज्ञान होने के बाद 'मेरे द्वारा घट जान लिया गया' इस प्रतीति में घट में रहने वाला 'ज्ञातता' नामक धर्म भासता है। यह धर्म ज्ञान से पहिले घट में नहीं था। ज्ञान के बाद होने से ज्ञान से उत्पन्न माना जाता है। अर्थात् ज्ञान कारण है। इस प्रकार ज्ञान और ज्ञातता में पूर्वा-

१. तर्कभाषा, प्रामाण्यवादे पृ० १३६–१४२

पर सम्बन्ध होने से तथा ज्ञान से ज्ञातता उत्पन्न होने से इन दोनों में कारण कार्य भाव सम्बन्ध हुआ। इस प्रकार इस मीमांसक मत से भी विषय और फल में अन्तर होता है। इसी आधार पर मम्मट ने कहा है कि "ज्ञानस्य विषयो ह्यन्य: फलमन्यदुदाहृतम्" अर्थात् ज्ञान का विषय और फल दोनों अलग-अलग कहे गये हैं। " गंगाया घोष:' में लक्षणा का विषय गंगा तट है और लक्षणा का फल शैत्य पावनत्वादि धर्म विशेष है। और इन दोनों में पूर्वापर सम्बन्ध है, क्योंकि पहले तट का बाद में शैत्य पावनत्वादि का ज्ञान होता है। इस प्रकार यह निश्चित है कि दोनों में भिन्नता है। अत: यह निश्चित हुआ कि प्रयोजन विशिष्ट लक्षणावाद में तट रूप विषय और शैत्यादि रूप फल की एक साथ उत्पत्ति न होने से दोनों का एक साथ प्रयोग समीचीन नहीं होगा, और यह सिद्धान्त अमान्य ठहरता है। तथा फलस्वरूप शैत्य पावनत्व के बोध के लिये तो व्यञ्जना नामक एक अलग शक्ति माननी ही पड़ेगी। अत: लक्षणा द्वारा व्यंग्य बोध का निराकरण करते हुये व्यञ्जना की इस प्रकार की स्थापना मम्मट ने द्वितीय उल्लास में की है। साथ ही उन्होंने यह भी बताया है कि लक्षित अर्थ में विशेष हो सकता है। अर्थात् पहिले लक्षणा से उसके विषय केवल तट की उपस्थिति होती है और बाद में उस प्रयोजन रूप फल को बताने के लिये लक्षणा मूला व्यञ्जना से उस तट रूप लक्ष्यार्थ में शैत्य पावनत्वादि का बोध हो सकता है।[1]

अत: लक्ष्यार्थभूत तटादि में प्रयोजन रूप जिस शैत्य पावनत्वादि धर्मो की प्रतीति होती है उसका ज्ञान अभिधा, लक्षणा और तात्पर्या से न होकर व्यञ्जना नामक एक भिन्न व्यापार से ही हो सकता है और इसे ही व्यञ्जन, ध्वनन्, द्योतन आदि नामों से वाच्य माना जाता है।

इस प्रकार ध्वनि सम्प्रदाय के समर्थकों ने ध्वनि विरोधी सभी मतों का निराकरण करने के लिये प्रबलतम तर्कों को उपस्थित किया है और अन्य सभी सम्प्रदायों की मान्यताओं को ध्वनि की परिधि में लाकर ध्वनि और व्यञ्जना की व्यापकता और सार्वभौमता की सिद्धि अकाट्य रूप में कर दी गई है

---

१. विशिष्टे लक्षणानैवं, विशेषास्यन्तु लक्षिते।
का० प्र० २/१८ पृष्ठ ७६

इन्होंने निम्नलिखित ध्वनि विरोधी सम्प्रदायों का खण्डन किया है—

क—अभिधावादी

१. मीमांसक

(i) कुमारिल भट्ट—अभिहितान्वयवादी—तात्पर्यवादी

(ii) प्रभाकर भट्ट—अन्विताभिधावादी—अभिधावादी

(iii) भट्ट लोल्लट—दीर्घ दीर्घतर अभिधाव्यापारवादी

(iv) मुकुल भट्ट—अभिधावृत्तिमातृकावादी

(v) निमित्त, नैमितिकानुसार अभिधा से व्यंजना मानने वाले

ख—साहित्यिकों की अभिधा में व्यंजना का अन्तर्भाव

(i) कुन्तक—वक्रोक्ति

ग—वेदान्ती मत—अखण्डतावादी

घ—वैयाकरण मत

ङ—नैयायिक मत—महिम भट्ट का अनुमान
स्मृति की प्रक्रिया

च—धनञ्जय और धनिक का मत—

और अन्ततोगत्वा ध्वनि सिद्धान्त की जड़ इतनी मजबूत कर दी गई है कि कोई भी विरोधी पक्ष तदुपरान्त इसके विरोध का साहस नहीं कर सका। इस सम्प्रदाय की सबसे बड़ी विजय यही है कि यह प्रमुख सिद्धान्त सिद्ध हुआ और अन्य सम्प्रदाय इसके अंग रूप में मान्य हुए

ग्रन्थों एवं लेखकों की सूची

१ अग्नि पुराण
२. अभिनव गुप्त
३. अभिनव भारती
४. आनन्द-वर्धन
५. उपनिषद्
६. उदयन
७. उद्भट
८. उद्योत-टीका
९. काव्य-प्रकाश
१०. काव्यादर्श (दण्डी)
११. काव्यादर्श-संकेत टीका (सोमेश्वर)
१२. काव्यसुशासन (हेमचन्द्र)
१३. काव्यालंकार (रुद्रट)
१४. कालिदास
१५. कुमारिल भट्ट
१६. कुवलयानन्द (अप्पय दीक्षित)
१७. कुन्तक
१८. कोण्ड भट्ट (शक्तिवाद के टीका-कार)
१९. कृष्ण भट्ट (शक्तिवाद के टीका-कार)
२०. गदाधर (शक्तिवाद)
२१. गौतम (न्याय सूत्र)
२२. गंगानाथ झा
२३. चन्दोरकर
२४. आचार्य जगन्नाथ (रस-गंगाधर)
२५. जयदेव
२६. जयन्त
२७. जैमिनीय सूत्र भाष्य (शबर स्वामी)
२८. तर्क भाषा
२९. तंत्र-वार्तिक
३०. दण्डी
३१. दिनकरीस
३२. धनञ्जय (दश रूपक)
३३. धनिक (अवलोक टीका)
३४. ध्वन्यालोक
३५. ध्वन्यालोक-लोचन
३६. नागेश (रस-गंगाधर के टीकाकार)
३७. नागेश भट्ट (परम लघु-मंजूषा)
३८. नैयायिक
३९. नव्य-नैयायिक
४०. न्यायरत्नमाला
४१. नाट्य शास्त्र
४२. पतंजलि
४३. प्रभाकर भट्ट
४४. प्रदीप टीका नागोजी भट्ट
४५. पाणिनी
४६. पार्थसारथि-मिश्र (न्याय रत्न माला)
४७. परम लघु मंजूशा
४८. भट्टोजि दीक्षित
४९. भरत
५०. भट्ट नायक

५१. महोदभट्ट
५२. आचार्य भर्तृ मिश्र
५३. भामह
५४. भोजराज
५५. मम्मट
५६. मँखक
५७. मण्डन-मिश्र
५८. आचार्य मङ्गल
५९. मनोरथ कवि
६०. मधु सूदनी-विवृत्ति (व्यक्ति विवेक टीका)
६१. महिम भट्ट (व्यक्ति-विवेक)
६२. मयूर कवि
६३. माघ
६४. माधवी टीका (शक्तिवाद की)
६५. मुकुल भट्ट (अभिधावृत्ति मातृका)
६६. मीमांसा-सूत्र
६७. मीमांसा
६८. माणिक्यचन्द्र (संकेत टीका)
६९. यास्क (निरुक्त)
७०. रत्नेश्वर
७१. रस-गंगाधर
७२. राजशेखर
७३. राजानक रुय्यक
७४. रुद्रकोश
७५. रुद्रट (काव्यालकार)
७६. भट्ट लोल्लट
७७. वक्रोक्तिजीवित
७८. वाग्भट्ट
७९. वाग्भट्ट (द्वितीय)
८०. वाक्य पदीय
८१. वात्स्यायन
८२. वामन (काव्यालंकार (सूत्र-वृत्ति)
८३. वामनाचार्य झलकीकर
८४. विवेकख्याति (प्रभाकर)
८५. वैशेषिक दर्शन
८६. वेलरकर
८७. वैयाकरण सिद्धान्त मञ्जूषा
८८. आचार्य विश्वेश्वर
८९. आचार्य विश्वनाथ
९०. विद्यानाथ (प्रताप रुद्रीय)
९१. वृत्ति-वार्तिक
९२. वेदान्त दर्शन
९३. शंकुक
९४. शक्तिवाद
९५. शबर स्वामी
९६. शब्द-व्यापार
९७. श्लोक-वार्तिक (कुमारिल)
९८. श्रीकर
९९. संकेत-टीका
१००. डा० सत्यव्रत सिंह
१०१. सम्प्रदाय प्रकाशिनी टीका
१०२. सरस्वती कण्ठाभरण
१०३. साहित्य-चूडामणि
१०४. साहित्य-दर्पण
१०५. सिद्धान्त मुक्तावली
१०६. सालिकनाथ (ऋजु-विमला टीका)
१०७ डा० हरिदत्त
१०८. क्षेमेन्द्र
१०९. ड्राइडेन
११०. बेन जानसन
१११. पीटर्सन ९
११२. भोला शंकर व्यास